महाभारत में
ककल्याण की
जकीय योजनायें

डॉ. कामेश्वरनाथ मिश्र

भारत-मनीषा प्राच्य-विद्या ग्रन्थमाला—१

Bharata Manisha Prachya Vidya Granthamala–1

प्रधान सम्पादक :

पण्डित यादव दास भट्टाचार्य

General Editor :

Pt. Yadava Das Bhattacharya

MAHĀBHĀRATA MEN LOKAKALYĀṆA KĪ RĀJAKĪYA YOJANĀYEN

(State-Sponsered Public Welfare Plans in the Mahabharata)

BY

Dr. KAMESHWAR NATH MISHRA, M. A., Ph. D.

Sahityacharya

BHARATA MANISHA

VARANASI 1972 INDIA

महाभारत में लोककल्याण की राजकीय योजनाएँ
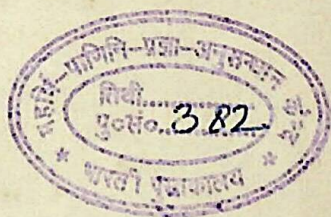
डॉ० कामेश्वरनाथ मिश्र, एम० ए०, पीएच० डी०
साहित्याचार्य

भा र त - म नी षा

वाराणसी भारत

१९७२

Published by

BHARATA MANISHA

AMRUMAL KATRA : D 47/293 Godowlia

VARANASI : INDIA

First Edition : 1972

Price 20·00

Published by J. D. Bhattacharya tor Bharata Manisha, Varanasi and Printed by Rajesh Sharma in Swastik Mudranalaya, Golghar, Varanasi.

समर्पित है

डॉ० श्रीमती वनमाला भवालकर, एम० ए०, पीएच्० डी०

रीडर, संस्कृतविभाग, सागर विश्वविद्यालय

के कर कमलों में

जिनके साशीष निर्देशन में शोधकार्य

सम्पन्न हो सका।

प्रधान सम्पादक का निवेदन

भारतीय ज्ञान एवं आदर्शों का महान् भण्डार तथा भारतीय प्राचीन संस्कृति के विकास का क्रमवद्ध इतिहास महाभारत एक ऐसा विशाल समुद्र हैं जिसके मन्थन से अगणित अमूल्य रत्न प्राप्त होते हैं। वस्तुतः मानवजीवन का ऐसा पक्ष नहीं है जिस पर महाभारत ने प्रकाश न डाला हो। यही कारण है कि हजारों वर्ष पहले रचित यह ग्रन्थ आज भी विद्वत्समाज से लेकर अशिक्षित जनता तक, मोक्षार्थी संन्यासी से लेकर द्रव्यार्थी वणिक् तक, समान रूप से समादृत है। महाभारत ने एक सर्वांगपूर्ण महान् जीवन प्रवाह को अपने में धारण कर इस अमरत्व को प्राप्त किया हैं जो संसार में अद्वितीय है।

कुछ आधुनिक विद्वानों की मान्यता हैं प्राचीन भारत में केवल मोक्ष ही उपादेय था, अतः मोक्षसाधक दर्शनादि ग्रन्थों का ही निर्माण होता रहा एवं जीवन के लौकिक पक्ष की सर्वथा उपेक्षा की जाती थी। इस दृढ़मूल भ्रान्ति के कारण ही आज आर्थिक तथा अन्यविध प्रगति के लिए हमें केवल विदेशों की ओर देखना पड़ रहा है। परन्तु यह भूलना नहीं चाहिए कि भारतीय संस्कृति में जीवन के लौकिक पक्ष की कभी अवहेलना नहीं की गई एवं धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष— इन चारों को ही यथास्थान उपयुक्त महत्त्व दिया गया था। इस संस्कृति में लोक एवं परलोक एक दूसरे के पूरक माने गए हैं और दोनों की ही युगपत् प्रगति पर वल दिया गया हैं। भारतीय संस्कृति का यह व्यापक रूप महाभारत में जितनी स्पष्टता के साथ दृष्टिगोचर होता है वैसा अन्यत्र नहीं।

वर्तमान समाजतान्त्रिक तथा लोकतान्त्रिक युग में लोक-कल्याण की चर्चा सर्वत्र हो रही है और लोककल्याण के लिए राजकीय प्रचेष्टा अत्यावश्यक समझी जा रही है। अपने तथा इतर देशों में लोककल्याण के लिए राजकीय योजनाएँ बनायी जा रही हैं। ऐसी स्थिति में प्राचीन भारत में लोककल्याण की क्या व्यवस्था थी एवं उसमें राजव्यवस्था का क्या योगदान था ऐसी जिज्ञासा स्वाभाविक है। इसी जिज्ञासा के परिप्रेक्ष्य में डॉ० कामेश्वरनाथ मिश्र जी का महाभारत पर यह शोध कार्य अत्यन्त समयोपयोगी सिद्ध होगा। विद्वान् लेखक महोदय ने अथक परिश्रम कर समग्र महाभारत से लोक कल्याण मूलक राजकीय योजनाओं का अध्ययन किया एवं सुललित भाषा में उनका वर्णन किया। यह केवल इतिहास अर्थात् घटनाओं तथा मान्यताओं का वर्णन ही नहीं; अपितु प्रस्तुत निवन्ध, भारतीय राजतन्त्र तथा समाजतन्त्र की एक नवीन दृष्टि से की हुई व्याख्या भी है। और यहीं इस विषय का महत्त्व निहित है।

इस समयोपयोगी शोधकार्य को विद्वत्समाज के सम्मुख प्रस्तुत करते हुए हमें अपार हर्ष है। आशा है कि गुणग्राही विद्वद्वर्ग इसका समुचित स्वागत करेगा। इति।

विदुषां वशंवदः
यादवदास भट्टाचार्य

वाराणसी
वासन्ती पञ्चमी
वि० सं० २०२८

अध्यायानुक्रमणी

———

शुद्धिपत्र

पृ०	पंक्ति ऊपर से	अशुद्धरूप	शुद्धरूप
१०	१६	धर्मे चार्थे च मोक्षे	धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे
३०	१	निर्वयनादि	निर्वपनादि
४४	२१	विचरनु	विचल्नु
५०	२२	दण्डयमय	दण्डभय
५९	६	विरुद्ध	विरुद
६७	४	रत्नम्	रत्निन्
८०	१९	दशय, विंशतिय, शतय	दशप, विंशतिप, शतप
८३	३०	उत्पादन	उत्पाटन
८९	२८	ऐम्यो	ऐभ्यों
९३	२१	अनुभूति	अनुमति
११३	२१	जलस्थानों	जनस्थानों
१२८	६	विचरनु	विचल्नु
१४६	१०	काम न मिलने	काम मिलने
१८८	३०	रेंग	रंग
१९५	२३	सौरव	सौख
१९६	६	सुरभिरेय	सुरामैरेय

———

प्रस्तावना

महाभारत भारतीय ज्ञान का 'विश्वकोश' है। इसमें अतीत का महान् भारत भरा पड़ा है। इसके पृष्ठों को उलटते ही प्राचीन भारतीय समाज, धर्म, दर्शन, विश्वास, परम्परा तथा धारणाओं का चित्र समक्ष उपस्थित हो जाता है। अतिपूर्व से प्रचलित भारतीय संस्कृति तथा सभ्यता ने एक दीर्घकालीन अवधि में जितनी करवटें ली हैं, उनका जिन आयामों में विस्तार हुआ है उन सबका अधिकतम समावेश महाभारत में हुआ है। दीर्घकालीन अनुभूतियों का चित्रण होने से जीवन का शायद ही कोई अंग अछूता रह गया हो। इसी से इस महाग्रन्थ के अध्येताओं ने यह उक्ति प्रचलित की कि 'यन्न भारते तन्न भारते'। इसके रचयिता को भी ग्रन्थ के विषयवैविध्य पर पूर्ण विश्वास था, अतएव उनकी घोषणा थी कि—

धर्मे ह्यर्थे कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्॥

प्रो० बार्नेट ने प्राचीन भारत की आत्मा तथा संस्कृति के जिज्ञासुओं के लिए महाभारत का अध्ययन अपरिहार्य माना है।[1]

महाभारत का कलेवर अतिविशाल है। मैकडॉनेल सदृश विद्वानों के आकलन के अनुसार इस रूप में महाभारत ग्रीक के 'इलियड' और 'ओडेसी' दोनों काव्यों को मिलाकर आकार में उनके आठ गुने के बराबर है और इस प्रकार वह संसार का सबसे बड़ा काव्य है।[2] इस ग्रन्थ का रचयिता स्वयं भी इसकी महत्ता तथा भारवत्ता से परिचित था। इन दोनों गुणों के कारण इस ग्रन्थ के 'महाभारत' नाम की अद्भुत व्याख्या भी प्रस्तुत की गई है।[3] इस ग्रन्थ की सम्भावित विशालता तथा विषयाधिक्य को स्मरण करके ही व्यास जी को इसके लिए लेखक की चिन्ता करनी पड़ी होगी और अन्ततः गणेश सदृश देवता को पाकर सन्तोष किया था। उस पर भी लिखने में तीन वर्ष लगे।[4]

---

१. "........the study of the Mahabharata is indispensable for those who would learn to understand the spirit and culture of Ancient India." The Mahabharata : Analysis and Index, p. ix.

२. डा० शकुन्तला रानी तिवारी : महाभारत में धर्म, पृ० ३४।

३. महत्त्वाद् भारवत्त्वाच्च महाभारतमुच्यते। महाभा १।१।२७३।

४. महाभा १८।५।४८।

विश्व के इस विशालतम ग्रन्थ का नाम 'महाभारत' तथा रचयिता का नाम पाराशर्य कृष्ण द्वैपायन व्यास (सामान्य रूप से व्यास) माना जाता है, किन्तु आज प्राच्य तथा पाश्चात्त्य दोनों ओर के विद्वानों में इन दोनो विषयों को लेकर मतभेद ही नहीं, अपितु विवाद भी है। कुछ विद्वानों के मतानुसार यह महाग्रन्थ 'जय' तथा 'भारत' इन दो विकासक्रमों को पार करके 'महाभारत' के रूप में आया और आज इसका जो रूप मिल रहा है उसको अन्तिम रूप कई सौ वर्षों के बीच में मिला। महाभारत में भी जय, भारत तथा महाभारत इन तीनों को ग्रन्थ के नाम के रूप में ग्रहण किया गया है और सबका लक्ष्य एक ही विषय की ओर है। 'भारत' तथा 'महाभारत' की श्लोक संख्याएँ भी वहीं उल्लिखित हैं, जबकि 'जय' की श्लोक संख्या एक दूसरे सन्दर्भ से ग्रहण की जाती है। कुछ विद्वानों के अनुसार महाभारत में उपनिबद्ध गाथाएँ पहले वीरगाथाओं के रूप में प्रचलित थीं। बाद में उनमें कुछ और जोड़कर एक रूप दिया गया। यही ग्रन्थ का आदिरूप था।[1] डा० शकुन्तला रानी के शब्दों में "महाभारत के अन्तःसाक्ष्य से ही विदित होता है कि पहले व्यास ने अपने शिष्य वैशम्पायन को महाभारत सुनाया। वैशम्पायन ने जनमेजय के नागयज्ञ के अवसर पर महाभारत सुनाया। वैशम्पायन से महाभारत सुनकर उग्रश्रवा सौति ने उसे नैमिपारण्य में शौनक ऋषि के द्वादशवर्षीय सत्र में सुनाया। इन तीन आरम्भों से पश्चिमी विद्वान् इन तीन रचयिताओं के द्वारा महाभारत के तीन संस्करणों की कल्पना करते हैं। महाभारत में मिलने वाले महाभारत की श्लोक संख्या के विभिन्न संकेतों से वे इस मत की पुष्टि करते हैं।"[2]

'जय' ग्रन्थ का नाम महाभारत में प्रमुखरूप से प्रारम्भ में मङ्गलाचरण[3] में ही दिया गया है, तथा अन्यत्र[4] भी उल्लेख हैं। कौरवों पर पाण्डवों की विजय वर्णित होने से ही सम्भवतः उसका नाम 'जय' रखा गया। इस ग्रन्थ की श्लोक संख्या ८८०० (आठ हजार आठ सौ) मानी जाती है, यद्यपि यह संख्या महाभारत के कूटछन्दों की कही गई है—

अष्टौ श्लोकसहस्राणि अष्टौ श्लोकशतानि च।
अहं वेद्मि शुको वेत्ति संजयो वेत्ति वा न वा॥

---

1. Winternitz : A History of Indian Literature, Vol. I, pp. 317-221. 2. महाभारत में धर्म, पृ० ७४।
3. नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्। देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत्॥ मङ्गलश्लोक।
4. 'जय' नामेतिहासोऽयम्। पं० बलदेव उपाध्याय : सं० सा० का इतिहास, पृ० ९३ पादटिप्पणी।

'भारत' की श्लोकसंख्या चौबीस हजार कही गई है। इसको शुद्ध ग्रन्थ की संज्ञा मिली थी क्योंकि इसमें उपाख्यानों का समावेश नहीं हुआ था।[1] 'भारत' तथा 'महाभारत' इन दो रूपों के पृथक् अस्तित्व की सूचना 'आश्वलायन गृह्यसूत्र' के एक सूत्र से मिलती है, जिसमें 'भारत' तथा 'महाभारत' के धर्माचार्यों का उल्लेख है।[2]

उक्त दोनों ग्रन्थों का अन्तिम परिष्कृत रूप 'महाभारत' है। इसको 'शत-साहस्री' महाभारत संहिता कहा जाता है जिससे इसमें एक लाख श्लोक होने की कल्पना की जाती है। कृष्णद्वैपायन मुनि द्वारा इसी 'महाभारत' को तीन वर्षों में लिखने की चर्चा की गई है। इसमें 'भारत' की अपेक्षा अधिक से अधिक आख्यानों तथा उपाख्यानों का समावेश हुआ था।[3]

अन्तिम रूप वाले महाभारत के दो प्रकार उत्तरी तथा दक्षिणी संस्करणों के दो रूपों में मिलते हैं। इनका भिन्न-भिन्न स्थानों से प्रकाशन हुआ है। कलेवर बहुत बड़ा होने से इस ग्रन्थ का प्रकाशन उतने अधिक स्थानों से नहीं हो सका, जितना महत्त्व की दृष्टि से होना था। नीलकण्ठ चतुर्धर (चौधरी) की टीका 'भारत भावदीप' जिसे नीलकण्ठी भी कहते हैं, के साथ श्री आर० किञ्जवाडेकर ने चित्रशाला प्रेस, पूना से महाभारत को प्रकाशित कराया था। इसे 'बम्बई संस्करण' के नाम से जाना जाता है। 'कलकत्ता संस्करण' का सम्पादन श्री एन० शिरोमणि आदि ने कलकत्ता से प्रकाशित कराया था। श्री टी० आर० कृष्णमाचार्य तथा श्री टी० आर० व्यासाचार्य ने बम्बई से ही 'कुम्भ-कोणम्' संस्करण का प्रकाशन कराया था। श्री पी० पी० एस० शास्त्री के द्वारा मद्रास से दक्षिणी संस्करण भी प्रकाशित कराया गया था। डा० सुकथनकर के नेतृत्व में उक्त सभी संस्करणों का एक संशोधित आलोचनात्मक संस्करण (Critical Edition) पूना से प्रकाशित किया जाने लगा था, जो अभी कुछ वर्ष पूर्व ही सपन्न हुआ है। गीताप्रेस, गोरखपुर से विभिन्न रूपों में तथा कई खण्डों में महाभारत प्रकाशित किया गया है। इसमें उत्तरी तथा दक्षिणी दोनों संस्करणों के श्लोकों को एक साथ दे दिया गया है। इन सभी संस्करणों में अनेक तो दुर्लभ

---

१. चतुर्विंशतिसाहस्रीं चक्रे भारतसंहिताम्। उपाख्यानैर्विना तावद् भारतं प्रोच्यते बुधैः।

२. सुमन्तु जैमिनिवैशम्पायनपैलसूत्रभारतमहाभारतधर्माचार्याः। आ० गृ० सू० ३।४।४।

३. त्रिभिर्वर्षैः सदोत्थायी कृष्णद्वैपायनो मुनिः। महाभारतमाख्यानं कृतवा-निदमुत्तमम्॥ महाभा १।५६।३२।

हैं और प्रायः सभी महार्घ हैं। गीताप्रेस का संस्करण अवश्य सुलभ तथा सबसे कम मूल्य का है।

महाभारत अपने वर्तमान रूप में कब आया, यह तथ्य भी कम विवाद का विषय नहीं। हॉपकिन्स महोदय बाह्य साक्ष्यों के आधार पर सिद्ध करते हैं कि महाभारत को अन्तिम रूप ४०० ई० तक मिल चुका था।[१] डा० का० प्र० जायसवाल अन्तिम सीमा ५०० ई० स्वीकार करते हैं।[२] श्री सी० वी० वैद्य जी के मतानुसार महाभारत का मूलरूप ३५०-३२० ई० पूर्व में सम्पन्न हो चुका था और वही वर्तमान रूप है।[3] विण्टरनित्स् महोदय ई० पूर्व चौथी शताब्दी से लेकर ईसा की चौथी शताब्दी के बीच में महाभारत के वर्तमान रूप की रचना को मानते हैं।[४] इसी प्रकार होल्त्समान आदि विद्वानों का मत है कि महाभारत को वर्तमान रूप ईसा की नवीं या दसवीं शताब्दी में मिला।[५] मैकडॉनेल महोदय ने यह प्रतिपादित किया है कि ईसा की पाँचवीं शताब्दी के कई दानपत्रों में रचयिता व्यास तथा एकलक्षश्लोकात्मक महाभारत का उल्लेख किया गया है, अतः ग्रन्थ को वर्तमान रूप उसके पूर्व ही अवश्य मिला होगा।[६] यद्यपि विद्वानों में मतान्तर है किन्तु सामान्य रूप से इसका समय ४०० ई० पूर्व से ४०० ई० तक स्वीकार किया जा सकता है।

जिस प्रकार से ग्रन्थ के आकार तथा समय के विषय में मतान्तर हैं उसी प्रकार रचयिता भी विवाद में पड़ गया है। जय, भारत तथा महाभारत इन तीन रूपों को स्वीकार करने पर तीन रचयिता भी सिद्ध होते हैं। यदि व्यास को आदि रचयिता माना जाये तो शेष दो—वैशम्पायन तथा सूत—को संस्कर्ता माना जा सकता है। किन्तु समस्या का समाधान यहीं नहीं हो जाता। व्यास की ही ऐतिहासिकता तथा स्वरूपता भी सन्दिग्ध है। व्यास पराशर के पुत्र थे। काले होने से कृष्ण, द्वीप में पैदा होने से द्वैपायन, बदरिकाश्रम में प्रधानतः तपस्या करने से बादरायण तथा वेदों का विभाजन करने से व्यास कहलाये। इनके नाम से वृहदाकार पुराण, उपपुराण, स्मृतियाँ, सूत्र तथा भाष्य भी प्रख्यात हैं। अतः सबका रचयिता व्यास कैसा रहा होगा? इसी पर आश्चर्य प्रकट किया जाता है अकेले महाभारत की ही रचना एक व्यक्ति द्वारा की गई थी, यही सन्दिग्ध है। प्रायः विद्वत्समाज 'व्यास' एक पदवी मानता है। हॉपकिन्स महोदय संस्कर्ता

---

१. Cambridge History of India, Vol. I, p. 258.
२. हिन्दू राजतन्त्र, पृ० ६। ३. महाभारत मीमांसा, पृ० ३०७।
४. A Hist. of Ind. Lit., Vol. I, pp. 465-75.
५. Macdonell : A Hist. of Skt. Lit., p. 289. ६. वही।

समूह तथा कथावाचक को ही व्यास मान बैठे।[1] डा० रा० शं० त्रिपाठी भाषा, शैली तथा विषयों में विभिन्नता देखकर इसे एक मस्तिष्क तथा एक समय की उपज नहीं मानते। वह इसको विभिन्न समयों में ब्राह्मणों द्वारा जोड़े गये विपुल देवशास्त्र, दर्शन, धर्म तथा नीति के विषयों से परिवर्धित मानते हैं।[2] रैंपसन महोदय तो इस विषय को पूर्ण उपहासास्पद भी मानते हैं कि महाभारत एक व्यक्ति की रचना है। वह इसकी रचना न तो एक व्यक्ति से मानते हैं और न एक पीढ़ी से अपितु अनेकों से।[3] म० म० पण्डित गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी यह तो मानते हैं कि "व्यास या वेदव्यास व्यक्तिविशेष का नाम नहीं, वह एक पदवी है अथवा अधिकार का नाम है। जब जो ऋषिमुनि वेद-संहिता का विभाजन या पुराण का संक्षेप कर ले वही उस समय व्यास या वेदव्यास कहा जाता है।"

---

१. "But this Vyas is very shadowy person. In fact this name probably covers a guild of revisors and retellers of the late." India : Old and New, p. 79.

२. 'According to orthrodox tradition, Dvaipayana Vyasa, was the author of this stupendous work, but the essential lack of uniformity in its language, style and contents clearly indicates that it is not the production of one brain or of one period. It is a gradual growth from an epic Kernel, which was in course of time thoroughly remodelled, extended and enriched by Brahmanas with an enormous amount of mythological, philosophical, religious and didactic matter.' History of Ancient India, pp. 65-66.

३. "On the other hand, the theory that the Mahabharata is a work of the fifth or sixth century B.C. and the product of one author who composed it as a law book, is a caricature of a fruitful idea of the late Prof. Buhler. As it violates every known principle of historical criticism, it may be passed over without discussion the epic was composed not by one person nor even by one generation, but by several; it is primarily the story of an historic incident told by the glorifier of kings, the domestic priest and the bard, who are often one.—Cambridge History of India, Vol. I, p. 233.

साथ ही उनको ही पुराणों का भी रचयिता स्वीकार करते हैं।[1] रचयिता के विषय में हम इतने से ही सन्तोष कर सकते हैं कि महाभारत कितने भी रचना-क्रमों में संशोधित और परिवर्धित हुआ हो, उसके आदि रचनाकार पाराशर व्यास थे।

इस महाभारत का प्रतिपाद्य प्रधान विषय कौरवों पर पाण्डवों की विजय है। रैपसन महोदय ने वेवर साहब का यह मत अस्वीकार कर दिया है कि महाभारत पाण्डवों तथा कौरवों का युद्धवृत्त न होकर कुरुओं तथा पाञ्चालों का युद्ध-वर्णन है।[2] डा० आर० एस० त्रिपाठी रामायण तथा महाभारत दोनों को ही प्रचलित जनगाथा तथा चारणप्रशस्तियों का क्रमवद्ध विन्यास मानते हैं जिनमें प्राचीन वीरों तथा वीराङ्गनाओं के युद्ध तथा प्रेम की सफलताओं तथा विफलताओं का चित्रण किया गया है।[3] होल्त्समान का कहना है कि "मूल महाभारत कौरवों की प्रशंसा का काव्य था किन्तु वाद में उसे पाण्डवों के अनुकूल वनाने का प्रयत्न किया गया।"[4] दाल्हमान महाभारत को इतिहास नहीं मानते वरन् भारतीय धर्मशास्त्र का एक प्रतीक मानते हैं।....महाभारत-युद्ध ऐतिहासिक नहीं वरन् धर्म और अधर्म के युद्ध का प्रतीक है। लुडविग, लासेन आदि के साथ प्रो० थडानी ने महाभारत की प्रतीकात्मक व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं।[5] बहुत से पाश्चात्त्य विद्वान् महाभारत के धार्मिक तथा नीतिपूर्ण अंशों को प्रक्षेप मानते हैं और उनको अवान्तर तत्त्व मानते हैं किन्तु डा० सुकथनकर ने इन अंशों को मूल लक्ष्य के अनुकूल माना है और इनको ग्रन्थ का अभिन्न अंग माना है।[6] रैपसन महोदय

---

१. कृष्णकुमार शास्त्री : संस्कृत सा० का इति०, पृ० १२७।

२. "The idea that the original epic was a poem commemorating a war between Panchalas and Kurus, which was ably developed by Lassen and adopted with modification by Weber, is as ingenious attempt to account for what is assumed to have existed. As a matter of fact a Mahabharata without Pandus is like an Illiad without Achilles and Agamemnon; we know of no such poem." *Ibid.*, pp. 225-26.

३. History of Ancient India, p. 62.

४. महाभारत में धर्म, पृ० ६८।

५. वही पृ० ६९-७०।

६. On the Meaning of Mahabharata, p. 66.

भी महाभारत के विविध अंशों को मूल का ही अंग मानते हैं।[1] महाभारत का मूल्यांकन उसके वर्तमान प्रामाणिक स्वरूप से ही करना उचित होगा। कौरव तथा पाण्डव राजवंश के थे। उन्होंने राजा, क्षत्रिय तथा मानव के रूप में अन्ताराष्ट्रीय, राष्ट्रीय, सामाजिक, पारिवारिक तथा व्यक्तिगत जीवन में अनेक अनुकूल तथा प्रतिकूल परिस्थितियों का अनुभव किया। यद्यपि उनका युद्ध ही प्रधान प्रतिपाद्य है तथापि उक्त सन्दर्भों का भी समावेश होने से इस ग्रन्थ का रूप अप्रतिम हो गया है। सभी लोगों ने इसमें निहित ज्ञान राशि की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है।

इस ग्रन्थ के सामान्य विवेचन से लेकर साहित्यिक महत्त्व तक का आकलन विभिन्न विद्वानों ने किया है। डा० सुकथनकर, डा० वेलवेलकर, डा० भण्डारकर, डा० सी० वी० वैद्य, डा० पी० एल० वैद्य आदि भारतीय विद्वानों द्वारा लिखी गयी प्रचुर सामग्री इस महाग्रन्थ पर उपलब्ध होती है। इसका साहित्यिक महत्त्व इसी तथ्य से सिद्ध हो जाता है कि इसमें सन्निविष्ट विभिन्न उपाख्यानों तथा लघुकथाओं को उपजीव्य मानकर वहुसंख्यक महाकाव्य, नाटक, चम्पू तथा गद्यकाव्य लिखे गये हैं। विभिन्न विदेशी विद्वानों ने भी महाभारत से सम्बद्ध विभिन्न विषयों पर अपनी लेखनी उठाई है।

महाभारत में राजनीति पर भी प्रचुर मात्रा में सामग्री उपलब्ध होती है। इसके शान्ति पर्व में राजधर्म नाम का एक वहुत बड़ा अंश इसी विषय पर है। अनुशासन पर्व में भी कई अध्याय इस विषय पर हैं। आदि पर्व में भी दो एक प्रसङ्ग पूर्णतः राजनीति से सम्बद्ध हैं। सभा पर्व में नारद युधिष्ठिर

---

१. "............in the great epic of India we have a combination of matter, partly epical, partly pedagogic, partly narrative or historical. The geneologies and the religious didactic parts are not necessarily later in date, but they are later addition to the original material. Some of the additions may be as old as the original or even older, but this does not entitle us to maintain that the epic was originally didactic, nor in this the best explanation of the heterogeneous mass which we call the epic, and which in its present form resembles such a combination as, barring dialectical differences, might be effected by combining a few books of the Illiad with Hesiod........" Cambridge Hist. of India. Vol I, p. 228.

सम्वाद (२।५१७-११३), आरण्यक पर्व में वक दाल्भ्य का युधिष्ठिर से प्रश्नानुप्रश्न (३।२७।५-२०), इसी पर्व में हनुमान की उक्ति (३।१४९।२९), मार्कण्डेय की पाण्डवों से वार्ता (३।१८१-२२१), युधिष्ठिर तथा हिरणरूप धर्मराज का वार्तालाप (३।२९७।२६-६१), उद्योग पर्व में विदुर तथा धृतराष्ट्र की वार्ता (५।३३-४१), वहीं कुन्ती का युधिष्ठिर को सन्देश (५।१३०।१३-८) शान्ति पर्व में भी प्रधान अंश के अतिरिक्त व्यास का युधिष्ठिर को उद्बोधन (१२।२५), आश्रमवासिक में धृतराष्ट्र का युधिष्ठिर से प्रश्नानुप्रश्न आदि ऐसे बृहद् प्रसङ्ग हैं जहाँ राजा, उसके कर्तव्य तथा सामान्य राजदायित्वों का ज्ञान होता है। इनमें निरूपित विषय प्रायः स्मृतियों तथा सूत्रों के राजधर्मप्रकरण से मिलते-जुलते हैं। इनके अतिरिक्त भी बहुत से अवान्तर स्थल हैं जिनसे किसी न किसी प्रकार की राजनीति का परिचय मिलता है।

प्राचीन भारतीय राज्यतन्त्र पर कलम उठाने वालों ने अपने मतों की पुष्टि के लिये महाभारत की सामग्री का प्रयोग किया है। डा० डी० आर० भण्डारकर, एन० सी० बन्द्योपाध्याय, डा० बेनी प्रसाद, आर० पी० गिरि, बी० आर० आर० दीक्षितार, टी० वी० महालिङ्गम्, एन० एन० ला, पी० सी० बसु, ए० के० सेन, विश्वनाथन, आर० सी० मजूमदार, आर० के० मुकर्जी, के० पी० जायसवाल, जे० जे० अञ्जरिया, एच० एन० सिन्हा आदि विद्वानों ने भारतीय राजतन्त्र पर अपने विचार प्रौढ़ रूप में प्रकट किये हैं। डा० अ० स० आल्तेकर तथा श्री के० वी० आर० अय्यङ्गर के ग्रन्थ काफी विख्यात हो चुके हैं। इन सब के ग्रन्थों में आवश्यकतानुसार प्रमाण शान्ति पर्व से अथवा इक्के दुक्के श्लोक ही अन्य पर्वों से लिये गये हैं। केवल डा० यू० एन० घोषाल ने अपने विशाल तथा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'ए हिस्ट्री ऑफ इन्डियन पोलिटिकल आइडियाज़' में अन्य राजनीति के ग्रन्थों के अतिरिक्त केवल महाभारत के प्रायः शान्ति पर्व से सम्बद्ध राजधर्म के विषय पर चार बड़े-बड़े अध्यायों में (१० से १३) विवेचन प्रस्तुत किया है। डा० श्यामलाल का ग्रन्थ 'भीष्म का राजधर्म' केवल राजधर्म प्रकरण पर आश्रित है।[1]

---

१. इस विषय के कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ ये हैं—

1. A History of Indian Political Ideas : U. N. Ghosal. Oxford 1966. X-XIII chapters में महाभारत के विषय में वर्णन।
2. Dr. D.R. Bhandarkar : Some Aspects of Ancient Hindu Polity.
3. N. C. Bandyopadhyaya : Development of Hindu Polity and Political Theory.

इन सब के अतिरिक्त आवश्यकता इस बात की भी प्रतीत की गई कि क्या प्राचीन काल में भी आज की भाँति राजा लोग योजनाएँ बनाते थे? उनके उद्देश्य क्या थे और वे प्रजा का कल्याण कैसे करते थे? प्रचुर सामग्री से युक्त होने के कारण महाभारत को ही आधार ग्रन्थ चुना गया। महाभारत में भी कुछ योजना सदृश वस्तु थी या नहीं इस जिज्ञासावश सागर विश्वविद्यालय की विद्वत् सभा ने मेरे शोध का विषय "महाभारत में लोककल्याण की राजकीय योजनाएँ" निर्धारित किया। प्रस्तुत ग्रन्थ उक्त विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के माध्यम

---

4. Beni Prasad : State in Ancient India, Allahabad 1928; Political Theory in Ancient India, Allahabad 1927.
5. R Pratap Giri : Problem of Indian Polity, Bombay 1935.
6. K. V. R. Aiyanger : Some Aspects of Ancient Indian Polity, Madras 1935.
7. V. R. R. Dikshitar : Hindu Administrative Institutions, Madras 1929.
8. T. V. Mahalingam : South Indian Polity, Madras 1955.
9. N. N. Law : Aspects of Ancient Indian Polity, Oxford 1921; Studies in Ancient Indian Polity, Longmans Green and Co; Law, Interstate Relation in Ancient India, Calcutta 1920.
10. P.C. Basu : Indo Aryan Polity. Pioneer Press, Lucknow.
11. A.K. Sen : Studies in Ancient Indian Political Thought, Calcutta 1926.
12. Visvanathan : International Law in Ancient India, Longmans Green & Co. 1925.
13. R C. Majumdar : Corporate Life in Ancient India, Calcutta 1922.
14. R. K. Mookerji : Local Self Govt. in Ancient India, Oxford 1920.
15. K. P. Jayaswal : Hindu Polity, Calcutta 1924.
16. J. J. Anjaria : The Nature & Grounds of Political Obligation in the Hindu State, Longmans Green & Co. 1935.
17. H. N Sinha : Sovereignty in Ancient Indian Polity, London 1938.

से पीएच्० डी० उपाधि के लिये समर्पित शोधग्रन्थ का रूप है। उक्त शोध कार्य के लिये केन्द्रीय सरकार की ओर से 'परम्परागत संस्कृत पाठशालाओं के छात्रों के लिए निर्धारित शोध वृत्ति व्यवस्था' के अन्तर्गत वृत्ति भी मिली थी।

किन्तु शोधकार्य के प्रारम्भ करने के पूर्व ही आवश्यक था दृष्टिकोण का निर्मल एवं निष्पक्ष होना। विद्वानों में दो प्रकार की धारणाएँ प्रचलित हैं— कुछ को प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में आज के नवीनतम आविष्कार और मान्यताएँ वर्तमान रूप में ही दृष्टिगोचर होती हैं अथवा उनमें विद्यमान उपाय ही आज भी समस्त समस्याओं के समाधान समझे जाते हैं। कुछ पण्डित समस्त प्राचीन वाङ्मय को प्रायः या तो 'गड़रिये का गान' समझते हैं अथवा उच्चवर्णों द्वारा दलितों के शोषण-दोहन का विधानग्रन्थ; और इस दृष्टि से उनको इनमें ऐसा कुछ भी नहीं मिलता जो समाज के लिए समान रूप से हितकर रहा हो। वस्तुतः दोनों पक्ष नितान्त एकाङ्गी हैं। जब आज की परिस्थितियाँ ही उन दिनों नहीं थीं, फिर आज के आविष्कार वर्तमान रूपों में प्राचीन ग्रन्थों में सम्भव कहाँ? उस समय लोगों के समक्ष देश और काल के अनुसार अपनी-अपनी परिस्थितियाँ थीं, अतः कल्याण की धारणा और उसके उपाय भी तत्कालोचित ही थे। जो बातें शाश्वत थीं वे आज भी अवश्य चरितार्थ हो सकती हैं। दूसरे पक्ष के भी विषय में यही कहा जा सकता है कि तत्कालीन लोगों की अपनी मान्यताएँ और धारणाएँ थीं। उनकी अपनी आवश्यकताएँ थीं और अपने ही साधन थे, जो उस समय के लिए एकमात्र उपाय थे। अतः यदि आज की सभी समस्याएँ और उनका समाधान पूरी तरह से उनमें नहीं मिलते, तो उनके प्रति दुर्भाव रखना अनुचित होगा। यदि आज उन मान्यताओं में विकार आ गये हैं, तो वे दोष हम प्रयोक्ताओं के हैं, ऋषि-कवियों के नहीं। उदाहरणार्थ आज वर्णव्यवस्था भले ही ऊँच-नीच, स्पृश्यास्पृश्य आदि के भाव जगाती हो और यज्ञ आज भले ही ढोंग, मिथ्याचार, पाखण्ड अथवा ब्राह्मणों के एकाधिकार की वस्तु समझे जाते हों, किन्तु उन दिनों ये अनेक समस्याओं को सुलझाने के साधन थे। इनकी आवश्यकता थी तत्कालीन समाज को। अतः इस ग्रन्थ में समन्वयवादी दृष्टिकोण का आश्रय लिया गया है और समस्त पूर्वाग्रहों से मुक्त होने का प्रयास किया गया है। उस समय की समस्याओं का अपना स्वरूप था, उनके समाधान के लिए जो उपाय अपनाये गये थे वे उस समय की दृष्टि से अत्यन्त हितकर थे। विभिन्न समयों में कुछ न कुछ जुड़ते रहने के कारण महाभारत में यदा कदा परस्पर विरोधी सी बातें भी मिलती हैं। किन्तु ये मात्र विरोधाभास हैं।

विषय के स्वरूप और क्षेत्र-ज्ञान के लिए प्रथम अध्याय में लोक, कल्याण और

राजकीय योजना तथा इनसे सम्बद्ध प्रवर्तकों का विवरण दिया गया है। एक राजा के लिए लोक का क्या अर्थ हो सकता है, उन दिनों कल्याण का स्वरूप क्या था, और राजकीय योजना का क्या अर्थ था, उसे पूर्ण कराने वाले कौन-कौन हो सकते थे, आदि विषयों के सप्रमाण और युक्तिसंगत निर्धारण का प्रयास किया गया है। तत्कालीन समाज, धर्म, दर्शन आदि का एक रेखाचित्र आगे के विषयों को स्पष्ट करने के लिए, पूर्वपीठिका के रूप में आवश्यक समझ कर द्वितीय अध्याय में यथासंभव अत्यन्त संक्षिप्त रूप में स्पष्ट शब्दों में प्रस्तुत किया गया है। किसी भी व्यक्ति, नेता अथवा समाज-सुधारक के कार्य या तो सामाजिक मान्यताओं के अनुमोदन होते हैं या होते हैं उनकी प्रतिक्रिया के परिणाम। अतः किसी व्यक्ति का क्या योगदान था, है अथवा होना चाहिए—इसका ज्ञान करने के लिए अपेक्षित तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक और दार्शनिक प्रवृत्तियों का वर्णन किया गया है। उस समय की राजनीतिक मान्यताओं को, प्रधान विषय होने के कारण, अवश्य अगले अध्याय में रखा गया है। तत्कालीन राजव्यवस्था में लोककल्याण के लिए स्थान था भी अथवा नहीं, इसका परिचय अत्याज्य समझ कर राजा के स्वरूप का भी एक स्पष्ट चित्र दिया गया है। लोक-रक्षा, सार्वजनिक निर्माण, अर्थ-व्यवस्था, नियोजन और लोकपोषण, शिक्षा, स्वास्थ्य, मनोरंजन आदि के क्षेत्र में आज राज्य से जिन रूपों में जो अपेक्षाएँ की जाती हैं, वे उस समय नहीं थीं। देश, काल और समाज के भेद से आवश्यकताओं और अपेक्षाओं में भी अन्तर था। अतः किसी योजना के स्वरूप विशेष को समझने के लिए उनके कारणों का यथासम्भव निर्देश अध्याय विशेष में ही आवश्यकतानुसार कर दिया गया है। उनको अच्छा या बुरा न कह कर तत्कालीन उपेक्षा के रूप में देखा गया है। उस समय की परिस्थितियों को उस समय और देश का होकर समझने की चेष्टा की गई है। अन्त में सम्पूर्ण विषय को और भी स्पष्ट करने और वर्तमान धारणाओं में अन्तर दिखाने के लिए एक विषयालोचनात्मक अध्याय जोड़ा गया है।

शोध-प्रबन्ध को लिखते समय प्रायः समस्त सुलभ सामग्री का प्रयोग, महाभारत के ही उद्धरणों की विशेष अपेक्षा होने पर भी, आवश्यकतानुसार हुआ है। इसके लिए विषय की विशदता के कारण प्राचीन भारतीय राजशास्त्र, समाजशास्त्र, भारतीय संस्कृति, अर्थशास्त्र आदि के मौलिक तथा प्रामाणिक विवेचना-ग्रन्थों का अवलोकन करना पड़ा। उनका यथास्थान उल्लेख पादटिप्पणी (फुट नोट) में है। अन्त में परिशिष्ट में केवल उन्हीं ग्रन्थों का नाम दिया गया है जिनसे प्रत्यक्ष रूप से अथवा परोक्ष रूप से सिद्धान्तों को समझने और स्पष्ट करने में विशेष सहायता मिली है। वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, सूत्र अथवा परिशिष्ट में

अनुल्लिखित ग्रन्थों के उद्धरण किसी न किसी प्रामाणिक ग्रन्थ से ही हैं। मूल-ग्रन्थों का नाम व्यर्थ में देना उचित न समझा गया। शब्दों की व्याख्या अपेक्षित होने पर जिन कोषग्रन्थों की सहायता ली गई है, उनका भी उल्लेख परिशिष्ट में है। महाभारत के समस्त उद्धरण और प्रसंग, भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट से प्रकाशित संशोधित संस्करण (क्रिटिकल एडीशन) के हैं। केवल अनुशासन पर्व शोधकार्य के समय तक प्रकाशित न होने से गीताप्रेस से प्रकाशित महाभारत से लिया गया है। अतः इस पर्व से सम्बद्ध सन्दर्भ भी वहीं के हैं। अन्त में परिशिष्ट में कुछ महत्त्वपूर्ण महाभारत के श्लोक विषयानुसार जोड़ दिये गये हैं।

भारतीय संस्कृति तथा संस्कृत के उद्भट विद्वान् डा० रामजी उपाध्याय, डी० लिट्० प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, संस्कृतविभाग, सागर विश्वविद्यालय का मैं हृदय से ऋणी हूँ जिनकी प्रेरणा, सहयोग और कृपा से ही मैं शोधकर्ता बन सका। इनकी प्रेरणा तथा कृपा के अभाव में मैं निःसन्देह शोधकार्य में तत्पर न हो पाता। मराठी तथा संस्कृत साहित्य की प्रगति हेतु साधनारत, परमविदुषी उसी विभाग की रीडर डा० श्रीमती वनमाला भवालकर एम० ए०, पीएच्० डी०, ने मुझको अत्यन्त व्यस्त रहने पर भी माता का स्नेह, गुरु का ज्ञान और निर्देशक का प्रौढ निर्देशन ही नहीं अपितु संस्कृत के मूलग्रन्थों को देखने की नवीन दृष्टि देकर आभारी बना लिया है। उस समय विभाग के अन्य प्राध्यापकों ने, विशेषकर डा० विश्वनाथ भट्टाचार्य ने, मुझ पर समय-समय पर विशिष्ट कृपाएँ की हैं। मैं सबका प्रणतिपुरःसर आभारी हूँ।

प्रस्तुत प्रबन्ध को पुस्तक के रूप में प्रकाशित कराने का सारा श्रेय विश्व की अनेक भाषाओं तथा लिपियों के प्रकाण्ड पण्डित, श्रद्धेय श्री सातकडि मुखोपाध्याय, को है। वह मेरे गुरुकल्प हैं, और न केवल इसी ग्रन्थ को अपितु मेरी समस्त कृतियों को प्रकाशन की दिशा में बढ़ाने की अहैतुकी कृपा करते ही रहते हैं। इनके प्रति साभार शिरसा प्रणति है। भारत-मनीषा प्रकाशन के प्रधान संपादक पं० यादव दास भट्टाचार्य के स्नेह तथा प्रियवर महेश कुमार की तत्परता से ही इतना शीघ्र यह ग्रन्थ इस रूप में आ रहा है। मैं इन दोनों का कृतज्ञ हूँ।

कामेश्वरनाथ मिश्र

वसन्त पञ्चमी २०२८ वि०

(शुक्र २१ जनवरी, १९७२)

प्रथम अध्याय

लोक, कल्याण और राजकीय योजना का स्वरूप

(अ) लोक—कोश में, अन्य निर्देश, महाभारत में—भूत, जंगम, मानव, प्राकृत—जन, प्रजा, अभीष्ट अर्थ ।

(आ) कल्याण—व्याख्या, कोश में, वैदिक कालीन ऐहिक भोग प्रधान धारणा, उपनिषत्कालीन अध्यात्म प्रधान धारणा, महाभारत की समन्वयवादी धारणा ।

(इ) लोक-कल्याण और उसके प्रवर्तक—ऋषि, सन्त या श्रेष्ठ, अवतार, राजा ।

(ई) राजकीय योजना की आवश्यकता, महाभारत-कालीन राजकीय योजना का स्वरूप ।

(अ) लोक का अर्थ

कोशों में—लोक शब्द अत्यन्त व्यापक है। इसकी शब्दगत निरुक्ति 'लोक्यत इति लोकः' है। अर्थात् वे समस्त पदार्थ जिनका अवलोकन सम्भव है, 'लोक' की परिधि में हैं। यहाँ अवलोकन अथवा प्रत्यक्ष चाक्षुष या ऐन्द्रिय प्रत्यक्षमात्र का नहीं अपितु समस्त पदार्थों की अनुभूति का भी व्यंजक है। अमरसिंह ने लोक के दो पर्याय 'भुवन' तथा 'जन' बतलाये हैं।[१] हलायुध ने 'विष्टप' तथा 'जगत्' की भी गणना लोक के समानार्थकों में की है।[२]

कोशों में 'लोक' के पर्यायवाची शब्दों से दो प्रकार के अर्थ प्राप्त होते हैं; प्रथमतः स्थानवाचक, द्वितीयतः स्थानीयवाचक। 'भुवन' एवं 'विष्टप' शब्द स्थानवाचक हैं, जिस पर कुछ रह सकता है उसके वाचक हैं। 'जन' प्रधानतः 'स्थानीय' का ज्ञापक है और 'जगत्' में दोनों भावों का समावेश है।

अन्य निर्देश

उपनिषदों में भी लोकसर्जन का प्रसंग आने पर द्विविध पदार्थों की सृष्टि का उल्लेख मिलता है—मारीच, मर आदि लोक जिनमें निवास किया जा सके, तथा गो, अश्व आदि प्राणिलोक जो आधेय रूप से रह सके।[3] पुराणों में

१. लोकस्तु भुवने जने। तृतीय काण्ड, नानार्थ वर्ग, २।

२. भुवनं विष्टपं लोको जगदेकार्थवाचकाः।—हलायुध १।१३३।

३. ऐत० उपनि० १।१।१-३; १।२।२-३।

निवासवाचक अनेक स्वर्ग, भू, पाताल आदि भुवनों तथा शिव, विष्णु, चन्द्र आदि लोकों का वर्णन उपलब्ध होता है।

महाभारत में

महाभारत में लोक शब्द का प्रयोग दोनों अर्थों में हुआ है। इसमें ऊर्ध्व, अधः आदि लोकों का भी उल्लेख है।

व्यापक अर्थ

'भूत' वाचक—महाभारत में अनेकशः प्रयुक्त 'सर्वभूतहिते रतः' एवं 'सर्वलोकहिते रतः' के विवेचन से 'भूत' एवं 'लोक' दोनों परस्पर पर्याय प्रतीत होते हैं। अतः अत्यन्त विस्तृत अर्थ में 'लोक' यहाँ 'भूत' का वाचक है। 'भूत' में समस्त चराचर जगत् समाविष्ट हो जाता है। दार्शनिक शब्दावली में 'भूत' अथवा 'व्यक्त' या 'भाव', 'पुरुष' एवं 'अव्यक्त' प्रकृति-तत्त्व के अतिरिक्त शेष समस्त भावों का परिचायक है। आधार अथवा आधेय रूप में स्थित पदार्थों का कोई विशेष भेद इस शब्द से नहीं ज्ञात होता। युधिष्ठिर द्वारा भीष्म से किये गये प्रश्न—

ससागरः सगगनः सशैलः सबलाहकः।
सभूमिः साग्निपवनो लोकोऽयं केन निर्मितः॥—शान्ति १७५।२।

में प्रायः चर एवं अचर सब 'लोक' शब्द से—उसके विशेषणों पर ध्यान देने से—ज्ञात हो जाते हैं। 'पिताऽसि लोकस्य चराचरस्य........' (गीता ११।४३) से भी उक्त तथ्य का बोध होता है। सर्वभूतस्वरूप योगिराज शुक का सन्देश सुनकर दिशाओं, वनों, काननों, समुद्रों, सरिताओं एवं पर्वतों ने उन्हें प्रत्युत्तर दिया था।[1] उनके साथ अजीव पदार्थ भी सजीव सा आचरण करने लगे थे। इतना ही नहीं, द्रोण के रणप्रयाण करने पर अन्तर्नाद से अचला सचला हो गई थी, अनभ्र ही शोणित-वृष्टि होने लगी थी, गृध्र, श्येन, वड, कंक, काक आदि पक्षी सेना के ऊपर मँडराने लगे थे, गोमायु के दारुण रव और उल्कापातादि का क्रम सा बँध गया था।[2] इनके अतिरिक्त शुभ मुहूर्त उपस्थित होने अथवा मंगलमय कर्मों के प्रारम्भ में समस्त जगत् का परस्पर सुन्दर सहयोग भी दृष्टिगोचर होता है। इन समस्त वर्णनों से चर एवं अचर वर्ग का परस्पर सहयोग दिखलाकर दोनों की 'भूत' शब्द से वाच्यता की प्रतीति कराई गई है।

जंगम, चेतन अथवा चर वाचक

अनेक स्थलों पर 'भूत' शब्द, जो लोक का वाचक है, चराचर समस्त पदार्थों का बोधक न होकर केवल चेतन, अर्धचेतन अथवा जंगम लोक का ही ज्ञान

---

१. शान्ति ३१९।२८। २. द्रोण ६।२३-२९।

कराता है। स्थावरों को छोड़कर पक्षी, पशु आदि तिर्यग्योनि के जीव तथा पूर्णचेतन मानव का इस अर्थ में ग्रहण होता है। ये तिर्यग्योनि के प्राणी भी मानव सा आचरण करते दृष्टिगोचर होते हैं। इन भावनाओं के आधार पर ही संभवतः परवर्ती नाटकों, महाकाव्यों, कथाओं आदि में पशु-पक्षियों का मानवीकरण हुआ होगा। जयद्रथ द्वारा द्रौपदी-हरण हो जाने के बाद युधिष्ठिर ने मृग, व्याल, विहंग आदि से सहानुभूति के शब्द सुने थे और मृगों ने उन्हें द्रौपदी के जाने की दिशा का संकेत दिया था।[१] सायंकाल पर्यन्त सतत प्रयत्न करने पर भी व्याध को शिकार न मिलने पर निराश हो वनस्पति की शरण में जाने पर, वृक्ष पर स्थित कपोत-दम्पति को उसकी क्षुधा-निवृत्ति हेतु मानव-स्वभावानुकूल आतिथ्य की चिन्ता हुई थी।[२] तिर्यग्योनि के प्राणियों का भी मानवोपम व्यवहार प्रदर्शित करके महाभारतकार ने सबको एक ही 'भूत' शब्द का वाच्य घोषित किया है। 'भूत' शब्द को इन समस्त प्राणियों का वाचक मानकर ही संभवतः कृष्ण का उपदेश था—

निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥—गीता ११।५५।

संकुचित अर्थ—मानव-वाचक

लोक का पर्याय 'भूत' अचेतन एवं अर्धचेतन सबका द्योतक होते हुए भी कुछ संकुचित अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। 'भूत' केवल मानव के वाचक के रूप में भी प्राप्त होता है। मानव-पूर्ण चेतन सर्ग में विधाता की सर्वोत्कृष्ट कृति—अपने भावों तथा विचारों को व्यक्त करने, एक आदर्श को उपस्थित करने और तदनुसार आचरण में समर्थ समझा जाता है। 'भूत' को मानव अर्थ में ही गृहीत कर, संभवतः, भूतों की अकीर्ति से वचन का उपदेश कृष्ण ने अर्जुन को दिया था—

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ॥—गीता २।३४।

इसी प्रकार लोमश भगीरथ को 'सर्वलोकस्य मनोनयननन्दनः'[३] कहते हैं। इस प्रसंग में 'मन' तथा 'नयन' से आनन्दित किया जाने वाला 'लोक' मानव की ओर संकेत करता है। आज भी हम कहते सुनते हैं कि 'लोक अमुक कार्य के लिये अनुमति नहीं देता, लोक अमुक कर्म की ओर प्रवृत्त हो रहा है' आदि। यहाँ 'लोक' मानव का तथा 'सर्वलोक' मानवजाति अथवा उसकी अधिकतम संख्या का बोधक है।

---

१. आरण्यक २५३।२-४।
२. शान्ति १४१–१४१।
३. आरण्यक १०७।१।

प्राकृत-जन

शिक्षित-वर्ग में 'लोक' का प्रयोग प्राकृत जन के लिये किया जाने लगा है जिसका दर्शन 'लोक-नृत्य' 'लोक-गीत' आदि पदों में हो सकता है। किन्तु यह विचार आज सा नवीन नहीं। कृष्ण ने भी मार्गप्रदर्शन एवं सदसद्विवेचन में सक्षम लोगों को 'श्रेष्ठ' तथा उनके द्वारा निर्दिष्ट पथ के अनुगामी 'इतर जन' को लोक के नाम से अभिहित किया था—

यद् यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥—गीता ३।२१।

और अनुवर्तक लोक को 'मनुष्याः' भी कहा था।[1] लोक-वृत्त और राज-वृत्त की पृथक्ता[2] के निर्देश से भी ज्ञात होता है कि 'लोक' सामान्य धर्माचरण करने वाला मानव वर्ग है।

प्रजा

इस प्रकार का विभिन्न सन्दर्भों में प्रयुक्त लोक शब्द एक अर्थविशेष का भी ज्ञान कराता है। अतः किसी राजा अथवा शासक के लिये उसके राज्य के शासित जन ही लोक हैं। राजा के लिए 'श्रेष्ठ' अथवा 'इतर' का कोई विशेष भेद नहीं। दोनों ही सत्कर्म में प्रवृत्त होने पर राजकीय प्रोत्साहन तथा अपकर्म करने पर दण्ड के भागी हैं। जम्बूद्वीप में राजा के रूप में विराजमान स्वयं ईश्वर द्वारा दण्डधारण कर 'सजडपण्डित' लोक की रक्षा करने का उल्लेख महाभारत में है—

गोपायति नरश्रेष्ठ प्रजाः सजडपण्डिताः ॥—भीष्म १३।३०।

दुर्योधन ने भी अपने पौरजन तथा जानपदों को लोक कहा था।[3]

अभीष्ट अर्थ

राजा से सम्बद्ध लोक-कल्याण के प्रसंग में लोक का प्रजा रूप अन्तिम अर्थ ही प्रधानतः अभीष्ट है। लोक का भुवन-वाचक अर्थ ग्रहण करने पर विषय से सीधा तथा स्पष्ट सम्बन्ध नहीं रह जाता। सामान्य 'भूत' अर्थात् समस्त चराचर 'व्यक्त' भावों का भी अर्थ ग्राह्य नहीं, क्योंकि जो जड़, चेतन अथवा अर्धचेतन सागर, शैल, पक्षी, पशु आदि हैं, वे मानव की सुख-सुविधा के उपादान अथवा निमित्तमात्र हैं। उनका रूप और उनकी मात्रा, उनके उपभोक्ता

---

१. गीता ३।२३। २. सभा ५०।१४।

३. अस्माकं तु परां पीडां चिकीर्षन्ति पुरे जनाः ॥
ते वयं राजवंशेन हीनाः सह सुतैरपि।
अवज्ञाता भविष्यामो लोकस्य जगतीपते ॥—आदि १२९।१३, १६।

मानव की इच्छा पर आधारित हैं। उनके संरक्षण तथा संवर्धन में मानव का कल्याण होने पर उनकी रक्षा एवं वृद्धि के उपायों का आविष्कार किया जाता है, अन्यथा नहीं। समस्त संसार का केन्द्रविन्दु मानव है।

किन्तु स्पष्टतया सम्पूर्ण मानव जाति भी यहाँ लोक के अर्थ में स्वीकार्य नहीं। एक राजा अपने राज्य या जनपद के निवासियों को छोड़कर अन्य देश वालों की विशेष सुख-सुविधा की ओर ध्यान नहीं दे सकता। उसके समक्ष अपने देश की जनता की ही समृद्धि और वृद्धि प्राथमिकता पायेगी। प्राचीन राजनीतिशास्त्रियों ने 'यात्रा' करना राजा का परम कर्तव्य निर्दिष्ट किया था[१] और इस अवसर पर प्रजापीड़न को एक कर्तव्य।[२] यह वात पृथक् है यदि वह अपने देशवासियों के कल्याण के अनन्तर परराष्ट्र के भी कल्याण के उपाय सोचें, अथवा स्वयं अपने देश की समृद्धि के लिये ऐसी योजनाएँ वनायें जिनका अनुकरण करके दूसरे राष्ट्र वाले भी समृद्ध हो जायें अथवा वे योजनाएँ ऐसे मानवीय तत्त्वों पर आधृत हों कि वे अपने देश के साथ ही यदि दूसरों को सुख-शान्ति न दे सकें तो अशान्तिप्रद या हानिकारक न हों।

व्यावहारिक दृष्टिकोण से, राजा की सामर्थ्य तथा कार्यक्षमता का ध्यान रख कर भी उपर्युक्त ही निष्कर्ष प्राप्त होता है। अपनी समस्त दिव्यताओं और अलौकिक शक्तियों से समन्वित होने पर भी राजा ईश्वर की भाँति विश्व चराचर जगत्, सम्पूर्ण भू-भाग अथवा केवल सम्पूर्ण मानव जाति की रक्षा तथा भरण-पोषण में समर्थ नहीं हो सकता। वह ईश्वर अथवा प्रभु अपने राज्य का ही होता है। आज तक के इतिहास में कोई मानव सम्राट् सम्पूर्ण भूतल मात्र का तो नियन्ता वन ही न सका, अन्य भुवनों की वार्ता ही क्या? राम, भरत, एवं शंतनु सदृश सार्वभौम, चक्रवर्ती तथा 'राजराजेश्वर' भी केवल हिमालय के दक्षिणवर्ती छोटे से भू-भाग के ही अधिष्ठाता रहे और उनकी ही सुख समृद्धि की व्यवस्था कर सके। आधुनिक युग की राजनीतिक प्रवृत्तियों का विवेचन करने पर भी राज्य के राजाओं अथवा शासकों की सम्पूर्ण शक्तियाँ अपने ही राष्ट्र की समृद्धि हेतु लगी हुई दृष्टिगोचर होती हैं।

जनपद की जनसंख्या तथा सीमा की वृद्धि के साथ, राजा का लोक भी वढ़ता जाता था। राजा के अधिकार में जितने अधिक जनपद या उनके निवासी मानव आते जाते थे, उतना ही वड़ा उसका लोक होता था। दो राजाओं से पृथक्-पृथक् शासित राज्य अत्यन्त निकटवर्ती अथवा परस्पर मैत्री-भाव से युक्त होने पर भी एक राजा के 'लोक' की परिधि में, जव तक दोनों

१. सभा ५।४७; शान्ति ६९।१९-२०।

२. शान्ति ६९।२२।

का शासक एक ही व्यक्ति न हो, नहीं आते थे। एक में सम्मिलित होने पर पूर्व-शासित जनपद की भाँति ही अन्यों का भी पालन-पोषण करना विजयी राजा का कर्तव्य था।

अतः महाभारत में जहाँ कहीं भी राजा 'सर्वभूतहिते रतः' 'सर्वलोकहिते रतः' अथवा प्राणियों के 'मनोनयननन्दनः' के रूप में हमारे समक्ष आया है सर्वत्र भूत, लोक अथवा प्राणी शब्द राजाओं से सम्बद्ध देशविशेष की जनता का ही वाचक है। महाभारतकार ने भी राजा को प्रजा का ही सर्वस्व माना था—

राजा प्रजानां हृदयं गरीयो गतिः प्रतिष्ठा सुखमुत्तमं च ॥—शान्ति ६८.५९।

और राजा को "प्रजानां पालने रतः" (शान्ति ७६।२) रहने के लिये कहा था। इसके अतिरिक्त 'लोक' के अन्य अर्थ प्रसंगानुसार अभीष्ट अर्थ के साधक, भूमिका अथवा पृष्ठभूमि के रूप में ही ग्राह्य हैं, प्रधान रूप में नहीं।

(आ) कल्याण

व्याख्या—'कल्याण' शब्द की निरुक्ति 'कल्ये प्रातः अण्यते शब्द्यते इति' है।[1] निद्रा का परित्याग करते ही सम्पूर्ण दिन में सम्पाद्य कर्मों की सूची सी उपस्थित हो जाती है और तदनुसार दिनचर्या का विधान होता है। अतः पूर्व कल्पना की जाती है कि प्रातःकाल मनुष्य के मुख से वे ही शब्द निकलते होंगे जो उसके अभीष्ट-साधक होंगे। सामान्यतः यह अभीष्ट ही व्यक्तिगत कल्याण का संक्षिप्त रूप है। अभीष्ट पदार्थ ही व्यक्ति को कल्याणकर प्रतीत होते हैं, वे ऐहिक या पारलौकिक भोगों से सम्बद्ध हों अथवा मोक्ष से।

कोषगत अर्थ—अमरकोप में 'कल्याण' के समानार्थक अनेक शब्दों की गणना की गई है।[2] इनसे ऐन्द्रिक सुख, लाभ, उत्कर्ष, अलब्धलाभ, श्रेयस् आदि अर्थ प्रकट होते हैं। आप्टे महोदय ने 'कल्याण' पद को अंग्रेजी शब्द 'वेलफेयर' (welfare) का पर्याय माना है।[3] इन समस्त पर्यायों से कल्याण शब्द का इतिहास ज्ञात होता है, अर्थ नहीं क्योंकि अर्थपरिवर्तन, अर्थसंकोच तथा अर्थविस्तार की प्रवृत्तियों के प्रयोग सर्वदा प्रवाह में विद्यमान रहने से देशविशेष तथा कालविशेष में किसी शब्द का एक विशेष अर्थ हुआ करता है। एक शब्द से हम एक स्थान पर जो अर्थ आज समझते हैं, संभवतः न भूत में अन्यत्र वैसा समझा गया होगा और न भविष्य में समझा जायेगा। कल्याण का रूप देश-देश तथा काल-काल में प्रतिव्यक्ति की धारणा के साथ भिन्न-भिन्न हुआ करता है।

१. हलायुध कोश, पृष्ठ २१३।
२. अमरकोष : प्रथम काण्ड, कालवर्ग २५।
३. V.S. Apte : The Students, English Sanskrit Dictionary देखिए Welfare.

वैदिक कालीन ऐहिक भोग-प्रधान धारणा—वैदिक काल आर्यों के भारत में आने, यत्र-तत्र स्थित होने, आदिवासियों से संघर्ष अथवा मैत्री-भाव स्थापित करने का समय था। दोनों पक्षों को भौतिक सुख एवं मानसिक शान्ति की आवश्यकता थी। अतः इस समय यही दो भाव परम कल्याण अथवा अभीष्ट के रूप में स्वीकृत हुए होंगे। ऋग्वेद में इन्द्र एवं अग्नि को प्रधानता सम्भवतः इसी हेतु मिली क्योंकि ये दोनों देव पराक्रमी, शत्रुसंहारक एवं अभीष्ट-प्रद थे। इन्द्र के दस्यु, दास आदि के हनन[१] कर्म तथा अश्व, गो, ग्राम, रथ आदि वैभव के स्वामित्व[२] का वर्णन अनेक सूक्तों में मिलता है।

ऋग्वेद के अधिकांश भागों में लगभग समस्त देवताओं से रक्षा, शत्रुविनाश, एवं विभूति की कामना की गई थी।[३] द्विजों की प्रेरक एवं पावनी वेदमाता से भी प्रार्थना की गई थी कि वह आयु, प्राण, प्रजा, पशु, कीर्ति, द्रविण आदि प्रदान करे।[४]

उस काल के लोगों ने प्रधानतः ऐहिक सुख भोगों में ही अपना कल्याण निहित समझा था। पार्जिटर, ए० डी० पुसालकर, मैकडोनेल आदि विद्वानों का मत है कि वैदिक कालीन जीवन आशावादी था। उनका जीवन उमंग से आप्लावित था और वे परलोक एवं पुनर्जन्म की व्यर्थ की चिन्ताओं में पड़ना नहीं चाहते थे।[५] डॉ० वेनीप्रसाद के मतानुसार भी "जीवन का जैसा उभाड़ यहाँ है, वैसा किसी आगामी युग में नहीं मिलता।[६]" किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि वैदिक काल में—विशेषकर संहिताओं में आध्यात्मिक विचारों का सर्वथा अभाव था। वस्तुतः निखिल भुवन को आत्म-प्रभाव से आप्लावित कर देने वाली उपनिषदों की ज्ञान-गंगा की गंगोत्री संहिताओं की मन्त्रराशि ही है। अतः डॉ० आप्टे का मत अधिक बुद्धि संगत एवं समीचीन प्रतीत होता है कि यद्यपि ऋग्वेद में (१०।१२१, १२५, १२९) ऐसी ऋचायें हैं जिनमें उपनिषत्कालीन दर्शन के बीज उपलब्ध होते हैं, तथापि तत्कालीन मनुष्यों की प्रवृत्ति जीवन के ऐहिक भोगों की ओर अधिक दृष्टिगोचर होती है।[७]

ऋग्वैदिक संहिता काल से अथर्ववेदीय संहिता काल की ओर अग्रसर होने पर क्रमशः 'स्थूल' से 'सूक्ष्म' की ओर हो रही प्रवृत्ति लक्षित होती है। भौतिक

---

१. ऋग्वेद २।१२।४, १०। २. ऋग्वेद २।१२।७।

३. ऋग्वेद ७।३५।१०। ४. अथर्व० १९।७१।१।

५. Radhakrishnan & Raju : The Concept of Man, p. 211.

६. हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता, पृष्ठ ४०।

७. V.S Apte : Social and Religious Life in the Grihya Sutras, p. 260.

सुखों, रक्षा के साधनों एवं उदरंभर उपायों के स्थान पर परस्पर मैत्री-भाव एवं सह-अस्तित्व की भावनायें प्रबल दिखाई पड़ती हैं।[१] ऋग्वेद के दशम मण्डल में भी जो अन्य मण्डलों की अपेक्षा बाद का है—सह-अस्तित्व का भाव प्राप्त होता है।[२] अथर्ववेदीय ऋषि चतुर्वर्ण को समान एवं प्रिय दृष्टि से देखने की कामना करता था।[३] तथापि अथर्ववेद में भी अभिचार, ओषधि आदि का विशेष वर्णन होने से उसकी लौकिक भोगवादिता तथा ऐहिक चमत्कार की भावना ही ज्ञात होती है। इस प्रकार प्रायः समस्त संहिताओं में भोगवाद का ही प्रधानतः उल्लेख है और उसी तक उनके कल्याण का क्षेत्र सीमित था।

उपनिषत्कालीन अध्यात्मप्रधान कल्याण परम्परा—संहिताकालीन भोग-प्रधान भावना के प्रतिक्रिया स्वरूप अध्यात्मवादी विचारों का उदय हुआ। कुछ ही समय पश्चात् काम्य कर्मों की महत्ता निष्काम कर्म की अपेक्षा कम होने लगी। आरण्यक काल में मोक्ष की भी गणना पुरुषार्थों में होने लगी और उपनिषदों में इस भावना को पूर्ण प्रतिष्ठा मिल गई।[४] फलस्वरूप यज्ञों का अर्थ क्रियापरक कम और रहस्यपरक अधिक ग्रहण किया जाने लगा। स्वर्ग भी ऐकान्तिक और आत्यन्तिक सुख का क्षेत्र नहीं रहा और भोग्य विषयों को सर्वथा इन्द्रियों के तेज का विनाशक समझा गया।[५] अतः एक ऐसे शाश्वत तत्त्व की खोज प्रारम्भ हुई जिसको जान लेने से आवागमन का चक्र ही छूट जाये और परम शान्ति तथा आनन्द की स्थिति मिल जाये।

उपनिषदों में कल्याण शब्द का पर्याय 'श्रेयस्' कहा गया था। 'श्रेयस्' दो विचारों अथवा पदार्थों में एक की अतिशय उत्कृष्टता द्योतित करता है। दो वस्तुओं में जो एक अतिशय प्रशस्य होता है उसे ही श्रेयस् कहते हैं (शब्द-कल्पद्रुमः, पंचमो भागः, पृ० १७१)। उपनिषदों में वैदिक कालीन प्रेयो-भावना की तुलना में निष्काम-भावना की प्रशस्यता सिद्ध की गई और अध्यात्मवादी प्रवृत्ति को 'श्रेयस्' नाम दिया गया।[६]

१. अथर्व० ११३४।३।
२. ऋग्वेद० १०।१९१।२,४।
३. भद्रं सर्वस्य पश्यत उत शूद्रे उतार्ये ॥—अथर्व १९।६२।१।
४. P. T. Raju : The Concept of Man, p. 214.
५. कठोपनि० १।१।२६।
६. अन्यच्छ्रेयो अन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः।
तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद् य उ प्रेयो वृणीते।
श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते ॥
—कठो० १।२।१–२।

मुक्ति परमकल्याणकारिणी समझी जाने के कारण इस युग के मानव का आदर्श हो गई। प्राणियों में वैषम्य-बुद्धि का उदय धन एवं तद्गत मोहादि से ही समझ कर पूर्वकाल में विद्यमान परस्पर द्वेष एवं कलह की भावना को तिलांजलि देने के निमित्त समस्त प्राणियों के प्रति एकत्व की भावना जागृत हुई।[1] समस्त लोक के लिए कल्याणप्रद होने के कारण अलिप्त होकर कर्म करते हुए ही शत-शत वर्षों तक जीवित रहने की कामना का अनुमोदन किया गया।[2] किन्तु ज्ञान-परक वेदान्त द्वारा काम्य कर्मों की सर्वथा हेयता प्रतिपादन से अकर्मण्यता की नहीं, अपितु कर्तव्य की प्रेरणा मिली। ज्ञातव्य विषय और कर्तव्य कर्म के ज्ञान हेतु उनकी सदा आज्ञा रही—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥—कठोपनि० १।३।१४।

महाभारत की समन्वयवादी कल्याण-परम्परा—संहिताकालीन ऐहिक भावना के प्रतिक्रिया स्वरूप उद्भूत उपनिषत्कालीन त्यागप्रधान विचार धारा को भी लोक में आत्यन्तिक स्थायित्व न मिल सका। एक पक्षीय होने के कारण दोनों में जीवन की अपूर्णता थी। त्यागवादी भावना के अभाव में वैभव का उपभोग तथा वैभव के अभाव में सर्वथा ज्ञानवाद की प्रवृत्ति दोनों ही असंभव हैं। महाभारतकार ने इस स्थिति को समझा और दोनों का समन्वय किया—

धनानि येषां विपुलानि सन्ति नित्यं रमन्ते सुविभूषिताङ्गाः।
तेषामयं शत्रुवरघ्न लोको नासौ सदा देहसुखे रतानाम् ॥
ये योगयुक्तास्तपसि प्रसक्ताः स्वाध्यायशीला जरयन्ति देहान्।
जितेन्द्रिया भूतहिते निविष्टास्तेषामसौ नायमरिघ्न लोकः ॥
ये धर्ममेव प्रथमं चरन्ति धर्मेण लब्ध्वा च धनानि काले।
दारानवाप्य क्रतुभिर्यजन्ते तेषामयं चैव परश्च लोकः ॥

—आरण्यक १८१।३५–३७।

दुर्योधन की भोगवादी एवं युधिष्ठिर की सर्वथा संन्यासात्मिका प्रवृत्ति, दोनों का अनुमोदन व्यास ने नहीं किया। भोग के बिना वस्तुओं का वास्तविक स्वरूप अज्ञात रहता है, अतः पूर्ण विरक्ति नहीं हो सकती और विरक्ति के अभाव में केवल भोग से शान्ति नहीं मिल सकती।[3] अतः जीवन की सफलता के लिए दोनों ही अपरिहार्य हैं। इन दोनों प्रवृत्तियों का समन्वय पुरुषार्थ-चतुष्टय में है।

---

१ यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥—ईश ७।

२. कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतं समाः ॥—ईश २।

३. स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥—गीता २।७०।

महाभारतकार ने धर्म, अर्थ एवं काम इन तीनों से अपूर्ण जीवन को निरर्थक माना था।[1] अर्थ के अभाव में न काम की पूर्ति सम्भव है और न धार्मिक कृत्यों की ही। उसी प्रकार 'काम' के अभाव में प्रजा-तन्तु विच्छेद और कलात्मक प्रवृत्तियों की हानि के कारण लोक-क्षय एवं जीवन में नीरसता का भय है। धर्म दोनों के साथ मिलकर उनके रूप को शिव बनाता है। अतएव इन तीनों के समान रूप से सेवन में ही लोकवृत्ति को समाश्रित कहा गया था—

धर्मे चार्थे च कामे च लोकवृत्तिः समाश्रिता ॥—शान्ति १६१।२।

युधिष्ठिर ने धर्मार्थकाम के निश्चय को जानने की इच्छा प्रकट की थी क्योंकि—'लोक-यात्रा हि कात्स्न्येंन त्रिष्वेतेषु प्रतिष्ठिता' (शान्ति १२३।१।)। यहाँ त्रिवर्ग को लोक का जीवनाधार कहा गया है। अर्थात् इनके बिना जीवन और जगत् की स्थिति ही असम्भव है। किन्तु केवल जीवित रहना, किसी भाँति जीवन के उत्कर्ष हेतु प्रयास न करना, स्थूल से सूक्ष्म की ओर प्रवृत्ति का न होना मानव को शोभा नहीं देता। अतः महाभारतकार ने त्रिवर्ग के स्थान पर 'चतुर्वर्ग' को श्रेयस् का अन्तिम स्वरूप मान कर आदेश दिया था कि मानव—

धर्मे चार्थे च मोक्षे च सततं रतः ॥—शान्ति ५७।१२।

रहे। छन्द में प्रयुक्त 'सततम्' पद से एक रहस्य—आसक्तिमय कर्मों में विरक्ति की भावना एवं विरक्तिमय कर्मों में लोक कल्याण—लोक की समृद्धि की भावना—दोनों की साथ-साथ अपेक्षा—का ज्ञान होता है। अन्यथा मोक्षमार्गी संन्यासी समाज के लिए भार हो जाता और लोक संन्यास की अनुमति न देता। इस प्रकार—

नाभुञ्जानो भक्ष्यभोज्यस्य तृप्येद्
विद्वानपीह विदितं ब्राह्मणानाम् ॥—उद्योग २९।५।

सदृश शब्दों से जीवन यात्रा हेतु ऐहिक भोगों की आवश्यकता तथा

स्वादुकामुक ! भोगानां वैतृष्ण्यं किं न गच्छसि।
मधु पश्यसि दुर्बुद्धे प्रपातं नानुपश्यसि ॥—शान्ति २९७।७।

सदृश वचनों से भोगों से वितृष्णा की अनिवार्यता का उल्लेख करके महाभारतकार ने कर्म एवं ज्ञान, भोग तथा त्याग, आसक्ति और विरक्ति दोनों में समन्वय

---

१. त्रिभिर्भवद्भिर्विना नाहं जीवितुमुत्सहे।
धर्मार्थकामरहितो रोगार्त इव दुर्गतः ॥—सभा १८।१३।

स्थापित किया था। इसे ही श्रेयस्कर कहा था। कुल्लूक भट्ट के मत में मनु ने भी चतुर्वर्ग को ही श्रेयस्कर माना था।[1]

मनु की भाँति महाभारतकार ने भी केवल एक ही पुरुपार्थ का सेवन करने वाले को जघन्य कहा था—'यस्त्वेकसेवी स नरो जघन्यः।'[2] कदाचित् इनमें विरोध उपस्थित होने पर विष्णुधर्मसूत्र (७१।८४), भागवत (१।२।९) तथा मनु (४।१७६) सबने धर्म को ही सेव्य माना था। महाभारत के अनुसार 'धर्मादर्थश्च कामश्च' (स्वर्गारोहण ५।४९) होते हैं।

लोक-कल्याण—इस प्रकार पुरुपार्थ कल्पना में पुरुष के सर्वांगीण विकास की एक सुघटित योजना का दर्शन होता है। व्यक्ति के सर्वांगीण विकास से परम्परया लोक का भी पूर्ण विकास हो जाता है। व्यक्ति के पूर्ण न होने पर लोक की पूर्णता भी सम्भव नहीं और अपूर्णता होने पर लोक का कल्याण असम्भव है। अतः समाज के प्रत्येक व्यक्ति को उसके लक्ष्य—पुरुपार्थों—की ओर प्रेरित करना, आदर्श उपस्थित करना, उन्मार्ग पथ से निवृत्त करना आदि तत्कालीन लोक-कल्याण प्रवर्तकों का कार्य था। सर्वदा वे इस बात के लिये प्रयत्नशील रहते थे कि प्रत्येक व्यक्ति को पुरुपार्थ साधना का अवसर सरलता से मिलता रहे और लोक के पुरुपार्थ स्वार्थ का रूप धारण कर कहीं संघर्ष में परिणत न हो जायें।

लोक-कल्याण के प्रवर्तक—लोक के कल्याण हेतु प्रवर्तकों ने कल्याणाचार पर अधिक बल दिया था। किन्तु लोक को कल्याण-पथ पर चलाने के लिये तीन प्रकार के व्यक्तियों की नितान्त आवश्यकता होती है। प्रथमतः उनकी जो यह निर्देश कर सकें कि कौन से कर्म कर्तव्य हैं और कौन अकर्तव्य? दूसरे उनकी जो उनके निर्दिष्ट मार्ग पर चल कर लोक के समक्ष आदर्श उपस्थित कर सकें, और तीसरे उनकी जो प्रदिष्ट श्रेयस्कर मार्ग से भ्रष्ट होकर असत्पथ पर प्रवृत्त हो रहे लोक का निग्रह कर उनको सन्मार्ग पर लाकर अनुग्रह कर सकें। महाभारत में इन तीनों तत्वों को क्रमशः ऋषि, सन्त तथा अवतार या राजा के रूप में देखा गया।

ऋषि—ऋषियों की दर्शन शक्ति अद्भुत होती थी। वस्तुतः ऋषि शब्द की सार्थकता ही दर्शन के कारण है—ऋषिः दर्शनात्। देखते तो सब नेत्रवान् प्राणी हैं, किन्तु ऋषियों का दर्शन विलक्षण होता था। उनका 'दिव्यदृष्टि' होती थी जिससे वे कालान्तर और देशान्तर में घटित होने वाली घटनाओं का दर्शन

---

१. मनु २।२२४ तथा उसी पर कुल्लूक भट्ट की टीका।

२. आरण्यक ३४।३८; शान्ति १६१।३८।

कर सकते थे और करा भी सकते थे। वे उनके विवेचन से कर्तव्य का उपदेश भी दे सकते थे। व्यास ने अपनी दिव्य-दृष्टि से पाण्डवों के प्रति होने वाले गांधारी के मनोगत दुष्ट भावों के साथ अन्य प्राणियों के भी भावों को जान लिया था।[१] दिव्यदृष्टि प्रदान कर सकने की भी इनकी क्षमता का उल्लेख बहुशः मिलता है।[२] अपनी इसी शक्ति के कारण ये "लोक-वृत्तान्त-वृत्तज्ञा नित्यं धर्मपरायणाः" तथा "साक्षिभूता महात्मानो भुवनानां प्रभावनाः"[3] हुआ करते थे।

उपदेश देकर लोकोपकार करने के अतिरिक्त "सर्वभूतहिते रताः"[४] होने के कारण इनके रचनात्मक कार्य भी दृष्टिगोचर होते हैं। विश्व के कल्याणार्थ ही उन लोगों ने आततायी के विनाश का कार्य भी आवश्यकतानुसार स्वयं अपने हाथों में लिया था। परस्पर भय की निवृत्ति हेतु राजा की स्थापना कराने में ऋषियों का ही प्रधान हाथ था। राजा बनने के लिए नहुष से प्रार्थना करने वालों में ये ही अग्रणी थे।[५] और शाप देकर उसे स्वर्गच्युत करने वाले भी ये ही थे। लोक-रक्षार्थ ही ऋषियों ने राजाओं का अभिषेक किया था और उनके दुष्टाचरण पर उनको नष्ट किया था।[६] वेन के विधर्मा होने पर—

मन्त्रपूतैः कुशैर्जघ्नुर्ऋषयो ब्रह्मवादिनः ॥—शान्ति ५९।१०० ।

इसके अतिरिक्त जब कभी लोक-घातक तत्वों का उदय हुआ और उनसे लोक को पीड़ा हुई, सर्वदा ऋषियों ने उन्हें रोकने का सफल प्रयास किया—

ऋषयस्तु महाघोरान् दृष्ट्वोत्पातान् पृथग्विधान् ।
अकुर्वन् शान्तिमुद्विग्ना लोकानां लोक-भावनाः ॥—आरण्यक २१५।१ ।

अनेक स्थलों पर मार्कण्डेय, लोमश, व्यास आदि ऋषि आर्त पाण्डवों को सान्त्वना एवं आवश्यकता होने पर कौरवों को सदुपदेश भी देते थे। अर्जुन के स्वर्ग से शस्त्रास्त्रादि विद्यायें सीख कर आने पर भाइयों के अनुरोध पर दिव्यास्त्रों के प्रयोग कौशल का प्रदर्शन करने को उद्यत होते ही ऋषियों ने उन अस्त्रों से लोकहानि का विचार करके निषेध किया था। अश्वत्थामा तथा अर्जुन के ब्रह्मास्त्रों के लोकघातक तेज की शान्ति हेतु सर्वप्रथम व्यास और नारद ऋषि ही उपस्थित हुए थे।[७] महर्षि अगस्त्य ने वातापि का वध तथा सिंधु का पान 'लोक-हितार्थ' ही किया था।[८]

---

१ स्त्री १३।३, ५ । २. भीष्म २।१०; स्त्री १६।१,३ ।
३. शान्ति २०१।३३ । ४. भीष्म २७।५ ।
५. उद्योग ११।१,२ । ६. उद्योग १९।१०-१४; शान्ति ९१।१०-११ ।
७. सौप्तिक १४।१२-१५ ।
८. एष लोकहितार्थं वै पिबामि वरुणालयम् ॥—आरण्यक १०३।२ ।

लोक-कल्याण से ऋषियों का घनिष्ट सम्बन्ध ज्ञात होता है। अतएव—

ऋषयोऽपि विनिर्मुक्ताः पश्यन्तो लोकसंग्रहम्।
सुखे भवन्ति सुखिनस्तथा दुःखेन दुःखिताः ॥—उद्योग ५०।५४।

मरीचि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह आदि ऋषि 'अष्टप्रकृति' के नाम से अभिहित किये जाते थे क्योंकि इनसे ही लोक की प्रतिष्ठा मानी गई थी।[1] महाभारतकार ने इन्हें सर्वलोकों का धारक, सर्वधर्मप्रवर्तक, सनातन धर्मशास्त्रों का उपदेशक होने एवं समस्त लोक का कल्याण चिन्तन करने के कारण 'लोकपिता' की उपाधि दी थी।[2]

सन्त या श्रेष्ठ—सन्त सदाचार प्रधान पुरुष को कहते हैं।[3] इनकी तपस्या, त्याग एवं व्यवहार पर विश्व आधारित है।[4] सन्तगण दैशिक और कालिक परिस्थितियों में लोक के समक्ष अपने आचरण द्वारा आदर्श उपस्थित करते हैं। अतएव वेद और स्मृति के साथ ही श्रेष्ठों का आचार भी धर्म माना जाता था।

वेदोक्तः परमो धर्मो धर्मशास्त्रेषु चापरः।
शिष्टाचीर्णश्च शिष्टानां त्रिविधं धर्मलक्षणम् ॥—आरण्यक १९८।७८।

वस्तुतः वेदोक्त नियमों और धर्मशास्त्र के आदर्शों के सैद्धान्तिक अधिक होने के कारण वे लोक के लिए उतने अधिक अनुकरणीय नहीं हो पाते हैं, जितना कि सन्तों का व्यवहार। देश और काल भेद से उपस्थित होने वाली शास्त्रीय असंगतियों के उपस्थित होने पर, कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान श्रेष्ठ पुरुष अपने आचरण द्वारा कराते हैं। इनके आचरण को देख कर लोक को भी चलने के लिए मार्ग मिल जाता है, क्योंकि—

यद् यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥—गीता ३।२१।

संभवतः यही कारण था कि उपनिषद् के ऋषियों ने भी 'कर्म-विचिकित्सा' अथवा 'वृत्ति-विचिकित्सा' होने पर वेदशास्त्र की ओर न लौट कर सन्तों के आचरण से ही उनके समाधान की आज्ञा दी थी।[5]

---

१. यासु लोकाः प्रतिष्ठिताः।—शान्ति ३२७।२९।
२. ततस्ते लोकपितरः········॥—शान्ति ३२२।५०,५२।
३. सन्तश्चाचारलक्षणाः ॥—शान्ति १८६।२।
४. सन्तो भूमिं तपसा धारयन्ति ॥—आरण्यक २८१।४७।
५. अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तिविचिकित्सा वा स्यात्, ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनो युक्ता आयुक्ता लूक्षा अलूक्षा धर्मकामाः स्युः, यथा ते तत्र वर्तेरन् तथा तत्र वर्तेथाः।—तैत्तिरीय उप० १।११।३-४।

सन्तों का आचरण लोकगति को ध्यान में रखकर होता था। महाभारतकार के शब्दों में—

'लोकयात्रां च पश्यन्तो धर्ममात्महितानि च।
एवं सन्तो वर्तमाना एधन्ते शाश्वतीः समाः ॥—आरण्यक १९८।८६।

ये प्रजाप्रासाद पर चढ़ कर पाप एवं पुण्य का निरीक्षण करते हैं और पुनः एक आदर्श उपस्थित करते हैं।

सन्त अथवा श्रेष्ठ होने के लिए किसी वर्गविशेष, कुलविशेष अथवा धन-सम्पत्ति की नहीं, आचरण की आवश्यकता समझी गई थी।[2] कोई भी प्राणी द्रोह से दूर रहकर, दान देकर, तथा सर्वदा सत्य का पालन करके सन्त हो सकता है।[3] शूद्र विदुर, व्याध बलाक, एवं वैश्य तुलाधर सब आदर्श उपस्थित करने के कारण सन्त थे। जिनका चरित्र लोकसंग्रह में सहायक हो वे ही सन्त हैं और उनका दर्शन भी पुण्य है।[4]

अवतार

ऋषियों, सन्तों आदि लोकधारक तत्त्वों को कर्मों के अनुष्ठान में बाधाओं की प्रचुरता होने लगती है, वे स्वयं भी उन्हें दूर करने में असमर्थ रहते हैं, संसार में विनाशक तत्त्वों की प्रबलता तथा धारक तत्त्वों के अपचय पराकाष्ठा पर पहुँच जाते हैं, तब सर्वशक्तिमान् प्रभु एक योनिविशेष में अवतीर्ण होते हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्म-संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥—गीता ४।७-८।

धर्म में लोक की स्थिति है।[5] अतः धर्म-स्थापना के लिए हुआ अवतार लोक-कल्याण के लिए ही होता है। लोक-कार्य के सम्पादन के निमित्त ही अवतार होने का स्पष्ट उल्लेख महाभारतकार ने कर दिया है—

अतिक्रान्ताश्च बहवः प्रादुर्भावा ममोत्तमाः।
लोककार्याणि कृत्वा च पुनः स्वां प्रकृतिं गताः ॥—शान्ति ३२६।९५।

---

१. आरण्यक १९८ ९३।
२. वृत्तेन हि भवत्यार्यो न धनेन न विद्यया।—उद्योग ८८।५२।
३. आरण्यक १९८।८९।
४. उद्योग ३९।४३।
५. धर्ममूलं जगद् राजन्............।—आरण्यक ३४।४७।

अवतारवाद के सिद्धान्त में दो महान् कल्याणकारी तथ्यों का दर्शन होता है। प्रथम तो अवतारों ने लोकविघातक व्यक्ति को समाप्त कर पुरुपार्थसिद्धि में उपस्थित हो रही बाधाओं को हटा कर प्रत्येक व्यक्ति के लिए धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का अवरुद्ध मार्ग खोल दिया और उनको अर्जित करने के लिए प्रेरित किया। दूसरे, चारों पुरुपार्थों का समान रूप से सेवन होना चाहिए इस पर भी बल दिलाया। जिन असुरों का संहार अवतारों ने किया था वे सब अर्थ या काम के वशीभूत थे; उनका धर्माचरण भी इन दो से अभिभूत होकर स्वार्थ-सिद्धि का साधन बन गया था और उनमें मोक्ष की अवहेलना करके ऐहिक भोगों की वासना की प्रधानता हो चली थी। ये प्रवृत्तियाँ लोकघातक थीं। आततायी के नाश से लोक का कल्याण निश्चित होने से, अवतार 'लोककार्य' के लिए माने गये थे। अतः अवतारों ने परस्पर बाधा न पहुँचाते हुए प्रत्येक व्यक्ति को चतुर्वर्ग के समान रूप से सेवन करने का आदर्श लोक के समक्ष उपस्थित किया।

राजा

राजा उपर्युक्त तीनों प्रवर्तकों में श्रेष्ठ है, क्योंकि यह उन तीनों के सम्मिलित कर्मों से भी कुछ अधिक लोककल्याण करता था। वह सत्यासत्य का विवेचन और निर्देशन करने के कारण ऋषि, स्वयं सदाचरण करके आदर्श उपस्थित करने के कारण श्रेष्ठ या सन्त और दुष्कृतों का निग्रह और साधुओं पर अनुग्रह के साथ लोक को पुरुपार्थ चतुष्टय की सिद्धि हेतु प्रेरणा तथा अवसर प्रदान करने के कारण अवतार, तीनों एक साथ है। इसके अतिरिक्त वह ऋषियों को भी अवसर देता है कि वे तपस्या कर सकें, दर्शन शक्ति का उपार्जन कर सकें और उन्हें उत्पाती तत्त्वों के विनाशार्थ अपनी संचित तपोराशि का अपव्यय न करना पड़े। सन्तों को सदाचरण हेतु प्रेरणा और सुरक्षा देना भी उसका कार्य था। 'युगे युगे' नहीं, प्रतिक्षण ही धरा का भार अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाये, और प्रभु को अवतार लेना पड़े, यदि राजा लोकघातक तत्त्वों का 'पदे पदे' नियमन न करे।[1] इन गुणों के कारण राजा लोक का प्रमाण[2] तथा आठ-आठ लोकपालों के अंशों से समन्वित एक व्यक्ति माना गया था।[3]

राजा के अतिरिक्त कोई अन्य प्राणी लोकधारण में समर्थ भी नहीं हो सकता क्योंकि बल का संचय राजा में ही होता है।[4]

१ शान्ति ६५।२४-३१।
२. राजा प्रमाणं भूतानाम्········॥—आदि ७७।१८।
३. मनु ५।९६; शान्ति १३७।९८।
४. बलवान् जायते राजा ॥—उद्योग ११।३।

राजकीय योजना की आवश्यकता

किन्तु बल का केन्द्र होने का अभिप्राय, शक्ति के दुरुपयोग की स्वतन्त्रता नहीं। आवश्यकता इस बात की है कि वह अपनी समस्त शक्तियों को एक सुघटित एवं स्वस्थ योजना का रूप दे जिससे लोक का कल्याण हो सके। अतः राजकीय योजना में व्यक्ति के अतुल बल का लोक कल्याण के लिए प्रयोग दृष्टिगोचर होता है।

शक्ति के सदुपयोग के साथ लोक-जीवन में जितना अधिक प्रवेश, अधिकार और सहयोग राजा का होता है उतना ऋषि या श्रेष्ठ का नहीं। उदासीन साधक लोक के अत्यन्त निकट रहकर साधना नहीं कर सकता। श्रेष्ठ भी स्वयं तो किसी प्रकार लोककल्याणकारी आचरण कर सकता था किन्तु लोक को एक निश्चित दिशा में चलने को वाध्य नहीं। इसके विपरीत क्षात्र कर्म का ग्रहण करने पर, निग्रह और अनुग्रह दोनों को अपने हाथ में लेने पर, वह स्वयं राजा कहा जायगा। लोक-रक्षण और पोषणादि का कार्यभार ग्रहण करने पर न ऋषि ऋषि रहेंगे, और न सन्त सन्त। अवतारों में भी यही तथ्य दृष्टिगोचर होता है। उन्होंने कभी क्षात्र कर्म का आश्रय लेकर कर्म किया और कभी स्वयं राजा रहे।

महाभारत कालीन राजकीय योजना का स्वरूप

पुरातन एवं आधुनिक परिस्थितियों के अत्यन्त भिन्न होने के कारण राजकीय योचना का स्वरूप भी भिन्न ही था। आज हम जिस रूप में किसी योजना का अर्थ समझते हैं और उसका एक काल्पनिक चित्र हमारे समक्ष उपस्थित हो जाता है, ऐसी आशा और कल्पना महाभारतकालीन योजनाओं के विषय में नहीं कर सकते।

जनपद विशेष के अभ्युत्थान के लिए तद्देशीय राजा की विशिष्ट योजना का वर्णन नहीं प्राप्त होता है। अतः उनकी योजनाओं के लघु या वृहत् स्वरूप, सम्पाद्य तथा सम्पादित कर्म आदि के विवरण नहीं उपस्थित किये जा सकते। सामान्यतः राजधर्म के रूप में निर्दिष्ट राजा के कर्तव्यों को उनकी योजना का पूर्वरूप और उनके अनुसार विविध राजाओं द्वारा अनुष्ठित कार्यों से योजना की पूर्णता का अनुमान किया गया है।

महाभारत में किसी भी राजकीय योजना में केवल राजा द्वारा सम्पाद्य अथवा सम्पादित कार्य मात्र नहीं, अपितु राजा, उसके अमात्य गण, राजकीय कर्मचारी, राजा के मित्र, बन्धु-बान्धव तथा परिवार के किसी भी सदस्य के वे समस्त कर्तव्य और कर्म समाविष्ट थे जिनसे लोक का किसी भी प्रकार कल्याण संभव था क्योंकि राजा के सहयोग-विशेष अथवा सम्बन्ध-विशेष के कारण ही इनके कार्यों का रूप भव्य एवं महान् होता था।

लोक-कल्याण की संभावना होने पर राजा अपने परिवार के किसी भी प्राणी का जीवन तक उत्सर्ग करने को उद्यत रहता था। दुर्भिक्ष-निवृत्ति हेतु किसी प्रकार प्राप्त दत्तक-राजपुत्री शान्ता का ऋष्यशृंग सदृश ऋषिकुमार को दान,[१] राजा सगर द्वारा प्रजापीडक ज्येष्ठ पुत्र असमंजस् का परित्याग,[२] सैनिकों की कष्ट-निवृत्ति हेतु राजकुमारी सुकन्या का जराजीर्ण च्यवन को समर्पण[3] आदि उद्धरण लोक-कल्याण हेतु राजा द्वारा परिवार परित्याग के सूचक हैं। राजाओं का राज्य की रक्षा के लिए अपने सर्वस्व-समर्पण एवं राजा के परिवार की भी सर्वदा प्रजा के कल्याण के निमित्त राजा की ही भाँति तत्परता के ये उत्कृष्टतम निदर्शन हैं।

परिवार एवं राजसमाज के अतिरिक्त मानव, क्षत्रिय तथा राजा इन तीनों रूपों में सम्पादित राजा के लोक-कल्याणकारी कर्मों की गणना राजकीय कर्मों में की गयी है। वास्तव में इन तीनों रूपों का प्रभाव प्रजा पर पड़ता है और उनकी पूर्णता अथवा अपूर्णता से लोक को लाभ और हानि भी हुआ करते हैं। राजा को पूर्ण मानव के रूप में प्रतिष्ठित करने के लिये नारद,[४] विदुर,[५] भीष्म[६] और धृतराष्ट्र[७] सभी राजनीतिविशारदों ने अपनी-अपनी वारी आने पर राजा के लिये चरित्र-निर्माण की आवश्यकता पर वल दिया था। तत्कालीन राजाओं का मानवीय रूप और कर्म राजकीय रूप की अपेक्षा अधिक दृष्टिगोचर होता है। मानव के रूप में सामान्य नैतिक आचरण, नित्य और अन्य धार्मिक कर्म तथा अन्तिम के रूप में लोक रक्षणात्मक कर्मों का सम्पादन करता था। इन रूपों में वह लोक के समक्ष आदर्श उपस्थित करता था। राजा के रूप में वह प्रधानतः लोक के पालन-पोषण तथा शान्ति-अशान्ति और विपत्तिकाल में रक्षण करता था। अतः राजा के द्वारा सम्पादित वे समस्त कर्म जिन्हें वह मानव, क्षत्रिय अथवा राजा के रूप में लोकहित का ध्यान रखते हुए करता था, सब राजकीय-योजना में आते थे।

अर्थात् मानव, क्षत्रिय तथा राजा के रूप में राजा और उसके राजपुरुष, परिवार अथवा बन्धु-बान्धव सब राजकीय शब्द के तथा उनके द्वारा सम्पादित अथवा सम्पाद्य समस्त हितकारी कर्म योजना शब्द के अन्तर्गत हैं। राजकीय योजना का इन्हीं रूपों में दर्शन होता है।

१. आरण्यक ११०।५।
२. आरण्यक १०६।१४।
३. आरण्यक १२२।२४।
४. सभा ५।५०।
५. उद्योग ३४।५५-५९।
६. शान्ति ७६।२,३।
७. आश्रमवासिक ९।१३।

द्वितीय अध्याय

महाभारत में लोक-कल्याण की मूल-प्रवृत्तियाँ

[भूमिका, व्यक्ति का आदर्श और लोककल्याण, पुरुषार्थों की लोककल्याण-कारिता--धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष ।

लोककल्याणकारी सामाजिक प्रवृत्तियाँ--(१) आश्रम-व्यवस्था-(क) ब्रह्मचर्याश्रम --तप, त्याग, गुरुकुलवास से सह-अस्तित्व, परोपकार तथा सेवा की शिक्षा, भिक्षावृत्ति से लोकसेवा की अनुभूति, (ख) गृहस्थाश्रम से व्यक्तिगत पुरुषार्थ की सिद्धि, लोकसुख का आधार, ऋणकल्पना और लोककल्याण—देवऋण से लोक-कल्याण, ऋषिऋण से लोक का ज्ञानात्मक कल्याण, पितृ-ऋण से लोक-वृद्धि, मनुष्यऋण से लोक में सद्भावना, पंचमहायज्ञ—वैश्वदेव बलि द्वारा देवतृप्ति और लोककल्याण, भूतयज्ञ से विश्व के समस्त प्राणियों का कल्याण, पितृयज्ञ द्वारा मृतकों के प्रति सद्भावना और आनुषंगिक लाभ, ब्रह्मयज्ञ द्वारा विद्यारक्षा, नृयज्ञ द्वारा मानव का मानवतापूर्ण सम्मान, (ग) वानप्रस्थ---(घ) संन्यास । (२) वर्णव्यवस्था—(क) ब्राह्मण, (ख) क्षत्रिय, (ग) वैश्य, (घ) शूद्र । वर्णव्यवस्था और व्यक्तिगत कल्याण का निर्णय, विविध आवश्यकताओं की पूर्ति, परस्पर मैत्री और सद्भावना, वर्णव्यवस्था और लोक की चतुर्वर्ग-सिद्धि, महाभारतकालीन लोक की उन्नति का प्रमुखतम उपाय ।

(३) नारी के विविधरूप और उसके द्वारा लोक-कल्याण विधान---नारी के अनेक रूप, समाज में नारी, सामाजिक कार्य की शक्यता, लोककल्याण में नारियों का योगदान ।

(४) धार्मिक प्रवृत्तियाँ—देवपूजा, यज्ञ, तीर्थ ।

(५) दार्शनिक प्रवृत्तियाँ—महाभारतीय दर्शन का स्वरूप, कर्म और पुनर्जन्म, देव, भाग्य, नियति अथवा काल ।]

कल्याण के स्वरूप का ज्ञान हो जाने के अनन्तर ही लोक में उसके प्रवर्तन की आवश्यकता होती है । विशेषकर लोककल्याण हेतु ऐसी ही योजनाओं का आश्रय लेना पड़ता है जिनसे किसी वर्ग-विशेष का नहीं, समाज-विशेष का नहीं और अधिकाधिक प्राणियों का नहीं, अपितु सम्पूर्ण लोक का सर्वांगीण विकास हो सके । ऐसे विकास के लिए व्यक्ति-व्यक्ति को समान अवसर तथा अधिक से

अधिक सुविधाएँ मिल सकें, ऐसी ही व्यवस्था अपेक्षित होती है। समाज रचना उसी प्रकार की होनी चाहिए जिसमें व्यक्ति के स्वार्थों में परस्पर संघर्ष न हो और वह आत्मकल्याण द्वारा क्रमशः परिवार, समाज, वर्ण, देश तथा विश्व के कल्याण-सम्पादन में समर्थ हो सके। इन उदात्ततत्त्वों पर आधारित लोक को राजा और राजकीय योजनाओं की कितनी अपेक्षा होती है, इसका निर्णय किसी कालविशेष के समाजविशेष का अवलोकन करने के अनन्तर ही ज्ञात हो सकता है।

महाभारत में, उस समय जिन उपलब्धियों में कल्याण समझा गया था, उनकी प्राप्ति प्रत्येक व्यक्ति को हो सके, ऐसी सामाजिक, धार्मिक तथा दार्शनिक मूलभूत प्रवृत्तियों का दर्शन होता है। लोककल्याण को ध्यान में रखकर ही एक विशेष आदर्श के अनुसार एक व्यक्ति को अपना जीवन व्यतीत करना था। वस्तुतः पुरुषार्थों में धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष का ग्रहण ही उन रूपों में किया गया था, जिनसे लोक-कल्याण संभव हो, व्यक्ति आत्मोत्थान में निरत रहते हुए भी, दूसरे की उन्नति में बाधक न हो।

व्यक्ति का आदर्श और लोक-कल्याण

व्यक्ति और समाज अन्योन्याश्रित हैं क्योंकि व्यक्ति समाज का अंग है और व्यक्ति के जीवन का भी एक सामाजिक पक्ष है। व्यक्ति की असत्पथप्रवृत्ति का दोषी समाज माना जाता है और समाज को दूषित करने वाला व्यक्ति। अतः तत्कालीन समाज ने ऐसे व्यक्तिगत जीवन को प्रशस्त स्वीकृत किया था जो दूसरों के लिए हो, यथा—

यमाजीवन्ति पुरुषं सर्वभूतानि संजय।
पक्वं द्रुममिवासाद्य तस्य जीवितमर्थवत्॥—उद्योग १३१।४०।

इस लोक को 'कर्मभूमि'[1] तथा मानव को 'कर्मलक्षण'[2] मानकर उपनिषत्कार की भाँति[3] महाभारतप्रणेता ने भी इस जीवन को बहुत कुछ[4] समझा था क्योंकि इसे प्राप्त कर शुभ कर्म किये जा सकते हैं और शुभ कर्मों से मुक्ति मिल सकती है।[5] वास्तव में—

यत्तु दानपतिं शूरं क्षुधिताः पृथिवीचराः।
प्राप्य तृप्ताः प्रतिष्ठन्ते धर्मः कोऽभ्यधिकस्ततः॥

—उद्योग १३७।२६; शान्ति ७६।३२।

---

१. कर्मभूमिरयं लोकः।—शान्ति १८५।१९।
२. मनुष्याः कर्मलक्षणाः।—आश्वमे० ४३।२०।
३. पुरुषो वाव सुकृतम्।—ऐत० १।२।३।
४. जीवितं बहुमन्येऽहम्।—भीष्म १०३।२३।
५. आत्मा वै शक्यतेत्रातुं कर्मभिः शुभलक्षणैः॥—शान्ति २८६।३२।

अतः महाभारतकार ने इस दुर्लभ जीवन को सार्थक करने के लिए किसी भी प्राणी की हिंसा न करने, सब से मैत्रीभाव रखने और किसी भी प्रकार से वैर न करने का आदर्श उपस्थित किया।[1]

यह आदर्श किसी वर्ग, वर्ण अथवा आश्रम विशेष के व्यक्ति विशेष के लिए न होकर मानवमात्र के लिए था। सत्य, दम, अक्रोध, क्षमा, दया, शौच आदि गुण जिन पर उपर्युक्त व्यवस्था आधृत थी, समस्त वर्ण, आश्रम तथा व्यक्ति के लिए विहित थे।[2]

इन आदर्शों से समन्वित व्यक्तिगत जीवन आत्मकल्याण के साथ लोक-कल्याण का भी विधायक था। जहाँ पर परार्थ ही व्यक्तिगत जीवन का स्वार्थ हो, वहाँ दूसरे के मार्ग में अवरोध उपस्थित करने अथवा उसकी उन्नति को देखकर ईर्ष्या करने या उसको प्रोत्साहन न देने का प्रश्न ही नहीं पैदा होता।

पुरुषार्थों की लोककल्याणकारिता

पुरुषार्थ अथवा चतुर्वर्ग की सिद्धि ही व्यक्तिकल्याण के, अतः परम्परया लोक-कल्याण के रूप में समझी गई थी, इसका विवेचन प्रथम अध्याय में हो चुका है। एक-दो अथवा दस-बीस व्यक्तियों का ही नहीं, अपितु समग्र लोक का एक ही लक्ष्य स्वीकृत हो जाने पर, परस्पर घोर प्रतियोगिता और संघर्ष का प्रादुर्भाव होता है। भारतीय मनीषियों ने अर्थ और काम की भी पुरुषार्थों में गणना करते समय लोक की सहज और स्वाभाविक अहमहमिकया प्रवृत्ति की ओर भी ध्यान दिया था। यद्यपि उपर्युक्त आदर्श व्यक्ति के समक्ष होने पर ऐसी सम्भावना नहीं थी, तथापि महाभारतकार ने इस समस्या के समाधान में लक्ष्य का स्वरूप ही इस प्रकार का स्वीकार किया था जिससे व्यक्तिगत कल्याण अर्थात् स्वार्थसिद्धि मात्र न होकर लोक का कल्याण भी हो सके। पुरुपार्थ का अर्थ केवल एक व्यक्ति का उद्देश्य है ऐसा कहीं नहीं कहा गया। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष जिस प्रकार एक के सेव्य हैं वैसे ही दूसरे के भी।

धर्म

धर्म जगत् का आधार माना गया था।[3] समस्त प्राणियों के कल्याण को ध्यान में रखते हुए ही धर्मसम्बन्धी नियमों का प्रवचन हुआ था।[4] धर्म के अनुसार कर्मसम्पादन होने पर लोकयात्रा में किसी प्रकार की बाधा नहीं उपस्थित होती और उससे आनुषंगिक रूप से ऐहिक तथा पारलौकिक सुखों की उपलब्धि

१. नेदं जीवितमासाद्य वैरं कुर्वीत केनचित् ॥—आरण्यक २०३।४५।
२. शान्ति ६०।७, ८; १५६।३; १५४।१०, १४।
३. धर्ममूलं जगद्राजन् नान्यद्धर्माद् विशिष्यते ॥—आरण्यक ३४।४७।
४. प्रभवार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम् ॥—कर्ण ४९।४९।

भी होती है।[१] अतः भारतीय मनीषी व्यास ने, लोक-कल्याण का सुन्दरतम साधन होने के कारण अपने पूर्ववर्ती ऋषियों की भाँति, धर्म को मानव जीवन का प्रमुखतम लक्ष्य घोषित किया।[२] उदात्तभावनाओं के अभाव में लोक-विनाश के भय से, जीवन का उत्सर्ग करके भी धर्म का परित्याग न करने पर उन्होंने अत्यन्त बल दिया था।[3]

महाभारतकार ने धर्म का क्षेत्र बहुत विस्तृत माना था। उनके अनुसार किसी भी देश, काल, कुल, जाति आदि सम्बन्धी विश्वास, मान्यता तथा आचार धर्म की कोटि में आते हैं, यदि उनमें धारण-शक्ति है, क्योंकि प्रजा-लोक को धारण करने वाले तत्त्व ही धर्म हैं, उनका स्वरूप चाहे जैसा भी क्यों न हो।[४]

धर्म और अधर्म के ज्ञान के लिए परतन्त्रता न रहे, सर्वत्र किसी निर्णायक की अनिवार्यता का अनुभव न हो, इस धर्माधर्म-विनिश्चय की शंका का समाधान करने के लिए उन्होंने मानव को ही कसौटी माना और कहा था—

यदन्यैर्विहितं नेच्छेदात्मनः कर्म पूरुषः।
न तत् परेषु कुर्वीत जानन्नप्रियमात्मनः॥—शान्ति २५१।१९।

किन्तु लोक में अकर्मण्यता न फैले और दुष्टप्रवृत्तियों को प्रोत्साहन न मिले, इसलिए 'यस्मिन् यथा वर्तते यो मनुष्यस्तस्मिंस्तथा वर्तितव्यं स धर्मः'[५] का भी पाठ पढ़ाया।

इस प्रकार धर्म के अन्तर्गत वे समस्त भौतिक एवं आध्यात्मिक तत्त्व समाविष्ट हो जाते हैं जिनमें लोकधारण की शक्ति हो। अतः इन्द्रियनिग्रह, आर्जवादि सदृश नैतिक गुण[६], यज्ञ, दान आदि[७] काम्य कर्म भी धर्म में आ जाते हैं। सत्य वही समझा गया था जो भूतमात्र के लिए अत्यन्त हितकर हो।[८]

१. लोकयात्रार्थमेवेह धर्मस्य नियमः कृतः।
उभयत्र सुखोदर्क इह चैव परत्र च॥—शान्ति २५१।४।
२. तस्माद्धर्मप्रधानेन भवितव्यं यतात्मना॥—शान्ति १६१।८।
३. न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः॥
—स्वर्गा० ५।५०।
४. धारणाद्धर्म इत्याहुर्धर्मो धारयति प्रजाः।
यः स्याद् धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः॥—कर्ण ४९।५०।
५. उद्योग ३७।७।
६. आरण्यक १९७।३८।
७. शान्ति १४८।६।
८. यद् भूतहितमत्यन्तं तत्सत्यमिति''''॥—आरण्यक २००।४।

अहिंसा इसलिए धर्म[1] थी क्योंकि वह प्राणियों को अभीष्ट सुखदायिनी तथा अनभीष्ट-निवारिका थी।[2]

धर्म व्यक्ति को समाज में रहने की रीतियों का ज्ञान कराकर उसको उन्नति के मार्ग पर अग्रसर करता था और लोक के पीड़क तत्त्वों का अवरोध भी, अतः वह स्वरूप से ही लोककल्याण करता था।

अर्थ

सम्यक् प्रकार से उपार्जित धन से समस्त क्रियाएँ पर्वत से नदियों की भाँति निकल पड़ती हैं।[3] धार्मिक कृत्य, काम अथवा कलात्मक कृतियाँ, स्वर्ग तथा जीवनयापन भी अर्थ के अभाव में असम्भव हैं;[4] अतः महाभारतकार ने 'धनमाहुः परं धर्मं धने सर्वं प्रतिष्ठितम्' (उद्योग ७०।२३) कहा और कौटिल्य ने उसे श्रेष्ठ पुरुषार्थ माना था।[5]

अर्थ की पुरुषार्थता उपर्युक्त उद्धरणों से ही सिद्ध हो जाती है। किन्तु महाभारतकार ने धन की जीवन में अनिवार्यता स्वीकृत करते हुए भी उसे केवल संग्रह या आत्मोपभोगमात्र का विषय नहीं माना। उनके मतानुसार 'अर्थो द्रव्यपरिग्रहः'[6] अर्थात् अर्थ द्रव्य के आदान-प्रदान का नाम है संचय का नहीं। अन्यथा आर्थिक विषमता से सामाजिक विषमता और सामाजिक विषमता से लोक में वैर, ईर्ष्या और विनाश का भय समझा गया था। ऐसी परिस्थिति में धन धन न रह सकेगा; क्योंकि—

धत्ते धारयते चेदमेतस्मात् कारणाद् धनम्।
तदेतत् त्रिषु लोकेषु धनं तिष्ठति शाश्वतम् ॥—उद्योग ११२।३।

इसके अतिरिक्त महाभारतकार को अनैतिक एवं अधर्म्य रीतियों से धन का संकलन[7] और उपभोग[8] दोनों ही इष्ट नहीं था। संसार के प्राणियों का विचार किये बिना किसी पदार्थ का उपभोग ही पाप समझा था।[9]

अतः धन की लोकधारणशक्ति का दर्शन कर महाभारतकार ने एक ओर इसका संचय और उपभोग करना पुरुषार्थ—पुरुष के जीवन का अन्यतम लक्ष्य

---

१. शान्ति २५१।१८-२५। २. शान्ति २३७।२५।
३. अर्थेभ्यो हि विवृद्धेभ्यः संभृतेभ्यस्ततस्ततः।
क्रियाः सर्वाः प्रवर्तन्ते पर्वतेभ्य इवापगाः ॥—शान्ति ८।१६।
४. प्राणयात्रा हि लोकस्य विनार्थं न प्रसिध्यति ॥—शान्ति ८।१७।
५. अर्थशास्त्र १।७।६-७।
६. आरण्यक ३४।३५। ७. भीष्म ९२।५-६।
८. शान्ति २१।१०-१४। ९. गीता ३।१३।

माना और दूसरी ओर अर्थ के अनियन्त्रित भोग की अनर्थता देख त्याग, समर्पण आदि सात्त्विक भावनाओं से उसे शिव रूप प्रदान किया।

काम

पंचेन्द्रियों, मन एवं हृदय को प्रसन्न करने वाले समस्त भाव, कर्म एवं पदार्थ काम से सम्बद्ध माने गये थे।[1] काम से सम्बद्ध आनन्द जीवन में आवश्यक है। इससे सहज, सरल और स्वाभाविक रूप से विद्यमान रहने वाली प्राणिगत वासना की तृप्ति होती है। इसके अतिरिक्त, फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली संतति व्यक्ति के जीवन को आवश्यकतानुसार सहायता भी दिया करती है।

किन्तु काम की पुरुषार्थता केवल इसलिए नहीं है कि उससे ऐन्द्रिय प्रीति और अपने सन्तान की प्राप्ति होती है, अपितु उसका लोकव्यापी महत्त्व है। पुत्र अथवा संतान से कुल अथवा परिवार की ही नहीं अपितु जाति एवं लोक की भी वृद्धि होती है। काम का क्षेत्र व्यक्तिगत जीवन तक ही सीमित नहीं, उसका प्रभाव समाज पर भी पड़ता है। अतः सर्वत्र उच्छृंखल एवं निर्बन्ध काम की गर्हा की गई थी।[2] इसके धर्मप्रधान स्वरूप के लोककल्याणकारी होने से ही इसकी ईश्वर से भी सरूपता कही गई थी।[3]

मोक्ष

मोक्ष भी एक प्रमुख पुरुषार्थ के रूप में स्वीकृत किया गया था। सम्पूर्ण जीवन को मनोरम उपभोग्य पदार्थों में लगा देने से कल्याण की संभावना नहीं थी। अतः उनके प्रति वितृष्णा भी आवश्यक समझी गई।[4] यतेन्द्रिय होकर प्राणिमात्र का मन से भी अहित न करना मानव जीवन का चरम आदर्श था।[5] अतः महाभारतकार की कामना थी कि—

> दुष्कृते सुकृते वापि न जन्तुरयतो भवेत्।
> नित्यं मनःसमाधाने प्रयतेत विचक्षणः ॥—शान्ति २७९।२०।

क्योंकि दम, क्षमा, धृति, तेज, सन्तोष, सत्यभाषण, ह्री, अहिंसा आदि गुणों को ही सुखकर माना गया था।[6]

> मुक्ता वीतभया लोके चरन्ति सुखिनो नराः।
> सक्तभावा विनश्यन्ति नरास्तत्र न संशयः ॥—शान्ति २७७।१३।

---

१. इन्द्रियाणां च पञ्चानां मनसो हृदयस्य च।
विषये वर्तमानानां या प्रीतिरुपजायते। स कामः···॥—आरण्यक ३४।३७।

२. कर्ण २७।७३-९२।

३. धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि ॥—गीता ७।११।

४. शान्ति २९७।७। ५. वही ५। ६. शान्ति २७९।१९।

के आधार पर 'सुखं मोक्षसुखं लोके'[१] की धारणा जोर पकड़ रही थी। परम हितकर होने के कारण मोक्ष ही चरमोद्देश्य समझा गया और उसकी ओर अग्रसर होने की प्रेरणा दी गई थी।[२] मोक्ष से व्यक्ति का आध्यात्मिक चरमोत्कर्ष होता है तथा मोक्ष के लिए प्रयत्नशील सर्वभूतमैत्री[3] अनिवार्य होती है। इस प्रकार मोक्ष में लोककल्याण भी समाविष्ट था।

लोक-कल्याणकारी समाज-व्यवस्था

महाभारतीय मनीषियों ने व्यष्टि एवं समष्टि दोनों की पुरुषार्थ सिद्धि हेतु ऐसे समाज की रचना की थी जिसके अनुसार जीवनयापन करने वाले व्यक्ति का कल्याण हो जाये, और वह अपनी कल्याणसिद्धि के साथ दूसरों को वाधा न दे और अवसर ही प्रदान करता रहे।

आश्रम-व्यवस्था

आश्रमव्यवस्था प्रत्येक व्यक्ति के लिए चतुर्वर्ग की प्राप्ति तथा लोककल्याण दोनों के समन्वय का एक उत्कृष्ट साधन समझा गया था। जीवन को शतायु मानकर और विभिन्न जीवनकाल को कार्यविशेष के लिए उपयुक्त समझ भारतीय ऋषियों ने जीवन को समय, परिस्थिति एवं आवश्यकतानुसार दो, तीन अथवा चार भागों में विभक्त किया था।[४] जीवन के इस प्रत्येक काल विभाग को आश्रम कहा गया। यह शब्द पहले 'श्रम करने के स्थल' का वाचक रहा होगा जो शनैःशनैः 'श्रम करने के योग्य जीवन काल' का वाचक हो गया।[५] प्रत्येक आश्रम में श्रम की महत्ता थी। इसके माध्यम से श्रम किया जाता है।[६] आश्रम-व्यवस्था जीवन को संसार में ग्रहण करती थी, संसार में रखती थी और अन्त में इससे बाहर स्थित लक्ष्य की प्राप्ति के लिए प्रेरणा देती थी।[७]

ब्रह्मचर्याश्रम

ब्रह्मचर्याश्रम द्विज के जीवन का वह काल है जब उसको भविष्य कालीन जीवन में व्यष्टिगत एवं समष्टिगत उत्तरदायित्वों के वहन करने के योग्य वनाया जाता था। स्वधर्म में रति, इन्द्रियजय, गुरु की हितकामना, शुचिता, सत्य आदि गुण; गुरु की आज्ञा से अन्नादि ग्रहण, शुचितापूर्वक दोनों समय अग्निहोत्र आदि

१. शान्ति २७७।५। २. शान्ति १५२।२०-३०। ३. शान्ति २७६।१७।
४. P. T. Raju : The Concept of Man, p. 212.
५. V. P. Bokil : The History of Education in India, p. 63.
६. भारतस्य सांस्कृतिकनिधिः, पृष्ठ ४५।
७. Prabhu : Hindu Social Organization, p. 79.

कर्म; तथा यथावर्ण विल्व, पलाशादि के दण्ड, क्षौम, कपास, मृगाजिन आदि के वस्त्र, मुञ्ज की मेखला एवं जटा धारण, तर्पण क्रिया, यज्ञोपवीतधारण, स्वाध्याय, अलुप्तनियतव्रतपालन आदि विद्यार्थी ब्रह्मचारी से अपेक्षित थे।[1] यह काल शिक्षा-प्राप्ति का था।

तप

इन अपेक्षित गुणों, कर्मों, साधनों एवं उपभोग्य पदार्थों से बालक में सहिष्णुता, तप, स्वास्थ्य एवं आध्यात्मिकता का संचार होता था। मनुष्य की सन्तान को पूर्णमानव बनाने की चेष्टा की जाती थी। इन्द्रिय-जय, शुचिता आदि विद्यार्थी की एकाग्रता के सहायक होते थे। मनु ने गन्धानुलेपन, माल्यादिधारण का भी निषेध इसीलिए किया था।[2] ये विधान आकर्षक विषयों से मन को हटाकर एकमात्र साधना में लगाने के लिए थे।

त्याग

सायं प्रातः अग्निहोत्र एवं तर्पण के माध्यम से विद्यार्थी को जीवन के आदि काल से ही त्याग की शिक्षा दी जाती थी, साथ ही इनसे सर्वस्वदाता के प्रति कृतज्ञता की भावना का जागरण भी होता था। यद्यपि ये गुण सूक्ष्म हैं तथापि इन सूक्ष्म मानस भावों का भी महत्त्व कल्याण-साधना में कम नहीं। अतः—

मानसं सर्वभूतानां धर्ममाहुर्मनीषिणः।
तस्मात् सर्वेषु भूतेषु मनसा शिवमाचरेत ॥—शान्ति १८६।३०।

गुरुकुलवास से सह-अस्तित्व, परोपकार एवं सेवा की शिक्षा

ब्रह्मचारी के लिए गुरुकुल में रहकर ही शिक्षा ग्रहण करना प्रशस्त माना जाता था।[3] वहाँ वह विभिन्न क्षेत्रों से आये हुए ब्रह्मचारियों के साथ रहकर भिन्न-भिन्न देशों के आचार सीखता था, सबके साथ शान्ति एवं प्रेमपूर्वक रहने की कला सीखता था, परस्पर सेवा के भाव जागृत होते थे जो उसके भावी जीवन में उसे मनुष्य बनाते थे।

भिक्षावृत्ति एवं लोक-सेवा की अनुभूति

राजा-रंक पर्यन्त जिस किसी द्विज का पुत्र ज्ञानार्थ आश्रम में प्रविष्ट होता था, उसके लिये प्राणधारण मात्र के लिये पर्याप्त भिक्षा मांगना अनिवार्य था। इससे प्रथमतः विद्यार्थी अपने को राजा या रंक न समझ कर मनुष्य समझने लगता रहा होगा, जिससे उसके अन्तर में समता एवं मैत्री जागृत होती थी। द्वितीयतः भिक्षा के लिये आश्रम से चले ब्रह्मचारी को उसकी प्राप्ति पर सुख-

---

१. आश्वमे० ४६।१-७; आदि ८६।२। २. मनु २।१७७।
३. शान्ति १८४।८; अनुशा० ३६।१४, १५।

सन्तोष तथा न मिलने पर दुःख एवं कष्ट होने पर भावी जीवन में अपने द्वार पर आये ब्रह्मचारी को अपने समान समझ कर व्यवहार करने की शिक्षा मिलती थी।

अतः ब्रह्मचर्य आश्रम में वर्णानुसार केवल शास्त्र, शस्त्र अथवा दोनों की शिक्षा ही नहीं मिलती थी अपितु सम्पूर्ण जीवन को त्याग एवं तपस्या के ऊपर आधारित विधान के अनुसार व्यतीत कराने की चेष्टा करके, लोक-कल्याण करने के लिये समाज के भावी कर्णधारों का निर्माण किया जाता था। घर-घर भिक्षा हेतु जाने के कारण लोक के व्यावहारिक पक्ष से भी ब्रह्मचारी पूर्ण परिचित हो जाता था। वह सामान्यतः अध्ययन के लिये स्वीकृत वेदशास्त्र मात्र के ज्ञान तक सीमित न रह कर लोक-व्यवहार और सामाजिक प्रवृत्तियों तथा आदर्शों का भी ज्ञान अर्जित करने में सफल होता था।

राजपुत्रों के लिये गुरुकुलवास और भिक्षाटन का एक और भी विशिष्ट महत्त्व था। भविष्यत्कालीन जीवन में राज्यारूढ़ होने पर आश्रमों की आवश्यकताओं तथा नैतिक और अनैतिक व्यवहारों को जानने के लिये गुप्तचरों पर ही आधारित नहीं रहना पड़ता था। अपने प्रारम्भिक जीवन में ही वे आश्रम सम्बन्धी प्रायः समस्त क्रियाकलापों से पूर्ण परिचित हो जाते थे, अतः उनकी आवश्यकताओं को पूर्णतः समझकर उनकी सहायता कर सकते थे।

गृहस्थाश्रम

जीवनयापन एवं लोक कल्याण की शिक्षा लेकर ब्रह्मचारी के लोक-सेवा के क्षेत्र में उतरने के समय को गृहस्थाश्रम के नाम से अभिहित किया जाता था। इस आश्रम में द्वार-द्वार पर भिक्षा के लिये हाथ फैलाने वाला विद्यार्थी, लोक के भरण-पोषण का व्रत लेता था और यथा-शक्ति 'सर्वभूतहितैषिता'[1] में ही अपना जीवन लगा देता था।

व्यक्तिगत पुरुषार्थ सिद्धि

गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने पर ही द्विज को गौ, क्षेत्र, धन, दारा, पुत्र, भृत्यादि से सुख प्राप्त होता था।[2] अर्थ एवं काम की पूर्ति स्वतः तथा इनकी उपस्थिति में धर्म-कर्म अनिवार्यतः हो जाते थे। अतः एक गृही को एक ही आश्रम में धर्म, अर्थ और काम इन तीनों की सिद्धि हो जाती थी।[3] विशेषतः 'काम' की तृप्ति तो इसी आश्रम में विहित थी।[4] इस प्रकार यह आश्रम व्यक्तिगत उत्थान के दृष्टिकोण से भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था।

---

१. गृहस्थधर्मो नागेन्द्र सर्वभूतहितैषिता ॥—शान्ति ३४७।७।

२. शान्ति २८४।३।

३. धर्मार्थकामावाप्तिर्ह्यत्र।—शान्ति १८४।१०। ४. शान्ति १८४।१६।

लोक-सुख का आधार

व्यक्तिगत सुख एवं आनन्द के अतिरिक्त गृहस्थाश्रम पर ही लोक के विविध कल्याण—विशेषकर आर्थिक-पोषण का भार था। धर्मागत धन से यजन-याजन, दान, अतिथि-सत्कार आदि गृहस्थ के लिये अनिवार्य थे।[१] इन्हीं से गुरुकुलवासी ब्रह्मचारी, गृहस्थ अतिथि एवं अन्य व्रतनियम का अनुष्ठान करने वाले यती, परिव्राजक आदि की आवश्यकताएँ पूर्ण होती थीं, अतः चारों आश्रमों के व्यक्तियों के इसी पर आधारित होने एवं जीवन-शक्ति प्राप्ति से गृहस्थाश्रम को सब आश्रमों का 'मूल' कहा गया था।[२] कर्मभूमि में कर्मलक्षणात्मक पुरुष को स्वतन्त्र होकर कर्म करने की अनुमति यहीं मिलती थी, इसलिए भी गृहस्थाश्रम का महत्त्व था। यही एक समय था जब शुभकर्मों के सम्पादन द्वारा मुक्ति की ओर अग्रसर होने का अवसर मिलता था।

ऋण-कल्पना एवं लोक-कल्याण

गृहस्थाश्रम में ही मनुष्य को अपने जन्म, सुख, भोग एवं ज्ञान देने वाले समाज के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन करने तथा सेवात्मक कर्मों द्वारा लोक-कल्याण करने का अवसर मिलता था। शास्त्रकारों ने मानव पर समाज के बहुविध ऋण माना था जिसके दान में लोक का कल्याण निहित था। इनका सम्पादन प्रत्येक गृहस्थ का नैतिक कर्तव्य था। ऋणों को चुका कर ही वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करने की अनुमति थी, ऐसा न करने पर व्यक्ति को पाप लगने का भय दिखाया गया।[3] देवताओं का जो वर्षा, प्रकाश, वायु तथा अन्य प्राकृतिक सुविधाएँ देते हैं, ऋषियों का जिनसे हम आध्यात्मिकता एवं ज्ञान प्राप्त करते हैं, पितरों का जो हमारे भौतिक शरीर के निर्माता हैं, ऋण बिना चुकाये मुक्ति नहीं मिल सकती।[४]

रूसो के मतानुसार सामाजिक ऋणों को न चुकाने पर समाज का उतना अहित नहीं होता जितना उसका स्वयं का।[५] अतः समाज की सेवा आत्म हितों की रक्षा है। पंचम शिलाप्रज्ञापन में अशोक ने भी व्यक्ति पर समाज के ऋण को स्वीकार किया था।[६]

---

१. आदि ८६।३। २. शान्ति १८४।१०।

३. उद्योग ३७।३५, ३६; शान्ति १६९।६; मनु ६।३५, ३७।

४. Hinduism, p. 69.

५. Social, Contract, Bk. 1, Ch. VII, p. 261.

६. अशोक, पृष्ठ ६१।

तैत्तिरीय संहिता में मानव के साथ ही तीनों ऋणों की उत्पत्ति कही गई है।[1] महाभारतकार ने चार ऋणों के साथ मानव का जन्म माना था—

ऋणैश्चतुर्भिः संयुक्ता जायन्ते मनुजा भुवि।
पितृदेवर्षिमनुजदेयैः शतसहस्रशः ॥—आदि १११।१२।

देव-ऋण से लोक-कल्याण

भारतीयों की सदा से धारणा रही है कि देव प्रसन्न होकर प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से मानव-मनःकामना की पूर्ति किया करते हैं। अतः जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त जिन दैवी एवं प्राकृतिक विभूतियों से सहायता प्राप्त होती है, मानव उनका ऋणी है। यज्ञ सम्पादन से मनुष्य देवऋण से अनृण हो सकता है[2] क्योंकि, वे यज्ञ-यजन से ही परम प्रसन्न होते हैं।[3] ऋषियों ने जीवन में अप्रत्याशित अथवा परोक्ष रूप से होने वाली सिद्धियों को देवता का वरदान समझा था। देवशरीर के अपार्थिव होने से सूक्ष्म कर्मों से उनका ऋण चुकाया जा सकता है। यज्ञों से भी प्रत्यक्ष कर्म और परोक्ष रूप से अधिक प्रेरणा मिलने के कारण इन्हें दैवी-तृप्ति का प्रमुखतम साधन स्वीकार किया गया था। यज्ञों को धर्मकर्म अथवा देवता से सम्बद्ध करने का प्रयोजन, प्रत्येक प्राणी से यथाशक्ति इनका सम्पादन कराना था। वस्तुतः यज्ञों से देव-प्रसादन का अर्थ है अप्रत्यक्ष अथवा सूक्ष्म रूप से जीवन को प्रेरित करने वाले तत्त्वों की उद्भावना।

ऋषि-ऋण से लोक का ज्ञानात्मक कल्याण

आचरण, नीति, व्यवहार या अध्यात्म सम्बन्धी ज्ञान देने के कारण आचार्य, गुरु अथवा ऋषि का भी मानव को ऋणी समझा गया था। प्रतिदान के रूप में ऋषिगण अपने लिए कुछ नहीं चाहते। ज्ञानार्जन और ज्ञानप्रदान उनका प्रमुख धर्म था। अतः इन्हीं की अपेक्षा वे मानव से करते थे जिससे व्यक्ति और समाज दोनों का आत्मिक विकास सम्भव हो। ऋषि-ऋण स्वाध्याय और तप से चुकाया जाता था।[4] व्यक्तिगत अनुभवों एवं विचारों से लोक की सेवा करना, उसके अज्ञों को ज्ञान की दिशा में प्रेरित करना आदि इस ऋण के उद्देश्य थे। द्विजगण स्वाध्याय एवं तप से विरत न हों और लोक का कोई भी प्राणी अज्ञानी न रहे इन उद्देश्यों की सिद्धि हेतु ऋषि-ऋण का विधान था।

पितृ-ऋण से लोकवृद्धि

जीवन दाता पिता तथा उनके भी पिता-पितामह से मानव को जन्म का ऋण मिलता है यह स्वीकार किया गया था। अतः व्यक्ति का कर्तव्य हो जाता है कि

---

१. तै० सं० ६।३।१०।५। २. यज्ञैश्च देवान् प्रीणाति ॥—आदि १११।१४।
३. गीता ३।९-१२। ४. स्वाध्यायतपसा मुनीन्।—आदि १११।१४।

जिस प्रकार उसके पिता-पितामहों ने उसे उत्पन्न कर समाज को अनवरत गति प्रदान किया था, और लोक को उच्छेद से बचाया था, उसी प्रकार वह भी समाज को इन आशंकाओं से बचाये। अतः पितृ-ऋण से मुक्ति पाने का उपाय सन्तति की उत्पत्ति तथा पितरों का श्राद्ध-सम्पादन माना गया था।[१] जिस जाति ने उसे जन्म दिया उसे बढ़ाने की जिम्मेदारी मनुष्य पर लादते हुए उपनिषत्कार ने भी उपदेश दिया था "प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः।"[२] संतति-वृद्धि से प्रजापति को प्रसन्नता होती है।[३] कारण स्पष्ट है। प्रजा का स्वामी अपनी संतति की वृद्धि देख कर क्यों न प्रसन्न होगा।

मनुष्य-ऋण से लोक में सद्भावना

धर्मशास्त्रों में सामान्यतः तीन ही ऋणों की योजना थी, चार की नहीं। संभवतः मनुष्य-ऋण महाभारतकार की अपनी कल्पना है। अन्य शास्त्रकारों ने मनुष्य ऋण का नृयज्ञ में अन्तर्भाव कर दिया था। ऋणों और महायज्ञों दोनों में ही मनुष्य का समावेश और प्रायः दोनों में समानकर्म के विधान से मानवमात्र अथवा प्राणिमात्र के प्रति आवश्यक सद्भावना पर बल दिया गया प्रतीत होता है।

देवता, ऋषि एवं पितरों के अतिरिक्त ऐसे भी प्राणी संसर्ग में आते हैं जिनसे कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध न होने पर भी जीवन-साधना में सहयोग मिलता है। उनके प्रति भी आभारी होना आवश्यक है। मानव पर प्राणियों के इस आभार का नाम मनुष्य-ऋण है। प्राणियों के प्रति दया-प्रदर्शन से इस ऋण से मुक्ति मिलती है।[४] अपनी साधना में निरत अज्ञात एवं सम्बन्ध-हीन मनुष्यों को अतिथि के रूप में ग्रहण किया था। उपनिषदों में अतिथि की देवकल्पना[५] करके उसकी अतृप्ति पर इष्टापूर्त, धन, जन आदि के नाश की संभावना की गई थी।[६] व्यास के अनुसार भी—

अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात् परिनिवर्तते।
स दत्त्वा दुष्कृतं तस्मै पुण्यमादाय गच्छति ॥—शान्ति १८४।१२।

मनुष्य ऋण में ही सम्भवतः वृद्ध माता-पिता, भृत्य एवं आश्रितों का पोषण भी सन्निविष्ट था। इनके पूर्ण सन्तुष्ट हो जाने पर स्वयं भोजन करने वाले को अमृतभोजी कहकर उसके ही जीवन की सार्थकता सिद्ध की गई थी।[७] अतिथि, गौ, द्विजादि की मनसा, वाचा, कर्मणा की गई पूजा विष्णु की ही पूजा समझी

१. पुत्रैः श्राद्धैः पितॄंश्चापि—आदि १११।१४। २. तै० उपनि० १।११।१।
३. शान्ति १८४।१३। ४. आदि १११।१४।
५. अतिथिदेवो भव—तैत्ति० १।११।२। ६. कठ० १.१।८।
७. शान्ति २१४।१२-१४।

गई थी।[१] इनके हेतु निर्वयनादि न करने वाला व्यक्ति साँस लेता हुआ भी मृत समझा जाता था।[२]

पंचमहायज्ञ

ऋणों के सदृश लोक-कल्याणकारी त्याग की भावना जागृत करने वाली पंचमहायज्ञों की भी कल्पना की गई थी। दोनों में थोड़ा अन्तर है। ऋणों में प्रतिदान की भावना है, किसी ने हमारे लिए कुछ किया था, अतः उसके प्रति हमें कुछ करना चाहिए, यह भावना है; किन्तु महायज्ञों में लोक के प्रति, किसी आभार के विना भी, असीम करुणा और दया से समन्वित हो कर्म करने की अभिलाषा। इनका समावेश नित्यकर्मों में कर दिया गया था जिनके न करने से प्रत्यवाय लगता था।

पञ्चयज्ञांस्तु यो मोहान्न करोति गृहाश्रमी।
तस्य नायं न च परो लोको भवति धर्मतः ॥--शान्ति १४२।२६।

ये व्यास के "न तत् स्वयमश्नीयाद् विधिवद् यन्न निर्वपेत्"[3] आदर्श पर आधृत हैं।

वैश्वदेववलि द्वारा देवतृप्ति और लोक-कल्याण

पंच महायज्ञों में वैश्वदेववलि एक थी जो समस्त देवताओं के निमित्त होती थी। इसके द्वारा अधिक से अधिक देवों को तृप्त करने की योजना थी। सूत्रों के अनुसार वायु, विश्वेदेवों, पृथ्वी, एवं प्रजापति को समर्पित की जाने वाली वलि वैश्वदेववलि[४] थी। मनु ने इसे 'देववलि' भी कहा था[५] जिसमें देवताओं की सन्तुष्टि होम से माना था।[६] किन्तु महाभारत की—

श्वभ्यश्च श्वपचेभ्यश्च वयोभ्यश्चावपेद् भुवि।
वैश्वदेवं हि नामैतत् सायं प्रातर्विधीयते ॥—आरण्यक २।५७।

परिभाषा से ज्ञात होता है कि युधिष्ठिर इन सबको देवतात्मक समझ कर इनकी ही तृप्ति को समस्त देवताओं की तृप्ति मानते थे। अनुशासन पर्व में वैश्वदेवों की वलि का गृह्यसूत्रों (अनु० ९७।९-१२) की विधि से विधान है, किन्तु वहाँ पर भी युधिष्ठिर द्वारा कहा गया श्लोक उद्धृत किया गया है (वही २२)। अतः इससे भी मानव और प्राणियों की ही विशेष पूजा पर वल दृष्टिगोचर होता है।

---

१. शान्ति ३२३।२४।　　२. आरण्यक २९७।३९।
३. आरण्यक २।५६।
४. V.M. Apte : Social and Religious Life in Grihya Sutras, pp. 212, 213.
५. मनु ३।८४।　　६. होमैर्देवान् यथाविधि।—मनु ३।८९।

भूतयज्ञ से विश्व के समस्त प्राणियों का कल्याण

विश्व के समस्त भूतों की तृप्ति के लिए यथाशक्ति प्रयास करना गृहस्थ का धर्म था क्योंकि उसी से सबको आशाएँ थीं।[१] महाभारतकार ने भूतदया पर बल दिया था—

> दमान्वितः पुरुषो धर्मशीलो भूतानि चात्मानमिवानुपश्येत् ।
> गरीयसः पूजयेदात्मशक्त्या सत्येन शीलेन सुखं नरेन्द्र ॥—शान्ति २८०।२३।

अतः भूतयज्ञ द्वारा जल, वनस्पति, आकाश के लिए बलि देकर उनमें विद्यमान प्राणियों को, काम या मन्यु, तथा राक्षस समुदाय को भी तृप्त करने का विधान सूत्रकारों ने किया था।[२] मनु ने भी सर्वभूतों पर दया करके कुत्ते, पतित, चाण्डाल, पापी, रोगी, पक्षी एवं कृमि-कीटों के निमित्त भी, युधिष्ठिर के वैश्वदेव-बलि की भाँति पृथ्वी पर बलि रख देने को कहा था।[३]

भूतयज्ञ में विश्व के उन समस्त अवांछित तत्त्वों के प्रति दया, करुणा एवं अपार स्नेह की भावना निहित है जिनका समाज पर कोई भी प्रत्यक्ष उपकार नहीं। चराचर के प्रति सद्भावना प्रकट करने का इससे श्रेष्ठ, सुन्दरतर अथवा शिवतर निदर्शन सम्भवतः ही कहीं हो।

पितृ-यज्ञ द्वारा मृतकों के प्रति सद्भावना और आनुषंगिक लाभ

महाभारत में पितृ-यज्ञ का स्पष्ट उल्लेख नहीं। सम्भवतः 'पुत्रैः श्राद्धैः पितॄंश्चापि' (आदि १११।१४) कहकर पुत्रोत्पत्ति से पितृऋण तथा श्राद्ध से पितृ-यज्ञ का ग्रहण महाभारतकार को अभीष्ट था। पितृगणों के अतिरिक्त पुत्र, पत्नी, सखा, सम्बन्धी आदि सबकी मृत्यु पर किया जाने वाला श्राद्ध भी पितृ-यज्ञ की कोटि में आता था। लाक्षागृह में पाण्डवों सहित कुन्ती के;[४] सपक्ष-विपक्ष कौरवों के,[५] और वन में कुन्ती, धृतराष्ट्र तथा विदुर[६] के पितृलोक जाने पर श्राद्ध तथा पूर्त कर्मों का अनुष्ठान हुआ था।

पितृयज्ञ में समस्त मृत सम्बन्धियों को ध्यान में रख कर सम्पन्न किये जाने वाले श्राद्ध कर्मों में ब्रह्म-भोज तथा पूर्तकर्मों से लोक को भावात्मक लाभ के अतिरिक्त प्रत्यक्ष आनुषंगिक लाभ भी होता था।

---

१. शान्ति २३।४, ५।
२. V. M. Apte : Social & Religious Life in Grihya Sutra, pp. 212-13.
३. मनु ३।९२।
४. आदि १३७।१२-१४।
५. स्त्रीपर्व २६, २७।
६. आश्रमवा० ४७।१५-२२।

ब्रह्म-यज्ञ द्वारा विद्यारक्षा

ब्रह्म-यज्ञ को महाभारत में एक स्थान पर 'आत्मयज्ञ'[१] भी कहा गया है। मनु ने ऋषियज्ञ भी कहा था।[२] ऋषियों एवं मनीषियों से ब्रह्म-वेदादि का जो ज्ञान प्राप्त हुआ, वह समाप्त न हो जाये अतः उसके मनन, चिन्तन एवं निदिध्यासन से उसकी सुरक्षा हेतु ब्रह्म-यज्ञ का विधान किया गया था। स्वाध्याय ही ब्रह्मयज्ञ है। ज्ञान-संरक्षण के अतिरिक्त स्वाध्याय द्वारा प्राप्त ज्ञानराशि के संवर्धन, उसकी प्रयोगात्मकता के ज्ञान एवं अपनी आध्यात्मिक, नैतिक एवं व्यावहारिक उन्नति हेतु शास्त्रों का मनन तथा परिशीलन आवश्यक समझा जाता था। ब्रह्मचर्याश्रम में उपार्जित विद्या का प्रयोग नित्य, नैमित्तिक एवं काम्य कर्मों में होने के कारण, तद्गत शंकाओं के निराकारण, विनियोग में औचित्य-अनौचित्य के ज्ञान तथा ज्ञान के उपबृंहण के लिए ब्रह्म-यज्ञ का विधान सम्भवतः किया गया था।

नृयज्ञ द्वारा मानव का मानवतापूर्ण सम्मान

अतिथि सेवा नृयज्ञ है। अपनी लक्ष्य सिद्धि के लिए विचरण कर रहे किसी भी व्यक्ति को धरा पर कहीं भी कष्ट न हो, उसकी साधना और मनःकामना पूर्ण हो, इस उद्देश्य को लक्ष्य कर ऋषियों ने प्रत्येक गृहस्थ का द्वार उसके लिए खुले रखने की अनुमति दी थी। जो कुछ भी आतिथेय के पास हो उसी से अतिथि की सेवा की जा सकती है।[३] अतिथि बाल, वृद्ध[४] तपस्वी, भिक्षु अथवा कोई भी प्राणी[५] हो सेवा का अधिकारी था। अतिथि की यथाशक्ति संतुष्टि हेतु युधिष्ठिर ने कहा था—

देयमार्तस्य शयनं स्थित-श्रान्तस्य चासनम्।
तृषितस्य च पानीय क्षुधितस्य च भोजनम्॥
चक्षुर्दद्यान्मनो दद्याद् वाचं दद्याच्च सूनृताम्।
प्रत्युद्गम्याभिगमनं कुर्यान्न्यायेन चार्चनम्॥—आरण्यक २।५३-५४।

अर्थात् प्रत्येक प्राणी की समाज में प्रतिष्ठा हो, प्रत्येक व्यक्ति दूसरे के लिए ही जिये और अपने घर से बाहर निकलने पर किसी को किसी प्रकार का एकाकीपन अथवा दुःख की अनुभूति न हो यही अतिथि सत्कार या नृयज्ञ का उद्देश्य था।

---

१. आत्मनश्च यः।—आरण्यक २९८।२९।
२. मनु ३।८२,८३।
३. आश्रम ३३।३६।
४. आदि १९१।८।
५. आरण्यक २।५१।

वानप्रस्थ

गृहस्थाश्रम में त्यागमय भोग का आदर्श उपस्थित कर मानव को परमोद्देश्य आत्मसाक्षात्कार की दिशा में अग्रसर कराने के लिए वानप्रस्थ आश्रम का नियम विहित था। अपने को वली-पलित से युक्त तथा पुत्र-पौत्रों से समृद्ध देख कर गृहस्थ को चाहिए था कि वह अपना कार्यभार छोड़कर वन की ओर प्रस्थान करें।[1] इससे दो लाभ समाज को थे। प्रथम तो नई पीढ़ी के लोगों को कार्य, मुक्त संग होकर कर्म करने की प्रेरणा मिलती थी और कर्तव्य-निष्ठा की प्राप्ति होती थी। व्यक्तिगत रूप से तपस्वी भी समाज के ऊपर भार नहीं होता था[2] और न समाज की दृष्टि में हेय ही। अतः उसे जन-कोलाहल से दूर होकर आत्मोत्थान के लिए अवसर मिलता था।

संन्यास

संन्यास आश्रम व्यक्तिगत आध्यात्मिक चरमोत्थान का अन्तिम अवसर था। साथ ही संन्यासी का प्रमुख कर्तव्य था लोक के समक्ष निर्द्वन्द्व, मुक्त एवं त्यागमय जीवित आदर्श उपस्थित करना। वास्तव में न तो संन्यास अकर्मण्यता का नाम है और न मुक्ति ही अकर्मण्यता की स्थिति, अपितु यह ऐसा आश्रम समझा गया था जिसमें रह कर लोक के समक्ष निर्वैर, सर्वभूत हितैषी और अलिप्त जीवन का निदर्शन उपस्थित किया जा सकता था। संन्यासी का कर्तव्य था कि लोक-कल्याण के लिए वह शुभाशुभ कर्मों को निर्देश करे। व्यास ने यती को 'शुभाशुभनिदर्शक' स्वीकार किया था।[3] लोक-संग्रह संन्यासी जीवन का प्रमुख कर्तव्य था। अतः कृष्ण ने कहा था—

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद् विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥—गीता ३।२५।

गृहस्थादि को इस आदर्श की पूर्ति हेतु भले ही कम अवसर मिलता, किन्तु संन्यासी का तो जीवन ही इसीलिये था।

आश्रम व्यवस्था के अनुसार आचरण करने वाले द्विज का जीवन उत्तरोत्तर मुक्ति की ओर अग्रसर होता जाता था। स्वामी निखिलानन्द के अनुसार इस व्यवस्था से मानव पूर्ण-मानव बनता है और वह क्रमशः आदिम मानव से भद्र-मानव और भद्रमानव से अतिमानव की कोटि तक पहुँच जाता है।[4] अतः मानव जितना ही स्वार्थ त्याग करता हुआ अतिमानवता अथवा 'पुरुषोत्तम' की स्थिति की ओर अग्रसर होता जाता है, उससे लोक को अभय, करुणा आदि की उपलब्धि होती है, और कल्याण होता है।

---

१. शान्ति २३६।४ ; मनु ६।२।

२. C. V. Vaidya : Mahabharata : A Criticism, p. 179.

३. शान्ति २१०।५।

४. Hinduism, p. 70.

लोक में समर्थ व्यक्तियों द्वारा असमर्थों के भार-वहन का सिद्धान्त भी आश्रम व्यवस्था की उपज है। एक ही व्यक्ति अपने जीवन के विभिन्न कालों में समाज की सेवाओं का ग्रहण करता था और अपनी सेवाएँ भी समर्पित करता था। बाल्यकाल में समाज द्वारा पुष्ट वर्ग गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के लिए बाध्य था। जीवन से पलायन न हो, समाज में अकर्मण्यों एवं मिथ्याचारियों की वृद्धि न हो, सम्भवतः इसलिए भी ब्रह्मचर्याश्रम से संन्यास लेने का निषेध किया गया था।[१] इस भाँति सामाजिक भार के आदान-प्रदान से लोक को विकास का अवसर और कर्म की प्रेरणा मिलती थी।

वर्ण व्यवस्था

आश्रम व्यवस्था में जीवन के विविध क्षणों में आत्मोत्थानकारी कर्तव्यों का निर्देश कर लोक कल्याण का सम्पादन परम्परया कराया गया था। किन्तु वर्णव्यवस्था में लोकहित द्वारा आत्महित का विधान ऋषियों ने किया था। जिस व्यक्ति में प्राकृतिक रूप से जो गुण विद्यमान हैं और उनके अनुसार वह जिन कर्मों का सम्पादन कर सकता है, उसके लिए वही कर्म लोक-समर्पण की भावना से करने का आदेश दिया गया था।

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥—गीता १८।४६।

अर्थात् व्यक्ति जो कुछ भी कर सकता था सर्वथा अपने लिए न करके समाज के लिए करना उसका कर्तव्य निर्धारित किया गया था (उद्योग २९।२१-२४)। लोक को सबकी सेवाएँ अपेक्षित हैं। ये सेवाएँ बौद्धिक, शारीरिक, आर्थिक अथवा कलात्मक किसी भी प्रकार की क्यों न हों? सब परस्पर पूरक हैं। गुणकर्म के आधार पर[२] ही सर्वप्रथम मानव समाज को 'लोकहित'[3] के लिए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों में विभक्त किया गया था।

ब्राह्मण

शम, दम, तप, शौच, क्षान्ति, आर्जव, ज्ञान-विज्ञान एवं आस्तिक्य आदि जिनके गुण हों वे ब्राह्मण स्वीकार किये गये थे।[४] दूसरे शब्दों में जिनमें सत्त्व की प्रबलता थी वे ब्राह्मण माने गये थे।[५] सत्त्व गुण के शेष गुणों की अपेक्षा श्रेष्ठ होने से और इसकी ब्राह्मण में प्रधानता होने से ही वह पूज्य था।

---

१. उद्योग ३७।३५-३६; शान्ति १६९।६; मनु ६।३५, ३७।
२. चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः। गीता ४।१३।
३. मनु १।३१। ४. गीता १८।४२।
५. Religion and Society, p. 129.

सत्त्वाधिक मानव से निग्रहात्मक, संचयात्मक तथा सेवात्मक या विशेष शिल्प कार्यों का सम्पादन दुष्कर और अस्वाभाविक होने के कारण समाज की सात्त्विक सेवाएँ ली जाती थीं। अतः इनके लिए याजन, दान तथा अध्यापन ये तीन प्रमुख लोक-कल्याणकारी कर्मों के विधान की आशा थी।[१] स्वभावानुकूल होने से अधिकतम लाभ को ध्यान में रखकर इन कर्मों को केवल सत्त्वाधिक ब्राह्मण के लिए ही स्वीकार किया गया था। शेष वर्णों के लिए स्पष्ट निषेध था।[२]

क्षत्रिय

समाज के उन व्यक्तियों को जिनमें शौर्य, तेज, धृति, दाक्ष्य, युद्ध में स्थिति दान तथा शासन की क्षमता[३] थी अर्थात् जो रजोगुणी थे, लोकरक्षण का कार्य भार दिया गया। और उनका नाम क्षत्रिय अर्थात् 'क्षति से त्राण करने वाला'[४] रखा गया। बल से ही रक्षा हो सकती है, और उसी से बल का नियन्त्रण भी। अतः बल कहीं अनियन्त्रित होकर समाज का विनाश न कर दे, इसलिये उसका प्रयोग लोक-कल्याण के लिए 'परचक्राभिघात' तथा दुष्टनिरोध के लिए किया गया था। इस भाँति लोक का रक्षण, पालन[५] एवं रंजन[६] इनका धर्म था, जिसका अनुष्ठान करके इन्हें पुण्य मिल सकता था।[७] राजा के रूप में क्षत्रिय अपने संग्रहात्मक एवं दानात्मक कर्मों द्वारा भी लोक की सेवा करता था।[८]

वैश्य

ज्ञान तथा बल से समन्वित लोक को एक ऐसे समुदाय की भी आवश्यकता होती है जो समाज में अर्थ के संग्रह और वितरण की व्यवस्था कर सकें।[९] इस कर्म में 'दक्ष'[१०] लोगों को वैश्य कहा गया। अर्थ प्रदान अथवा अर्थव्यवस्था करने के कारण इन्हें लोक का 'पोषक'[११] माना गया था। कृषि, पशुपालन एवं वाणिज्य के माध्यम से ये लोक का पोषण करते थे। ये कर्म इनके लिए स्वाभाविक थे,[१२] अतः आपद्धर्म के अतिरिक्त किसी वर्ण को इनका आश्रय कभी न लेने का आदेश

---

१. आरण्यक १४९।३४-३६; आश्वमेधिक ४५।२२; उद्योग २९।२१।
२. शान्ति २८३।१, ३२९।७; उद्योग ७०।४७, १३०।२८।
३. गीता १८।४३।
४. उद्योग १३०।२९।
५. उद्योग १३०।२९; आरण्यक १४९।३५।
६. शान्ति ५७।११।
७. आदि १५०।२१-२५।
८. कर्ण २३।२३।
९. R. C. Majumdar : Corporate Life in Ancient India, p. 12; बृहदा० उप० १।४।१२-१३।
१०. दाक्ष्यं वैश्ये।—सौप्तिक ३।१९।
११. आरण्यक १४९।३५।
१२. कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।—गीता १८।४४।

भारतकार ने दिया।[१] धनार्जन अथवा अर्थसम्बन्धी समस्त कर्मों पर इनके ही विशेषाधिकार का अभिप्राय आत्मतुष्टि न होकर सर्वलोक तुष्टि थी।[२]

शूद्र

तीनों गुणों में से किसी के भी व्यक्त न होने अथवा तीनों के सम होने के कारण[3] जो व्यक्ति आध्यात्मिक, रक्षात्मक अथवा आर्थिक कार्य करने में असमर्थ रहे, या जो हिंसा, असत्यभाषण, लूट, अशौच आदि में ही रुचि रखते थे[४] उनका निग्रह करके तथा उनसे सेवात्मक कार्य करा करके लोक-कल्याण की योजना समाज ने बनाई थी। ये सेवक ही शूद्र कहे गये। प्रथमतः गुण साम्य के आधार पर कुछ भी न कर सकने के कारण किसी प्रकार उनसे सेवात्मक कर्म ही कराया जा सकता था। दूसरे हिंसा, असत्यादि से रुचि रखने के कारण भी ये निग्रह के पात्र थे और इनसे अधिक से अधिक सेवा अथवा लोकनिर्माण सम्बन्धी शिल्प कार्य ही कराये जा सकते थे, अन्य नहीं।

इनके दयनीय अवस्था में होने के कारण, इनकी जीविका का भार द्विजों पर आवश्यक रूप से डाला गया था।[५] वर्णशः लोक-कल्याण सम्पादन के साथ सामान्यतः भी वर्णव्यवस्था ने लोक का परम कल्याण किया था। महाभारतकाल में वर्णव्यवस्था को स्थायित्व देते समय संभव है ये उद्देश्य न रहे हों, किन्तु आधुनिक युग में, वर्ण-धर्म की विवेचना से निम्नलिखित तथ्य ज्ञात होते हैं—

व्यक्तिगत कल्याण का निर्णय

व्यक्ति अपने वर्ण के अनुसार प्राप्त कर्मों की पूर्ति में अपना कल्याण समझता है। रुचिकर काम मिलने पर व्यक्ति अधिक उत्पादन कर लोक का भी अतिशय कल्याण करता है। वर्णव्यवस्था से यह शंका समाप्त हो जाती है कि किसके लिए क्या कल्याणप्रद है? क्योंकि इस व्यवस्था में यह स्पष्ट कर दिया गया था कि व्यक्ति अपने गुण तथा स्वभाव के अनुसार कर्म करें इसी में उसका कल्याण है।[६]

विविध आवश्यकताओं की पूर्ति

प्रत्येक व्यक्ति की यथासम्भव सेवाओं को स्वीकार कर तत्कालीन समाज ने आध्यात्मिक, वैज्ञानिक, धार्मिक आदि आवश्यकताओं की पूर्ति ब्राह्मण वर्ण से, रक्षात्मक, निग्रहात्मक एवं पालनात्मक समस्याओं का समाधान क्षत्रिय वर्ण से,

१. शान्ति ७९।२८३।३। २. उद्योग २९।२३।१३०।२८।
३. Religion and Society, p. 129. ४. शान्ति १८९।१३।
५. अवश्यमरणीयो हि वर्णानां शूद्र उच्यते॥—शान्ति ६०।३१।
६. स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः॥—गीता १८।४५।

आर्थिक एवं पोषणात्मक आवश्यकताओं को वैश्य तथा सेवात्मक और शिल्पकर्म की आवश्यकताओं की पूर्ति शूद्रों से यथासम्भव मात्रा में करा लिया था। जिसके पास जो कुछ भी था उसका समाजपुरुष को समर्पण अनिवार्य था।[1]

परस्पर मैत्री एवं सद्भावना

यद्यपि चारों वर्णों की एक ही विराट् पुरुष के विभिन्न अंगों से उत्पत्ति मानी गई थी[2] और इसके मूल में मैत्रीभाव तथा एकता ही निहित थी,[3] तथापि ब्राह्मण[4] और सूत्रकाल[5] में शूद्रों या अन्त्यजों के प्रति जो घृणा उत्पन्न हो गई थी, परिस्थितिवशात् ही सही, उस भावना के मूलोच्छेद हेतु महाभारतकार कटिबद्ध थे। परस्पर उच्चावचता तथा भेदभाव की समाप्ति-हेतु ही उन्होंने 'न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्'[6] तथा

> ब्रह्मास्यतो ब्राह्मणाः सम्प्रसूताः बाहुभ्यां वै क्षत्रियाः सम्प्रसूताः।
> नाभ्यां वैश्याः पादतश्चापि शूद्राः सर्वे वर्णा नान्यथा वेदितव्याः॥
>
> —शान्ति ३०६।८७।

तथ्य पर बल दिया था।

डा० अय्यंगर[7] तथा डा० वी० के० आर० वी० राव[8] जैसे आधुनिक चिन्तकों ने भी उपर्युक्त घोषणा को स्वीकार करते हुए अपने वर्ण तथा जाति में विद्यमान रहने पर उससे प्राप्त सुरक्षा और आत्मीयता पर विशेष बल दिया है। हमारे व्यवहार ने आज परिस्थितिवशात् भले ही जातिवाद को समाज का अत्यन्त हेय अंग समझा हो, और भले ही आज उसने समाज का शत्रु बनकर ऊँच-नीच का भाव पैदा कर दिया हो, किन्तु उसका वास्तविक आधार महाभारतकार के मतानुसार ही था। डा० राव का मत है कि 'अगर जाति प्रथा को नष्ट करना है, तो उसके स्थान पर कुछ दूसरे सामाजिक समुदायों को जन्म देना होगा, जो एक उपजाति के समान ही लोगों में अपनत्व की भावना पैदा करें।............जो

---

१. K.V. Rangaswami Aiyangar : Indian Inheritance, Vol. I, p. 27.
२. ऋ० १०।९०।
३. Anie Beasant : Brahmavidya, p. 139, Vol. XII, part 3, lst October, 1948.
४. G.S Ghurye : Caste and Class in Ancient India, pp. 52-62.
५. गौ० ध० सू० १।९।१७-१८। ६. शान्ति १८९।१०।
७. Indian Inheritance, Vol. III, p. 25.
८. जातिवाद की समस्या : हिन्दुस्तान साप्ताहिक—२१ जनवरी, १९६२।

व्यक्ति को किसी बृहत्तर प्रत्यक्ष और अनुभवगम्य संगठन का सदस्य होने का सन्तोष दें।'[१]

वर्ण-व्यवस्था और लोक की चतुर्वर्ग-प्राप्ति

वर्ण-व्यवस्था द्वारा सामूहिक रूप से लोक की चतुर्वर्ग-सिद्धि होती थी। अय्यंगर महोदय के मतानुसार ब्राह्मणवर्ण प्रधानतः धर्म के लिए, क्षत्रिय एवं वैश्य अर्थ तथा काम के लिए और शूद्र केवल काम की सिद्धि के लिए थे।[२] इस भाँति प्रत्येक वर्ण स्वधर्म के अनुष्ठान और स्वकीय उपलब्धियों से लोक को समृद्ध करता था और लोक की सर्वांगीण उन्नति होती थी। स्वधर्म का अनुष्ठान करता हुआ प्रत्येक वर्ण मोक्ष का अधिकारी था।[3] मुक्ति किसी के कुल, जन्म अथवा वैभव की अपेक्षा नहीं करती।

महाभारतकालीन लोक की उन्नति का प्रमुखतम उपाय

महाभारतकाल में राजाओं में साम्राज्यैषणा बढ़ती ही चली जा रही थी और प्रत्येक राजा अपने समीपवर्ती राज्य की दुर्बलता का लाभ उठाने के लिए प्रयत्नशील रहता था। ऐसे अशान्ति के काल में लोक की उन्नति की दृष्टि से भी वर्णव्यवस्था की अत्यन्त आवश्यकता थी। कल्याण के लिए आवश्यक था कि समाज के कुछ व्यक्ति आध्यात्मिक उत्थान में लगें, कुछ रक्षात्मक, कुछ आर्थिक एवं कुछ औद्योगिक तथा कलात्मक में। रक्षा बाह्य आक्रमणों तथा आन्तरिक उपद्रवों दोनों से आवश्यक थी। यदि सब लोग लड़ने अथवा आध्यात्मिक कार्य करने या अन्य कर्मों में एक साथ ही दत्तचित्त हो जायें तो उत्पादन अव्यवस्थित हो जायेगा, मांग एवं पूर्ति में संतुलन न हो सकेगा, और राष्ट्र की उन्नति न हो सकेगी।[४] कुछ के कुछ-कुछ कामों में लगने पर समस्त कार्य एक साथ सम्पन्न हो सकेगा। वर्ण-व्यवस्था में इसी प्रकार की प्रक्रिया दृष्टिगोचर होती है। अतः महाभारतकालीन संघर्षमय समाज की सर्वांगीण उन्नति के लिए वर्णव्यवस्था वरदान थी। महामहोपाध्याय शर्मा के मतानुसार[५] भी '........वर्णव्यवस्था में नैतिक दृष्टि से यह बड़ा लाभ है कि आपत्ति का समय हो चाहे सम्पत्ति का, शिल्प, व्यापार पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। शासन बल युद्ध में संलग्न

१. जातिवाद की समस्या : साप्ताहिक हिन्दुस्तान—२१ जनवरी, १९६२।
२. Indian Inheritance, Vol. III, p. 26.
३. उद्योग ४०।२६।
४. डा० बेनीप्रसाद : हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता, पृष्ठ ४४-४५।
५. म० म० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी : वैदिक विज्ञान एवं भारतीय संस्कृति, पृ० २०७-८।

रहेगा और दूसरे वर्णों की अनुयायिनी दूसरी जातियाँ अपना-अपना कर्तव्य पालन करती रहेंगी।'

अतः महाभारतकालीन सामाजिक संस्थाएँ ही इस प्रकार की लोकहितकारी दृष्टिगोचर होती हैं जिनमें व्यक्ति आत्मोत्थान के लिए सतत प्रयत्नशील रहते हुए भी दूसरे की पुरुषार्थ सिद्धि में बाधक नहीं होता। सबको समान रूप से आत्मकल्याण और लोककल्याण हेतु स्वतन्त्रता थी।

नारी के विविध रूप और उसके द्वारा लोक-कल्याण विधान

समाज अथवा लोक में एक विशेष भाग नारी जाति है। अतः उनका कल्याण तथा उनके द्वारा कल्याण लोक-कल्याण में महत्त्व का स्थान रखता है।

नारी के अनेक रूप

नारी अनेक रूपों में दृष्टिगोचर होती है। वह कन्या है, पत्नी है और जननी है। इन्हीं तीन रूपों का विशेष वर्णन उपलब्ध है। कन्या परम पवित्र और पूज्य मानी जाती थी। इसको दुःख देना ब्राह्मण एवं गौ को दुःख देने के समान महान् पातक समझा जाता था जिसके फलस्वरूप इनका बाधक नरक का भागी समझा गया था।[१] माता समर्थ एवं असमर्थ किसी भी प्रकार के पुत्र की रक्षिका थी।[२] महाभारतकार के शब्दों में—

नास्ति मातृसमा छाया नास्ति मातृसमा गतिः।
नास्ति मातृसमं त्राणं नास्ति मातृसमा प्रपा॥—शान्ति २५८।२९।

इसी प्रकार भार्या के रूप में भी नारी प्रशस्त थी। सन्तति-वृद्धि के लिए भी पुरुष को उसकी उतनी ही आवश्यकता थी जितनी उसे पुरुष की। अतः लोकवृद्धि के लिए स्त्री और पुरुष दोनों की समान प्रतिष्ठा थी।[३] अनुरक्त, हित-साधना में रत, स्निग्ध एवं पतिव्रता स्त्री अस्वास्थ्य व विपन्नावस्था में ओषधि मानी गई थी।[४]

वस्तुतः नास्ति भार्यासमो बन्धुर्नास्ति भार्यासमा गतिः।
नास्ति भार्यासमो लोके सहायो धर्मसाधनः॥—शान्ति १४२।१०।

समाज में नारी

समाज में नारी का स्थान महत्त्वपूर्ण था। 'अदुष्टा हि स्त्रियो रत्नम्'[५] की धारणा लोक में स्थापित हो चुकी थी। इन्हें भी अग्निहोत्रादि करने का अधिकार

---

१. अनुशासन २३।७५। २. शान्ति २५८।२७।
३. शान्ति २९३।१३-१४। ४. शान्ति १४२।९।
५. शान्ति १५९।३०।

था।[1] युद्ध में अथवा अन्यत्र कहीं भी स्त्रियाँ अवध्य थीं।[2] स्त्रियों का विक्रय निन्द्य था।[3]

इन्हें समाजों[4] एवं उत्सवों में,[5] पुरुषों के साथ युद्ध क्षेत्रों और शिविरों में, जाने की छूट थी।[6] नारी में लोक, सन्तति तथा सुख की प्रतिष्ठा मानी गई थी—

यस्यां लोकाः प्रसूतिश्च स्थिता नित्यमथो सुखम् ॥—आदि १४५।३७।

सामाजिक कार्य की शक्यता

नारियाँ यद्यपि 'गृहदीप्ति'[7] मानी गई थीं और उनके जीवन की सफलता 'रतिपुत्रोत्पादन'[8] में ही समझी गई थी तथापि वे सामाजिक कल्याण के कार्य करने में समर्थ थीं। श्रीमती डा० भवालकर के शब्दों में—"समाज से समाज-कल्याण के ऐसे कोई केन्द्र पृथक् नहीं थे जहाँ कार्य करने के लिए नारी को अपने घर से बाहर जाना पड़े। गृहस्थाश्रम ही समाजकल्याण की प्रधान संस्था थी, और प्रत्येक घर समाजकल्याण का एक केन्द्र था। अन्य आश्रमवासियों का भरणपोषण, भिक्षा-बलि द्वारा समस्त प्राणियों के प्रति कारुण्यभाव, अतिथि-सत्कार आदि गृहस्थाश्रम के धर्मकृत्यों द्वारा होने वाली समाज सेवा प्रत्येक गृहणी से अपेक्षित थी।"[9]

लोक-कल्याण में नारियों का योग

सन्तति-वृद्धि के अतिरिक्त अन्य उपायों से भी स्त्रियों ने लोककल्याण किया था। अरुन्धती ने तीव्र तपस्या करके बारहवर्ष के अकाल की समाप्ति, इन्द्र को प्रसन्न करके, कराई थी।[10] लोकहितार्थ विनाश को टालने के लिए मृत्युदेवी सदृश मानवेतर नारियों का दुश्चर तप[11] तथा परशुराम द्वारा पृथिवी निःक्षत्रिय होने पर ब्राह्मणों से सन्तानोत्पादन करके चातुर्वर्ण्य की पुनः संस्थापना कराने वाली क्षत्राणियों के शुभकर्म[12] नारियों द्वारा सम्पन्न किये गये लोक कल्याण के ज्वलन्त उदाहरण हैं।

---

१. आरण्यक २७७।२८।
२. अवध्यास्तु स्त्रियः सृष्टाः मन्यते धर्मचिन्तकाः।—आदि २०९।४।
३. आदि २१३।४।		४. आदि १२४।१४।
५. आदि २११।६,१२; आश्वमे ५८।८,९।
६. महाभारत में नारी—पृ० १००-१०८।		७. उद्योग ३८।११।
८. रतिपुत्रफलाः दाराः।—सभा ५।१०१।
९. श्रीमती डा० वनमाला भवालकर : महाभारत में नारी, पृ० ८९।
१०. शल्य ४७।३०-३७।		११. शान्ति २५०।१६-१७।
१२. आदि ५८।५-८।

महाभारतीय नारियों ने अपनी मर्यादा के भीतर रह धर्मवेदी, गृह या अन्तःपुर से लेकर अरण्य और शिविरों तक पुरुष का साथ दिया और आवश्यकता होने पर गान्धारी, कुन्ती और विदुरा सा उपदेश देकर कर्तव्यच्युत पुरुषों को कर्मठता एवं लोकहित का पाठ पढ़ा कर लोक का महान् उपकार किया था।

धार्मिक-प्रवृत्तियाँ

लोक-कल्याणकारी सामाजिक प्रवृत्तियों के साथ ही तत्कालीन धार्मिक प्रवृत्तियाँ भी लोककल्याणकारी ही थीं। किसी व्यक्ति विशेष की आस्था और विश्वास पर न होकर तत्कालीन धर्म लोक-विश्वास एवं लोकभावना पर आधृत था। अतएव वह लोक-सुलभ भी था।

देवपूजा

देवपूजा धर्म का प्रमुख अंग रहा है। महाभारत में भी देवाराधना धर्म्य समझा गया था। इसमें अनेक देवताओं की पूजा का उल्लेख है। कोई भी व्यक्ति किसी देवता की पूजा अर्चना यथाशक्ति करके अपने अभीष्ट की सिद्धि करने के लिए स्वतन्त्र था। एक ही व्यक्ति यथावसर विभिन्न देवताओं की पूजा कर सकता था। इन्द्र,[१] अग्नि,[२] सूर्य,[३] अश्विनी कुमार,[४] यक्ष,[५] शिव आदि देवताओं की उपासना के वर्णन मिलते हैं। सम्प्रदायों के विश्वासों और मान्यताओं का संघर्ष नहीं दृष्टिगोचर होता, अपितु भिन्न-भिन्न धर्मों में विद्यमान गुणों को ग्रहण कर सुन्दर से सुन्दरतर, शिव से शिवतर एवं अपूर्ण से पूर्ण की ओर ही प्रवृत्ति धर्मावलम्बियों में थी। उन्होंने उसे देश, काल, जाति, कुल आदि के अनुसार ढालने की चेष्टा की जिससे परस्पर संघर्ष और द्वेष की भावना समाप्त हो और लोक का कल्याण हो सके। महाभारतकार के शब्दों में—

धर्मं यो बाधते धर्मो न स धर्मः कुधर्म तत्।
अविरोधी तु यो धर्मः स धर्मः सत्यविक्रम॥
विरोधिषु महीपाल निश्चित्य गुरुलाघवम्।
न बाधा विद्यते तत्र तं धर्मं समुदाचरेत्॥
गुरुलाघवमाज्ञाय धर्माधर्मविनिश्चये।
यतो भूयांस्ततो राजन्कुरु धर्म-विनिश्चयम्॥—आरण्यक १३१।१०-१२।

---

१. आश्वमे ५७।२७,३१। २. आश्वमे ५७।४२-४३।
३. आरण्यक ३।१४, १६-२९।
४. आदि ३।५९-७६; आरण्यक १२३।११। ५. आरण्यक ६१।१२३।

वैदिक कालीन देवताओं की पूजा की स्वतन्त्रता होने पर भी महाभारत-कालीन समाज यक्ष तथा शिव की पूजा में विशेष रुचि रखने लगा था। राष्ट्रीय उत्सवों में विशेष रूप से पूज्य यक्ष या शिव ही थे। इसका यथावसर वर्णन उत्सवों से सम्बद्ध अध्याय में किया जायेगा। मरुत्त,[१] अर्जुन,[२] कृष्ण[३] आदि भी शिव को महादेव, महेश्वर आदि के रूप में पूजने लगे थे। अम्बा ने शिव को तथा द्रुपद ने सभी देवताओं की आराधना इष्ट सिद्धि के लिए की थी।[४] इस प्रकार अनार्यों' के जिस देवता को 'शिश्नेदेवाः' कह कर उपेक्षित कर दिया गया था, उनके भी पूजकों के परितोषार्थ लोक का प्रयास ज्ञात होता है। अनार्यों अथवा शूद्रों द्वारा वैदिक देवताओं की पूजा भले ही न की गई हो, किन्तु द्विजवर्णों द्वारा अवैदिक देवताओं का पूजन लगभग सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है।

शंकर की पूजा के अतिरिक्त नर और नारायण, तथा नारायण के अवतार कृष्ण पुराण-पुरुष के रूप में पूजित हो चले थे (आरण्यक ४५।१८-२५)। 'भुवि भौम सुखावह'[५] होने के साथ ही वे दिव्यदृष्टि,[६] योगी,[७] गोवर्धनधर,[८] तीनों लोकों के चतुर्विध भूतों के प्रभव और निधन,[९] प्रजापति,[१०] यज्ञस्वरूप,[११] दिव्य तथा मानुष भूतों के ईश[१२] आदि रूपों में भी उनकी प्रतिष्ठा थी। कृष्ण ने अपना दिव्य रूप द्रोण, भीष्म, विदुर, संजय[१३] आदि को, अर्जुन,[१४] भीष्म,[१५] उत्तंक[१६] को प्रकट कर तथा शिशुपाल के तेज को लोक के समक्ष ही आत्मसात्[१७] कर अपने ईश्वर रूप को स्पष्ट कर दिया था। कृष्ण तत्कालीन लोक के जीते-जागते, और लौकिक व्यवहारों में सखा, बन्धु आदि के रूप में आने वाले देवता थे। वस्तुतः वे लोक के हो गये थे और लोक उनके रूप में हो गया था। कृष्ण तत्त्व में वैदिक कालीन बहिर्मुखी तथा उपनिषत्कालीन अन्तर्मुखी प्रवृत्तियों का समन्वय था। प्रो० सूकथनकर के मतानुसार उपनिषदों में 'चरम तत्त्व' (Ultimate Reality) मानव के हृदय का 'बन्दी' हो गया था और योगी का हृदय ही हो गया

---

१. आश्वमे ८।३०-३१। २. आरण्यक—कैरातपर्व।
३. अनुशा० १४, १५। ४. उद्योग १८८।६-१३; १९२।१२-१७।
५. सभा ३५।१५। ६. मौसल ५।१६।
७. मौसल ५।२३; स्वर्गा ५।२०। ८. सभा ३८।९।
९. सभा ३७।१४। १०. आश्वमे ७०।२१।
११. वही। १२. आरण्यक १३।५२।
१३. उद्योग १२९।१२-१३। १४. भीष्म ३३।
१५. शान्ति ५१।१०-१३। १६. आश्वमे ५४।३-१२।
१७. यद्विवेशमहाबाहुं तत्तेजः।—सभा ४२।२४।

था विश्व (Universe), किन्तु इतिहास काल में 'अन्धगृह के राजा' (King of the Dark-Chamber) को प्रकाश में लाया गया जिससे वह स्पष्ट रूप से दृष्टि में आ सके और उसके दर्शन के लिए विकल श्रद्धालु भक्त उन्हें नयन भर देख लें और उनकी रूपसुधा का पान कर कृतकृत्य हो जायें। इसी भावना की अभिव्यक्ति 'कृष्ण' नामक भगवत्तत्त्व में हुई थी।[१]

भीष्म,[२] युधिष्ठिर,[३] द्रौपदी[४] आदि को कृष्ण की भगवत्ता का ज्ञान था। किन्तु सामाजिक अथवा धार्मिक कार्यों के अवसर पर राजाओं द्वारा लोक में मान्य लगभग सभी सम्प्रदायों के प्रतिनिधि देवताओं का पूजन होता था। युधिष्ठिर के अश्वमेध में अग्नि आदि वैदिक देवताओं की घृतादि से तथा गिरीश, उनके किंकर यक्षेत् कुबेर, मणिभद्र, रुद्र आदि की भी यथाविधि पूजा की गई थी।[५]

अतः महाभारत में ऐसे देवता अथवा देवताओं की प्रतिष्ठा प्रारब्ध हुई थी जिनके उपासक भिन्न-भिन्न वर्ण, वर्ग अथवा जाति के हो सकते थे, जो लोक कल्याण में समर्थ थे, जिनकी प्रसन्नता के लिए भावों का उपहार मात्र पर्याप्त था, और जिनकी पूजा से समस्त पापयोनि के लोग भी सद्यः साधु हो सकते थे।[६] ये देवता लोक के थे और लोक का कल्याण इनका प्रमुखधर्म था।

यज्ञ

यज्ञ, अग्निहोत्र आदि विधिवत्, सम्पादित कर्मों से देवता और पितृगण तृप्त होते हैं।[७] इनको प्रसन्न करने का प्रमुखतम साधन यज्ञ ही है क्योंकि देवता अग्निमुख कहे गये हैं।[८] अतः यज्ञ ब्रह्मवध सदृश पापमोचन में समर्थ परम पवित्र कर्म समझा गया था।[९]

यज्ञों का विधिवत् तथा विधिविहीन रीतियों से सम्पादन करने पर उसका पुण्य और पाप एक को न होकर समस्त लोक को लगता है ऐसी मान्यता थी।[१०] यज्ञादि कर्मों के अभाव में प्रजा को कष्ट होता है।[११] अतः व्यास ने सम्पूर्ण जगत्

---

१. V.S Sukthankar : On the Meanings of the Mahabharata, pp. 94-95.

२. सभा ३५।१०-२३।
३. आश्वमे ७०।२१।
४. आरण्यक १३।४३-५२।
५. आश्वमेधिक ६४।१-८।
६. गीता ९।२६, २९-३३।
७. आदि ७।६-७।
८. शान्ति ३२८।५३।
९. शान्ति ३२९।२९।
१०. सभा १२।२४।
११. आदि ७।१३।

को यज्ञों के आश्रित कहा था[1] और स्तेन, पापी अथवा 'पापकृत्तम' सर्व की पाप विमुक्ति का साधन घोषित कर[2] निम्नलिखित विधान किया था—

सर्वथा सर्ववर्णैर्हि यष्टव्यमिति निश्चयः ।
न हि यज्ञ-समं किंचित्त्रिषु लोकेषु विद्यते ॥—शान्ति ६०।५१ ।

संहिताकालीन ऋषियों तथा पूर्वमीमांसकों के मतानुसार, महाभारतकार ने भी यज्ञ को ऐहिक तथा स्वर्गसुखों का साधन स्वीकार किया था।[3] निःसंदेह लोक इनके आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक, शैक्षणिक, स्वास्थ्यसम्बन्धी आदि महत्त्वों से पूर्ण परिचित था जिनका विवरण यथावसर अगले अध्याओं में किया जायेगा।

महाभारत में आरम्भ यज्ञ, हविर्यज्ञ, परिचार यज्ञ, जपयज्ञ,[4] तथा द्रव्ययज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याययज्ञ, ज्ञानयज्ञ[5] आदि यज्ञों के विविध रूपों और अर्थों का निर्देश कर दिया गया था, जो इसके समय में अथवा इसके पूर्व प्रचलित थे। इन सबसे लोक का कल्याण होता था, कुछ से साक्षात् तथा कुछ से परम्परया किन्तु—

ये यजन्ति पितॄन् देवान् गुरूंश्चैवातिर्थीस्तथा ।
गाश्चैव द्विजमुख्यांश्च पृथिवीं मातरं तथा ।
कर्मणा मनसा वाचा विष्णुमेव यजन्ति ते ॥—शान्ति ३३३।२४ ।

सिद्धांत के द्वारा मिथ्याचार को समाप्त करके प्राणियों में सद्भावना और परस्पर त्याग तथा प्रेम की शिक्षा दी थी जिससे लोक का महान् कल्याण सम्भव था और रहेगा।

राजा विचरनु के पशुहिंसा विरोधीमत,[6] ऋषि देव सम्वाद,[7] नकुलोपाख्यान,[8] अगस्त्य के द्वादशवार्षिक[9] तथा उपरिचर[10] के वीज यज्ञों के वर्णनों का समावेश कर सात्त्विक यज्ञों की परिपाटी व्यास ने डालनी चाही थी जिससे मानव-लोक के साथ ही पशु-लोक का भी कल्याण सम्भव होता।

तीर्थ

यज्ञ-सम्पादन के लिए अपेक्षित आवश्यक सामग्री तथाशक्ति लोकसुलभ नहीं अतः उसका विधान विशेपतः राजाओं के लिए[11] किया गया था। किन्तु यज्ञफल

---

१. अनु यज्ञं जगत्सर्वम् ।—शान्ति २६०।३३ । २. शान्ति ६०।५० ।
३. शान्ति १५९।४८ । ४. शान्ति २३०।१२ । ५. गीता ४।२८ ।
६. शान्ति २५७।१-११ । ७. शान्ति ३२४।४,५; आश्व ९४ ।
८. आश्वमे—नकुलोपाख्यान ९२,९३ । ९. आश्वमे ९५ ।
१०. शान्ति ३२३।५,१० । ११. यज्ञे सक्ता नृपतयः ।—आश्वमे ९४।१ ।

स्वर्ग से दरिद्र वर्ग वंचित न रहे, अतः यज्ञफल अथवा उससे भी उत्कृष्टतर फल-दायी तीर्थों का विधान परम कारुणिक ऋषि ने किया था।[1]

दूसरी बात यह थी कि सब प्रकार के यज्ञों के अधिकारी सब वर्ण नहीं थे।[2] इसलिए आवश्यकता थी एक ऐसी मान्यता की जो यज्ञ का स्थानापन्न हो सकती और जिसे शूद्र, वैश्य सदृश जन भी पूर्ण स्वतन्त्रता पूर्वक अपना सकते। इस अभाव की पूर्ति तीर्थों ने कर दी थी। सर्वत्र चतुर्वर्ण के लोग जाकर पुण्य लाभ कर सकते थे। पुष्कर तीर्थ के प्रसंग में कहा गया था—

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रो वा राजसत्तम।
न वियोनिं व्रजन्त्येते स्नातास्तीर्थे महात्मनः ॥—आरण्यक ८०।५१।

तीर्थ चतुर्वर्ण के उद्धार के साधन सिद्ध होते हैं।

तीर्थ का अधिकारी होने के लिए वर्णविशेष में जन्म आवश्यक नहीं था। न यही विधान था कि कोई पापी मनुष्य वहाँ नहीं जा सकता। किन्तु तीर्थों का फल उसी को पूर्णतः मिलना था जो हाथ से पाप नहीं करते, पैर से कुमार्ग पर नहीं चलते, मन से संयत हैं, जो विद्या, तप, तथा कीर्ति युक्त हैं, जो दान से निवृत्त, संतुष्ट, नियत, शुचि, अहंकार-विहीन, लघ्वाशी, जितेन्द्रिय, अक्रोधी, सत्यशील एवं दृढ़व्रत हैं।[3] तीर्थों को गमन के पूर्व समस्त सात्विकगुणों एवं धर्माचरणों से युक्त होने का विधान कर मानव को पूर्ण मानव बनाने की चेष्टा की गई थी।

तीर्थस्थान किसी तपस्वी के तपःस्थल, पुण्यनदी, आश्रम या किसी कर्मठ व्यक्ति द्वारा बनवाये गये सरोवर आदि ही थे, जहाँ पर उनसे सम्बद्ध व्यक्तियों के लक्ष्य सिद्ध हुए थे। वहाँ पहुँचने पर उनके कर्म में आस्था होती है, मन उनकी ओर आकृष्ट होता है, और शनैःशनैः जीवन में उन पुण्य पदार्थों के दर्शन, स्पर्शन आदि से तथा वहाँ तर्पण रात्रिवास, दान एवं ब्रह्मभोज आदि से पापों-व्याधियों का क्षय और पुण्य का संचय होता है, शरीर और मन शुद्ध होता है।

महाभारतकार के 'पुण्यदेशाभिगमनं पवित्रं परमं स्मृतम्'[4] इस कथन का पूर्ण अभिप्राय शुक्रनीतिसार में—

अनेकाश्च तथा धर्माः पदार्थाः पशवोनराः।
देशाटनात् स्वानुभूताः प्रभवन्ति च पर्वताः ॥—३।१३१।

कहकर प्रकट किया गया था और तीर्थों का सांस्कृतिक महत्त्व समझाया गया था।

तीर्थों के दर्शन से देश के स्थल-स्थल पर पवित्रता के भाव, देशप्रेम और

---

१. आरण्यक ८०।३७,३८। २. उद्योग २९।२४; शान्ति ६०।३६-३९।
३. आरण्यक ८०।३०-३३। ४. शान्ति १४७।८; आरण्यक ८०।३८।

तत्तत् स्थलों से सम्बद्ध कर्मों के श्रवण से उत्साह जागृत होते हैं। अतः जीवन में शुभकर्मों के प्रेरणास्रोत वनकर तीर्थों ने लोककल्याण में महान् सहयोग दिया था।

दार्शनिक प्रवृत्तियाँ

ऐसे परम तत्त्व अथवा रहस्य का ज्ञान कराने वाली विद्या को जिससे मनुष्य दुःखों से सर्वथा मुक्त हो सकता है, दर्शन कहते हैं। छान्दोग्य के नारद[१], कठ के नचिकेता,[२] वृहदारण्यक की मैत्रेयी,[३] कपिल,[४] गौतम,[५] पतंजलि,[६] बुद्ध,[७] आदि सव ने इसी को श्रेष्ठ पुरुषार्थ समझा था।

महाभारत में चार्वाक,[८] योग-सांख्य,[९] पांचरात्र[१०] आदि विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों का उल्लेख है। किन्तु सर्वत्र इनके समन्वय पर वल दिया गया जिससे लोक में न तो प्रवृत्ति प्रधान सम्प्रदायों का अनर्थ ही फैल सके और न निवृत्ति-मार्गियों की अकर्मण्यता ही। अतः—

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥—गीता ३।४।

कह कर— तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥—गीता ३।१९।

सिद्धान्त प्रतिपन्न हुआ, जिसे 'ज्ञानकर्मसमुच्चय' कह सकते हैं। वस्तुतः इसी आदर्श के अनुसार जीवन-यापन से लोक का कल्याण सम्भव समझा गया था। ज्ञान-पूर्वक अथवा लोकसमर्पण-पूर्वक किया गया कर्म 'परम' की प्राप्ति का साधन कहा गया था।[११]

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप॥—गीता २।३।

में ईशोपनिषद् के 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः' तथा कठ के 'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निवोधत' की आत्मा निहित थी। 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' (गीता २।४७) का सिद्धान्त मानवगत कार्पण्य, असामर्थ्य और आसक्ति

१. छान्दो ७।१।३। २. कठ १।१।२२।
३. वृहदा० उप० २।४।३। ४. सांख्यसूत्र १।
५. न्यायसूत्र १, २। ६. योगसूत्र २।१५-१७, २४, २६।
७. जननमरणयोरहष्टमारो नाहंपुनः कपिलाह्वयं प्रवेष्टा।
८. शान्ति ३९।३३,३९। ९. आरण्यक २।१४; गीता ३।३।
१०. शान्ति ३२२।२४। ११. गीता ३।१९; ४।२०,२२।

की भावना को दूर कर लोक-समर्पणबुद्धि से कर्म करने के लिए नव चेतना एवं प्राण का संचार करता है।

ऐसे दर्शन को जीवन में उतारने के लिए किसी 'गुहा', 'मन्दिर' अथवा चैत्य में बैठने की नहीं, 'कुरुक्षेत्र'—कर्तव्यक्षेत्र में उतरने की आवश्यकता थी। समस्त जगत् के भूतों में प्रभु को और प्रभु में भूतों को समझ कर आचरण करना मात्र पर्याप्त था।[१] कृष्ण के 'मानवीकृत ईश्वर' और 'ईश्वरीभूत-मानव'[२] होने का यही तात्पर्य था और इसमें रहस्य था 'लोक-संग्रह'[३]।

अतः महाभारत में ऐसे 'दर्शन' का दर्शन होता है जो लोक-कल्याण का प्रतिपादक था। इस दर्शन का उद्देश्य लोक और लोकहितकर कर्मों से नहीं स्वार्थ, अकर्मण्यता से पलायन, और निःस्वार्थबुद्धि से भूतसेवा, सर्वभूतरति अथवा लोकहित-हेतु आत्म समर्पण था। इससे केवल साधक-विशेष का ही नहीं अपितु सम्पूर्ण लोक का कल्याण सम्भव था।

महाभारत का जीवन दर्शन किसी वर्ण, वर्ग अथवा व्यक्ति विशेष के लिए नहीं था। वह सबका था और सबके लिए था। इससे निःश्रित प्रसन्न पुण्य सलिला पतितपावनी भक्ति भागीरथी 'सुदुराचार' को भी शीघ्र ही 'साधु'[४] बना देती थी, धर्मात्मा और अमर बना देती थी। पापयोनि वैश्य, शूद्र एवं स्त्री सब 'परागति' को प्राप्त कर[५] सकते थे। और कुत्ता भी स्वर्ग जा सकता था।[६]

कर्म और पुनर्जन्म का सिद्धान्त

कर्म एवं पुनर्जन्म के सिद्धान्त ने प्रायः सब दार्शनिक सम्प्रदायों का ध्यान आकृष्ट किया था। इसी से इसकी लोक कल्याण-कारिता सिद्ध होती है।

महाभारत में कर्म और पुनर्जन्म का अविनाभाव सम्बन्ध बताया गया था। मनुष्य के कर्मानुसार ही फलस्वरूप उसे दूसरा जन्म मिलता है, यह कहा गया था।

तिस्रो वै गतयो राजन् परिदृष्टाः स्वकर्मभिः।
मानुष्यं स्वर्गवासश्च तिर्यग्योनिश्च तत्त्रिधा ॥—आरण्यक १७८।९।

कर्म कर्ता को किसी भी अवस्था में छोड़ नहीं सकता, क्योंकि—

शयानं चानुशयति तिष्ठन्तं चानुतिष्ठति।
अनुधावति धावन्तं कर्म पूर्वकृतं नरम् ॥

---

१. गीता ६।३०,३२।
२. V.S. Sukthankar : On the Meanings of the Mahabharata, p 97.
३. गीता ३।२२-२४।
४. भीष्म ३१।३०।
५. भीष्म ३२।
६. महाप्रास्थानिक ३।११,१२।

यस्यां यस्यामवस्थायां यत्करोति शुभाशुभम् ।
तस्यां तस्यामवस्थायां तत्तत्फलमश्नुते ॥—स्त्री पर्व २।२२-२३ ।

वृहदारण्यक,[1] छान्दोग्य,[2] कठ,[3] कौषीतकि[4] आदि उपनिषदों की भांति महाभारत में भी कर्म की अक्षयता और तदनुसार शुभाशुभयोनियों में जन्म बतलाया गया था—

पुण्यां योनिं पुण्यकृतो व्रजन्ति पापां योनिं पापकृतो व्रजन्ति ।
कीटाः पतंगाश्च भवन्ति पापा न मे विवक्षास्ति महानुभाव ॥
चतुष्पदा द्विपदा षट्पदाश्च··········॥ आदि ८५।१९-२० ।

कर्म और तदनुसार जन्म एवं सुखदुःख की प्राप्ति के सिद्धान्त ने मानव की आँखें खोल दी । प्रथमतः इसके ध्यान में आते ही किसी भी आपत्ति में उसे आत्मकर्म का फल समझ कर सान्त्वना और धैर्य मिलता है । किसी अन्य को अपनी दुर्दशा का कारण न समझ भविष्य में आत्मनिर्माण की भावना का उदय होता है और दूसरों के प्रति द्वेष, क्रोध आदि तामसभाव नहीं आते । युद्ध की दुर्दशा सुनकर धृतराष्ट्र की चिन्ता-व्यक्ति पर—

आत्मापराधात्सम्भूतं व्यसनं भरतर्षभ ।
प्राप्य प्राकृतवद् वीर न त्वं शोचितुमर्हसि ॥—द्रोण ९०।१ ।

आदि संजय ने तथा अन्यों ने इसी प्रकार[5] के तथ्य उपस्थित किये थे ।

अन्य दीन मानवों अथवा प्राणियों के प्रति भी, यह सोचकर, परम करुणा का प्रादुर्भाव होता है कि ज्ञात नहीं भविष्य में अपनी भी क्या स्थिति हो । अतः अपने प्रति दया और कृपा की आशा से दूसरों के प्रति दयालु बनने की प्रेरणा कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्त से मिलती है ।

दैव, भाग्य, नियति अथवा काल

कहीं-कहीं अज्ञात कारणों से भी कोई घटना अप्रत्याशित रूप से घटित हो जाती है, अथवा शतशत प्रयासों पर भी कोई कार्य सिद्ध नहीं होता और कुछ लोगों को लौकिक क्रियमाण कर्मों की दृष्टि से कल्पना में भी अप्राप्य, सत्कर्मों के फल प्राप्त दृष्टिगोचर होते हैं । इस स्थिति का दार्शनिक आधार और स्पष्टीकरण लोकहित के लिए आवश्यक है । इनका समाधान भारतीय मनीषियों ने दैव, भाग्य, नियति अथवा काल आदि समानार्थक तत्त्वों से किया । आधुनिक वैज्ञानिक इसे 'चान्स' के नाम से जानते हैं ।

---

१. वृहदा० उप० ४।४।५ । २. छान्दोग्य ६।९।३ ।
३. कठ २।२।७ । ४. कौषीतकि १-२ ।
५. भीष्म ७३।२-३; उद्योग ३०।४० ।

यदि कार्यकारण का सिद्धान्त पूर्णरूपेण सफल होता, तो इस तत्त्व की कल्पना की आवश्यकता ही न होती। जो व्यक्ति जो कुछ भी चाहता, प्राप्त कर लेता।[1] किन्तु जब कभी संयत, दक्ष, मतिमान् सज्जन लोगों के कर्म निष्फल हो जाते हैं, उनकी दशा दयनीय होती है, जब कि धूर्त, निर्गुण एवं अधमों की समस्त कामनायें पूर्ण हो जाती हैं,[2] तब विधि के विधान को अनतिक्रमणीय मान कर[3] लोक में सान्त्वना का संचार किया गया। अतः महाभारतकार ने इस सिद्धान्त को स्पष्ट शब्दों में—

'तस्मादिदं लोकहिताय गुह्यम्'[4]

कहा था।

जिस पर अपना कोई वश नहीं, उसको प्रसन्नतापूर्वक सह लेने में ही कल्याण है। भाग्य ही सन्तोष दिलाने का सबसे प्रमुख तत्त्व है। ऐसा भाग्य में था, अतः इस प्रकार की घटना हुई, ऐसा समझ कर शोक नहीं करना चाहिए। यही दैववाद का रहस्य है। महाभारत में—

दिष्टमेतत् पुरा चैव नात्र शोचितुमर्हसि।
न चैव शक्यं संयन्तुम्.........॥—भीष्म २।१४।

तथा 'दिष्टं बलीय इति मन्यमानो न संज्वरेन्नातिहृष्येत् कदाचित्॥'
—आदि ८४।८।

वाक्यों से तथा एतादृश अनेक अन्य उपदेशों से लोक को सान्त्वना देने की चेष्टा की गई थी और भाग्यवादिता का रहस्योद्घाटन किया गया था।

अतः महाभारतकाल में चित्रित व्यक्ति के आदर्श, कल्याण के स्वरूप तथा उनकी सिद्धि हेतु निर्धारित सामाजिक, धार्मिक एवं दार्शनिक प्रवृत्तियों सब लोकहित का सम्पादन करते ज्ञात होते हैं। प्राणिमात्र की दृष्टि में सर्वभूत-मैत्री, सह-अस्तित्व आदि के भाव झलकते हैं। कल्याण का स्वरूप ही परस्पर संघर्ष-प्रणाश में समझा गया था।

इन समस्त लोक-कल्याणकारी प्रवृत्तियों के होते हुए भी एक ऐसी शक्ति आवश्यक थी जो इन मार्गों पर चलने वालों और आदर्शों के पालकों को प्रोत्साहन देती अथवा इन पथों से विचलित होने वाले लोगों को इनमें नियुक्त करती और लोक के अन्य जनों से भी इनके अनुसार आचरण कराती। यह शक्ति राज्यशक्ति मानी गई थी और उसका समस्त उत्तरदायित्व राजा पर होता था। अतः राजा की आवश्यकता उस समय भी थी।

———

१. आरण्यक २०८।८; द्रोण १०।५०।
२. स्त्रीपर्व ८।१८,२८।
३. शान्ति ३१८।१०-११।
४. शान्ति १६१।४६।

तृतीय अध्याय

महाभारतकालीन राजव्यवस्था में लोककल्याण का स्थान

[श्लिष्ट और शिष्ट समाज में भी राजा की आवश्यकता,

(१) तत्कालीन राज्य के प्रकार—गण राज्य, राजतन्त्र,

(२) उपर्युक्त शासन प्रणालियों में राजा का स्थान, राजतन्त्रीयशासन परम्परा में भी लोककल्याण,

(३) राजा के उत्तरदायित्व—राजा और लोकहित, राजा और लोकरंजन, राजा प्रजा का सेवक, राजा प्रजा का पोषक, राजा का देवांशत्व और लोक का मातृत्व-पितृत्व आदि, राजा रक्षा का उत्तरदायी, राजा और धर्मरक्षा, राजा और स्वधर्मरक्षा, राजा और त्रिवर्गसिद्धि, राजा प्रजा का परलोक साधक, राजा काल का कारण, राजा प्रजा का प्रतिभू, देश-काल की संस्कृति का रक्षक,

(४) राजा में नैतिक गुणों की अपेक्षा,

(५) राजा के सहायक—पुरोहित, मन्त्री, राजपरिवार ।]

महाभारतकालीन व्यक्तिगत जीवन, समाज-संस्थान, धार्मिक एवं दार्शनिक प्रवृत्तियों आदि से ऐसा प्रतीत होने लगता है मानो तत्कालीन लोक को किसी नियन्ता की अथवा पालक की आवश्यकता ही न थी। किन्तु प्रवृत्तियों एवं आदर्शों से ही समाज की पूर्णता की कल्पना नहीं की जा सकती। समाज-संश्लेष उत्कृष्ट होने पर भी किसी शासक के अभाव में कोई भी धर्माचरण में प्रवृत्त नहीं हो सकता।[1] स्वार्थ में रति लोक का स्वभाव है।[2] सामान्यलोक की बात ही क्या, वानप्रस्थी मुनि और संन्यासी भिक्षु भी बिना दण्डयमय के स्वकर्म में नहीं लगते। वस्तुतः

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः।
दण्डस्यैव भयादेते मनुष्या वर्त्मनि स्थिताः॥
नाभीतो यजते राजन् नाभीतो दातुमिच्छति।
नाभीतः पुरुषः कश्चित् समये स्थातुमिच्छति॥
नाच्छित्त्वा परमर्माणि नाकृत्वा कर्म दारुणम्।
नाहत्वा मत्स्यघातीव प्राप्नोति महतीं श्रियम्॥—शान्ति १५।१२-१४।

---

१. विराट ६३।४३।   २. भीष्म ४।११।

सामान्यतः इस प्रकार के समर्थ नियन्ता को ही राजा कहा गया था। उनसे यह आशा की जाती थी कि वे समाज में परस्पर भय समाप्त कर लोक में प्रवृत्त 'मात्स्यन्याय'[१] का उच्छेद करेंगे और मानव-मानव को उसके लक्ष्य की ओर प्रेरित कर, समान अवसर देकर लोक का कल्याण करेंगे। राजा के अभाव में ऐसी स्थिति सम्भव नहीं। स्वर्ग में भी—जहाँ केवल अपने-अपने प्रारब्ध कर्मों का भोगमात्र होता है, शासक इन्द्र के अभाव में देवताओं में परस्पर भय उत्पन्न हो गया था और उनके लोक में उपद्रव प्रारम्भ हो गये थे।[२] त्रिशिरा तथा वृत्त का वध करने से ब्रह्महत्या का पाप लगने के कारण इन्द्र के बिसतन्तु में छिपकर रहने पर भी 'अनिन्द्राश्चावला लोकाः सुप्रधृष्या बभूवुः'[3] के साथ ही विविध लोक-विकृतियाँ उत्पन्न हो गई थीं, और आयु के पुत्र नहुष का अभिषेक करने पर फिर 'लोकाः प्रकृतिमापेदिरे स्वस्थाश्च बभूवुः'।[४]

अतः लोक बिना राजा के नहीं रह सकता, समाज और प्राणी कितने ही उत्कृष्ट एवं सभ्य क्यों न हों। राजा के अभाव में राष्ट्र की स्थिति हो भी सकती है, यह महाभारतकार को आश्चर्य प्रतीत होता था—

'कथमराजकं राष्ट्रं शक्यं धारयितुं प्रभो'—आदि ९९।४१।

तत्कालीन राज्य के प्रकार

राज्य की स्थिति के लिए राजा की नितान्त आवश्यकता होती थी। महाभारत में कई प्रकार के राज्यों का उल्लेख है, जिनमें राजा की प्रधानता होती थी। ब्राह्मणों में जिन आठ प्रकार के राज्यों[५] का नामोल्लेख किया गया था और विशेष विवरण नहीं दिया गया था, लगभग वे समस्त महाभारत में भी उल्लिखित हैं, किन्तु राजतन्त्र के अतिरिक्त अन्य किसी भी शासन प्रणाली के कार्यों तथा गतिविधियों का वर्णन यहाँ भी नहीं है। प्रसंगवश गणराज्यों का किंचित् वर्णन सुभद्राहरण,[६] नारद-कृष्ण-सम्वाद,[७] भीष्म-युधिष्ठिर-सम्वाद[८] आदि में मिलता है। संभवतः शासनप्राणाली में भिन्नता होने पर भी राज्य से अपेक्षित कार्यों की देश-कालानुसार प्रायः समान आवश्यकता होने से, उनके विधेय कर्मों का वर्णन नहीं किया गया था।

---

१. शान्ति ५९।१६-२१, ६८।८-१६।
२. उद्योग १०।४९।
३. शान्ति ३२९।२९।
४. शान्ति ३२९।३०।
५. ऐत० ब्रा० ८ वाँ० अध्याय।
६. आदि २१२।९-२८; द्रोण ११९।२४-२६।
७. शान्ति ८२।
८. शान्ति १०८।

गणराज्य

महाभारत में उल्लिखित गणराज्यों में मुख्य[१] यौधेय, मालव, शिवि, औदुम्बर, वृष्णि, अन्धक, वाटधान, माध्यमकेय, त्रिगर्त आदि थे। वन्द्योपाध्याय महोदय ने इनका वर्णगत विभाग भी किया था।[२] म्लेच्छों के भी गणों का यत्र-तत्र उल्लेख है।[3] विभिन्न गणों ने अपनी शक्ति को प्रबल करने अथवा बाह्य आक्रामकों से सुरक्षा के लिए मिल कर संघ बना लिया था।[४] इन संघों में प्रमुख काश्मीरक,[५] दाशेरक,[६] म्लेच्छ,[७] कैरात,[८] उत्सव-संकेत,[९] सुनीथादि,[१०] वृष्ण्यन्धक[११] आदि थे। ये संघराज्य ही थे तथा इनके संघ-मुख्य भी थे ऐसा स्पष्ट विवरण अन्धकवृष्णि-संघ के अतिरिक्त, अन्यों के विषय में महाभारत में नहीं मिलता। किन्तु तत्कालीन प्रवृत्ति और 'गण' शब्द के बहुवचनान्त प्रयोगों को देखकर इनकी संघात्मकता का अनुमान किया जा सकता है।

राजतन्त्र

गणराज्यों एवं संघराज्यों की भाँति राजतन्त्रात्मक सत्ता के भी विविध रूपों का दर्शन महाभारत में होता है। यत्र-तत्र द्वैराज्य,[१२] आधिराज्य,[१३] महाराज्य,[१४] साम्राज्य,[१५] राजराज्य[१६] अथवा सार्वभौम[१७] का नामोल्लेख-मात्र है। इनके नाम राजा की शक्तिविशेष, कर्मविशेष अथवा यज्ञविशेष के अनुसार ज्ञात होते हैं।[१८] कार्य-प्रणाली अथवा कर्तव्यकर्मों में भेद के कारण इनका नामकरण हुआ हो, ऐसा उल्लेख महाभारत में नहीं मिलता।

उपर्युक्त शासन-प्रणालियों में राजा का स्थान

उपर्युक्त गणराज्यों तथा राजतन्त्रों सबके मूर्धन्य शासक विशेष का नाम राजा था, केवल राजतन्त्र के ही शासक-विशेष का नहीं। कोई भी राज्य चाहे

---

१. N.C. Bandyopadhyaya : Hindu Polity and Political Theories, p. 201.

२. वही पृ० १८०। ३. सभा २९ ८-९; आरण्यक १८६ २९।

४. सभा १३,४। ५. सभा २४।१६।

६. भीष्म ४६।४६। ७. सभा २७ २५।

८. सभा २७।१३। ९. सभा २४।१५।

१०. सभा ३६।८। ११. आदि २१३।३४; शान्ति ८२।२९; मौसल ४।२९,३६।

१२. सभा २८।१०। १३. सभा २८।३; उद्योग ८८।३१।

१४. आरण्यक २७३।२९। १५. आदि ५७।२८; सभा १२।११,३६; १४।२, ११, ६; आश्वमे ४।१८। १६. आदि ९४।६। १७. आदि ६९।४७।

१८. अम्बिकाप्रसाद बाजपेयी : हिन्दूराज्यशास्त्र, पृष्ठ १७२-१७३।

वह गणतन्त्रात्मक हो, चाहे संघात्मक अथवा राजतन्त्रात्मक सबका उद्देश्य देश-कालानुसार प्राय: समान था। उसी प्रकार 'राजा' शब्द भी केवल राजतन्त्रीय शासक के लिए रूढ़ नहीं था। राजा के वंशगत अथवा निर्वाचित होने का भी लोक पर कोई असर नहीं पड़ता था। किसी भी विधि से वह सत्तारूढ़ हुआ हो उसका कार्य लोकरंजन ही था।[१] गणराज्यों के प्रधान उग्रसेन आदि को भी राजा कहा गया था।[२] किरात, म्लेच्छ आदि संघों में सम्मिलित गणाध्यक्षों को अधिपति, नृपति, राजा आदि शब्दों से अभिहित किया गया था।[३] सामान्यत: किसी भी राजा की स्तुति भोज, विराट्, सम्राट्, क्षत्रिय, भूपति, नृप आदि शब्दों से की जा सकती थी।[४] शासन-व्यवस्था की बात तो दूर रही, रक्षणात्मक, पालनात्मक एवं रंजनात्मक कार्यों में समानता होने के कारण 'क्षत्रिय' और 'राजा' ये दोनों शब्द परस्पर पर्याय से प्रयुक्त हुए हैं।[५] अत: आजीवन अभिषेक न होन पर भी भीष्म को 'नृप' कहा गया था।[६] गौतम आदि धर्मसूत्रकारों ने राजा और क्षत्रिय के कर्तव्यों का निर्देश सामान्यत: 'राजधर्मा:' प्रकरण के अन्तर्गत किया था। अत: भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के लिए प्रयुक्त होने पर भी राजा किसी भी देश का उच्चतम अधिकारी होता था, शासन प्रणाली चाहे किसी भी प्रकार की हो।

महाभारतकाल में, यद्यपि अनेक गणराज्यों तथा संघों का उल्लेख मिलता है, और उनमें सर्वप्रमुख संघ के संघमुख्य[७] कृष्ण सदृश नीतिज्ञ एवं अतीमानवीय विभूति थे, तथापि राजतन्त्र और उसमें भी 'साम्राज्य की धारणा जड़ पकड़ रही थी।[८] राजधर्म के विषय में किये गये युधिष्ठिर के प्रश्न के उत्तर में भीष्म ने राजतन्त्रीय सिद्धान्तों का ही वर्णन प्रारम्भ किया था, और बीच में पूछने पर 'गणों' का। इससे भी तत्कालीन राजतन्त्र में विश्वास का ज्ञान होता है।

राजतन्त्रीय शासन में वंशपरम्परा

महाभारतकालीन राजा वंशगत होते थे। इतिहास काल के पूर्व, विशेषत: संहिता और ब्राह्मण-काल में राजाओं का चुनाव होता था।[९] किन्तु महाभारत में

१. शान्ति ५६।३-६; ५७।११। २. आदि २११।८-१२।
३. सभा २७।१३,२५; आरण्यक १८६।२९। ४. शान्ति ६८।५४।
५. आरण्यक १८६।१९; शान्ति ६०।१८। ६. आश्वमेधिक ८२।८।
७. शान्ति ८२।२५। ८. भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का विकास : बी० ए० लूनिया, पृ० ७८ तथा सभा ५।४७; शान्ति ६९।१९।
९. Hindu Polity : K. P. Jayaswal & Corporate Life in Ancient India : R. C. Majumdar.

प्रायः राज्य को पित्र्य,[1] पितृपैतामह,[2] वंशभोज्यादि[3] माना जाता था। महर्षि व्यास ने भी विजयी युधिष्ठिर से—

तेषां पुराणि राष्ट्राणि गत्वा राजन् सुहृद्‌वृतः।
भ्रातॄन् पुत्रांश्च पौत्रांश्च स्वे स्वे राज्येऽभिषेचय ॥
कुमारो नास्ति येषां च कन्यास्तत्राभिषेचय ॥— शान्ति ३४।३१,३३।

कह कर इसी तथ्य का ज्ञान कराया था। धृतराष्ट्र ने विशेषतः कुरुवंशियों में चलने वाली वंशपरम्परागत राज्यप्राप्ति की प्रवृत्ति का वर्णन स्वयं ही किया था—

उचितं नः कुले तात सर्वेषां भरतर्षभ।
पुत्रेष्वैश्वर्यमाधाय वयसोऽन्ते वनं नृप ॥—आश्रम ६ २१।

अतः वंशगत किन्तु स्वस्थ और अविकलांग राजा के राज्य में रहना प्रजा ने स्वीकार कर लिया था और प्रायः दोनों पक्षों में—राजा तथा प्रजा में—यह मान्यता धर्म बन चुकी थी। यदि तत्कालीन राज्य वंशभोज्य, पैतृक संपत्ति के रूप में न समझे गये होते तो नल, पुष्कर, युधिष्ठिर आदि प्रजा की अनुमति के बिना राज्य को द्यूत के दाँव पर न लगा देते, तथा यदि प्रजा पूर्णरूपेण निर्वाचन या बहिष्कार में समर्थ होती तो प्रथम तो वह राजा को इन कृत्यों में प्रवृत्त ही न होने देती और फिर पराजित होने पर परवर्ती राजा को सत्तारूढ़ भी न होने देती, अथवा उसके राज्य को छोड़कर अन्यत्र चली गयी होती। किन्तु इस प्रकार का वर्णन महाभारत में मान्य नहीं। मन्त्री, पौरजन आदि चेष्टा करने पर भी न नल[4] को द्यूतक्रीड़ा से निवृत्त कर सके और न दुर्योधन को। भाइयों सहित पाण्डवों के वन जाते समय अथवा इसके पूर्व लाक्षागृहदाह आदि के समय कौरवों के कुकृत्यों पर प्रजा फूट-फूट कर रोई तो, किन्तु विद्रोह न कर सकी।

इस प्रकार राजतन्त्र का राजा सर्वेसर्वा होता था। अतः कुछ सीमा तक स्वतन्त्र था। किन्तु राजा प्रजा के हित का ध्यान ही नहीं रखता था, सर्वथा स्वार्थ-सिद्धि में ही रत रहता था, अथवा लोककल्याण के लिए प्रयत्न नहीं करता था, यह नहीं कहा जा सकता। राजा मानव, क्षत्रिय तथा शासक (राजा) इन तीन व्यक्तित्वों के साथ सत्तारूढ़ होता था। लोक इन तीनों रूपों में राजा को प्रमाण रूप से प्राप्त करना चाहता था और राजा को वैसा होना भी चाहिए था।[5] महाभारतीय राजा मानवता से संभव है च्युत हो जाता किन्तु राजा के रूप में वह सर्वदा उत्कृष्ट और निदर्शन रहा। दुर्योधनादि लोभी तथा कपटी होकर मानवता से अवश्य च्युत हुए थे, किन्तु वे क्षत्रियोचित कर्मों के कारण

---

१. उद्योग १.१५। २. आरण्यक ३१।१।
३. आरण्यक ७७.९। ४. आरण्यक ५६।११; ५७।६,७।
५. शान्ति ७६।३-४।

स्वर्ग गये थे।[1] राजा के रूप में उन्होंने प्रजा का यथोचित पालन किया था— यह तथ्य आश्रमवास के लिए तैयार धृतराष्ट्र[2] तथा उसके समक्ष उपस्थित प्रजाप्रतिनिधि दोनों के शब्दों से प्रकट होता है।[3] युधिष्ठिर के राजसूय में दुर्योधन को उनके बहुमूल्य उपहारों को देखकर लोभ और ईर्ष्या होती थी और दूसरी ओर स्नातकों, भिक्षुओं, यतियों, कुब्जवामनादिकों की तृप्ति देखकर स्वयं न कर पाने का दुःख भी।[4] अन्यथा इनके उल्लेख का प्रश्न ही न उठता। संजनयान-पर्व में संजय के आते ही युधिष्ठिर द्वारा नगर के आश्रितों का समाचार पूछने पर संजय के उत्तर से प्रतीत होता है कि कौरवों का वैमनस्य पाण्डवों से था प्रजा से नहीं।[5]

राज्य सत्ता के हस्तान्तरित हो जाने पर प्रजा के विद्रोह न करने का एक कारण संभवतः यह भी था कि उत्तरवर्ती राजा प्रजा का पूर्णतः ध्यान रखता था। वह दृढ़मूल होने के लिए प्रजा को भूतपूर्व राजाओं की अपेक्षा अधिकतर सुविधाएँ प्रदान करने की सतत चेष्टा किया करता था।

राजा पर अनेक उत्तरदायित्व होते थे जिनका पालन न करने पर उसे दुष्परिणामों को भुगतना पड़ता था। राजा के सर्वेसर्वा होने का यह अभिप्राय नहीं कि वह प्रजोत्पीड़न करे, उसका शोषण-दोहन करे। भीष्म सदृश राजनीतिज्ञों को जनशक्ति का ज्ञान था और पदे-पदे राजा के उनसे सतर्क रहने की अनिवार्यता का भी। उन्होंने प्रजा द्वारा खनीनेत्र,[6] वेनु[7] आदि का विनाश तथा द्युमत्सेन का प्रजा द्वारा पुनः अभिषेक[8] का वृत्तान्त सुन रखा था। अतः प्रजा की रक्षा हेतु ही उन्होंने लोक को राजा के हाथ की कठपुतली बन कर सर्वदा सम-विषम परिस्थितियों में नाचने, कराहने और चीत्कार करने की अनुमति न देकर नृशंस राजाओं को पागल कुत्ते के समान वध की[9] अथवा उसके राज्य का परित्याग कर अन्यत्र[10] चल जाने की अनुमति दी थी जिनमें प्रजा के लिए प्रथम मार्ग ही उचित, सम्भव और सुखसाध्य था।

राजतन्त्र का राजा यदि कुछ विशेष सम्मान का पात्र था, तो अनेक प्रकार के प्रजा-सुख का उत्तरदायी भी। तत्कालीन राजधर्म में राजा के निम्नलिखित उत्तरदायित्वों का ज्ञान होता है।

---

१. स्वर्गारोहण १।१४-१५। २. आश्रमवासिक १४।४।
३. आश्रमवासिक १६।८; १५।२१। ४. सभा ४५।१७-१८; ४७।३८-४१।
५. उद्योग २४।२-४। ६. आश्वमे ४।७-९। ७. शान्ति ५९।१००।
८. आरण्यक २८३।३-७। ९. अनुशासन ६१।३३-३४।
१०. शान्ति ५७।४४-४५।

राजा के उत्तरदायित्व

जिस प्रकार वैदिक काल में निर्वाचित राजाओं से आशाएँ की जाती थीं, उससे कहीं अधिक परवर्ती कालों में परम्परागत राजाओं से भी। राज्य समर्पण के अनन्तर प्रजा उससे राज्य के नियमन, धारण, कृषि, संवर्धन, क्षेम, धन एवं पोषण की कामना करती थी।[१] अथर्ववेद कालीन लोक का विचार था कि योग्य राजा के चुनने से उनकी विजय, उन्नति, आरोग्यवृद्धि, तेजोवृद्धि, ज्ञान एवं आत्मबल की वृद्धि होगी, उनके यज्ञ सफल होंगे, पशु एवं सन्तति ठीक होगी और शूरवीर पुरुष उनके साथ होंगे।[२] अतः उस काल में राजा समस्त शारीरिक, भौतिक तथा बौद्धिक बलों और सुखों का मूल माना गया था। उपनिषदों के राजा[३] अश्वपति की अपेक्षा महाभारत के अश्वपति[४] कुछ अधिक उत्तरदायित्वों के साथ दृष्टिगत होते हैं।

राजा और लोकहित

राजाओं के लिए लोक ही सर्वप्रधान विषय था और लोकहित उनका परम साध्य क्योंकि महाभारतकार के मतानुसार सर्वलोकहित धर्म क्षत्रियों में ही प्रतिष्ठित[५] था और वही बहुकल्याण रूप[६] था। अतः विदुर ने धृतराष्ट्र से आत्म-कल्याणार्थ राजा को चक्षुषा, मनसा, वाचा एवं कर्मणा लोक को प्रसन्न करने की बात कही थी।[७] अतः लोकहित-हेतु यदि उसे अपने प्रिय पदार्थ का त्याग भी करना पड़े तो वह भी करना था।[८] अन्यथा प्रजा में स्नेहहीन राजा को दुःखी होना पड़ता है।[९] इसी हेतु लोकहित को प्रधानता देते हुए भीष्म ने राजकर्तव्य का उपदेश दिया था—

> भवितव्यं सदा राज्ञा गर्भिणी सहधर्मिणा।
> यथा हि गर्भिणी हित्वा स्वं प्रियं मनसोऽनुगम्।
> गर्भस्य हितमाधत्ते तथा राज्ञाप्यसंशयम्॥
> वर्तितव्यं कुरुश्रेष्ठ नित्यं धर्मानुवर्तिना।
> स्वं प्रियं समभित्यज्य यद् यल्लोकहितं भवेत्॥—शान्ति ५६।४४-४६।

लोक के लिए ही सगर ने असमंजस् को त्याग दिया था।[१०] शर्याति द्वारा

---

१. इयं ते राट्। यन्तासि यमनो ध्रुवोऽसि धरुणाः। कृष्यै त्वा। रय्यै त्वां पोषाय त्वा। वाज सं० ९।२२; शतपथ ब्रा० ५।१।२५।
२. अथर्व १६।८।१२। ३. छान्दोग्य ५।११।५। ४. शान्ति ७८।
५. शान्ति ६४।५। ६. शान्ति ६३।२६। ७. उद्योग ३४।२३।
८. शान्ति ५६।४६। ९. शान्ति २७९।२५। १०. शान्ति ५७।८।

सुकन्या[१] का, वृषपर्वा द्वारा शर्मिष्ठा का,[२] लोमपाद द्वारा ऋष्यशृंग को शान्ता का[३] तथा लोपामुद्रा का अगस्त्य को[४] दान इस तथ्य को सिद्ध भी करता है।

राजाओं में लोक से भय देखा भी जाता है। प्रव्रज्या ले रहे जनक को,[५] शकुन्तला से प्रणय कर रहे दुष्यन्त को,[६] तथा राज्य न पा रहे दुर्योधन को[७] होने वाला लोकापवाद का भय सदा बना रहता था। राजा के लिए प्रजाहित से वढ़कर कोई अन्य कर्म था ही नहीं।[८] अतः प्रजा ही सर्वदा उसके समक्ष रहती थी। शिशुपाल की उच्छृंखलता प्रकट होने पर युधिष्ठिर ने प्रजा के 'शिव' की चिन्ता की थी।[९] ययाति ने अपने पुत्रों से यौवन न पाने पर सबको 'प्रजा' के ही अनिष्ट का शाप दिया था और प्रसन्न होकर पुरू को प्रजाविवृद्धि का वरदान।[१०]

राजा और लोकरंजन

राजा को आत्महित का परित्याग लोकहित के लिए करना पड़ता था उसका उद्देश्य था लोक-रंजन क्योंकि लोक का रंजन राजा का सनातन धर्म था।[११] लोकहित और लोकरंजन में अन्तर केवल इतना है कि प्रथम में राजा के स्वार्थ परित्याग पूर्वक लोक के हित करने की भावना पर वल दिया गया था जबकि दूसरे में एक, दो अथवा वहुत के रंजन पर नहीं अपितु सम्पूर्ण जाति की सेवा की भावना पर। इस तथ्य को महाभारतकार के शब्दों में सर्ववर्णानुरंजन कहा जा सकता है, जिसे वे क्षत्रियों का प्रमुख कर्म मानते थे।[१२] क्षत्रिय शब्द में केवल क्षति से त्राण मात्र का भाव निहित है किन्तु रंजन उससे अत्यन्त व्यापक था।[१३] राजा सम्पूर्ण लोक का रंजक होने से ही राजा कहा जाता था।[१४] रंजनात्मक कर्मों के सम्पादन के अभाव में राजा राजा कहाने का अधिकारी नहीं रह सकता था।

राजा प्रजा का सेवक

इन विवरणों से राजा प्रजा का सेवक तथा राज्य लोकसेवा का प्रमुखतम

---

१. आरण्यक १२२।२४। २. आदि ७५।१४-१७।
३. आरण्यक ११०।५। ४. आरण्यक ९५।७।
५. शान्ति ८।६-७। ६. आदि ६९।३६।
७. आदि १२९।१३,१६। ८. आश्रम १२।१८-२०,२२,२३।
९. सभा ३७।४। १०. आदि ७९।७,११,१३,१८-१९,२३,३०।
११. शान्ति ५७।११। १२. शान्ति ५७।११।
१३. आरण्यक १८६।९९; शान्ति ५९।१२७-२८; २९।१३०।
१४. शान्ति ५९।१२७।

माध्यम तथा केन्द्र दृष्टिगोचर होता है जहाँ पर स्थित होने से राजा के कर्तव्यों में वृद्धि इस सीमा तक हो जाती थी कि उसको शयन, जागरण, भोजन, भोग आदि भी स्वतन्त्र होकर करने को नहीं मिलता था। सुलभा तथा जनक के मध्य हुए सम्वाद में इस तथ्य का विशेष वर्णन मिलता है।[1] नारद ने—

"कच्चिद् द्वौ प्रथमौ यामौ रात्र्यां सुप्त्वा विशांपते" (सभा ५।७५) आदि युधिष्ठिर से पूछकर केवल दो याममात्र सोने की अपेक्षा राजा से की थी। राज्य-कार्य में व्यस्तता के कारण पूरी रात सोना तक राजा को दुर्लभ था। बृहस्पति (१।६६) और कौटिल्य (अर्थशास्त्र १।१९।२३) राजा के शयन हेतु क्रमशः "सप्तनाडिका सुप्तिः" "चतुर्थपञ्चमौ शयीत" ही कहते हैं जब कि शुक्रनीतिसार (१।२८३) तथा विष्णुधर्मोत्तर में (२।१५७) राजा के लिए आठ मुहूर्तमात्र शयन का विधान किया गया था।

राजा प्रजा का पोषक

राजा प्रजा के पोषक के रूप में भी स्वीकृत किया गया था। अतः वह 'अभृतानां भवेद् भर्ता (शान्ति ५४।१९) कहा गया था। भीष्म ने उस राज्य का परित्याग कर देने के लिए कहा था जहाँ का राजा और उसके भृत्यगण कुटुम्बियों और कृपणों के भोजन करने के पूर्व ही भोजन कर लेते हैं।[2] राजा के लिए प्रजा-पोषण से अधिक कल्याणकारी कर्म था ही नहीं।

यत्तु दानपतिं शूरं क्षुधिताः पृथिवी-चराः।
प्राप्य तृप्ताः प्रतिष्ठन्ते धर्मः कोऽभ्यधिकस्ततः ॥—उद्योग १३०।२६।

अतः विदुला के शब्द कुन्ती दोहराती थी—

अनु त्वा तात जीवन्तु ब्राह्मणाः सुहृदस्तथा।
पर्जन्यमिव भूतानि देवा इव शतक्रतुम् ॥
यमाजीवन्ति पुरुषं सर्वभूतानि संजय।
पक्वं द्रुममिवासाद्य तस्य जीवितमर्थवत् ॥—उद्योग १३१।३९-४०।

राजा का देवांशत्व तथा लोक का मातृत्व-पितृत्व आदि

देवगण लोक का कल्याण करते हैं। अतः समानकर्मा होने से राजा को भी देवताओं का अंश माना गया था। मनु ने आठ लोकपालों के अंश से राजा को निर्मित कहा था।[3] महाभारतकार के अनुसार भी 'पिता माता गुरुर्गोप्ता वह्निर्वैश्रवणो यमः' (शान्ति १३७।९८) इन सात भूमिकाओं में राजा से प्रजा

१. शान्ति ३०८। २. शान्ति २७६.४८।
३. मनु ५।९४; शान्ति ७६।३२।

तदनुसार सेवा की अपेक्षा रखती थी (सभा ५।४६; शान्ति १३३।१२)। राजा को चाहिए था कि वह पिता की भाँति लोक पर अनुकम्पा, माता सदृश दीनों का भी पालन, अग्नि के समान अनिष्टों का दहन, यम सा यमन, कुवेर सा कामनाओं की पूर्ति, गुरु के समान धर्मोपदेशन तथा रक्षक होकर परिपालन करे इसी में उसके नामों और उपाधियों की सार्थकता थी।[1] राजा के ये अनेक विरुद्ध उसकी शक्ति, क्षमता और महत्ता के कम किन्तु भारों और कर्तव्यों के ही वाचक अधिक थे। इन समस्त रूपों में प्रजा का रंजन करना राजा का प्रमुख उत्तरदायित्व था। शुक्र ने भी इन्हीं शब्दों का पुनर्वाचन किया है।[2]

राजा रक्षा का उत्तरदायी

किन्तु सर्वथा अनुग्रह ही से लोक का कल्याण सम्भव नहीं। लोकविवृद्धि हेतु जितना अधिक सज्जनों का पालन आवश्यक है, उससे कहीं अधिक दुष्कृतों का प्रतिषेध भी। अतः राजाओं को सामर्थ्य का प्रतीक स्वीकृत कर उन्हें ही लोकरक्षा का उत्तरदायित्व भी दिया गया था।[3] दण्ड के अभाव में राजा की शोभा ही कहाँ? और दण्ड के अभाव में प्रजा में सुख ही कहाँ?[4] महाभारत-कार के मतानुसार विधाता ने केवल राजन्य को ही प्रजा के रक्षा निमित्त बनाया था, अतः जो राजा रक्षा करता है वही धर्मानुष्ठान के कारण पूज्य होता है[5] और इसी में राजा की ऐहिक तथा पारलौकिक सुखों की सिद्धि भी निहित थी।[6] पापों का प्रतिकार न करने से लोक में विह्वलता आ जाती है जिससे कर्मों के सम्पन्न न हो सकने से ऐहिक तथा पारलौकिक दोनों सुखों की सिद्धि नहीं हो पाती। इस तथ्य का विचार करके ऋषियों ने स्वयं भी राजा का निर्माण किया था।[7] वास्तव में—

> प्रतिषेद्धा हि पापस्य यदा लोकेषु विद्यते।
> तदा सर्वेषु लोकेषु पापकृन्नोपपद्यते ॥—आदि १७१।९।

सामान्यतः लोक में कोई भी निन्द्यकर्म करने वाला वध्य समझा गया था[8] और उसका वध करना राजा का कर्तव्य भी था, तथापि लोकरक्षा के अतिरिक्त राष्ट्र अर्थात् परचक्राभिघात से रक्षा करना भी राजा का परम धर्म था। ऐतरेय ब्राह्मण में ऐसा कहा गया है कि राजा की आवश्यकता ही वाह्य आक्रामकों को

---

१. शान्ति १३७।९९-१०१। २. शुक्रनीतिसार १।७८।
३. शान्ति २३।१३; २२।५। ४. शान्ति १४।१५-१७।
५. शान्ति २८२।१०-१५। ६. शान्ति २३।१२-१३।
७. शान्ति ९१।१०-११। ८. उद्योग १५६।१०।

पराजित करने के लिए थी।[१] षड्भाग बलि लेकर प्रजा की सम्यक् रूप से अर्थात् आभ्यन्तर तथा वाह्य शत्रुओं से रक्षा न करने वाला चोर समझा जाता था।[२]

वास्तव में—

यानं वस्त्रमलंकारान् रत्नानि विविधानि च।
हरेयुः सहसा पापा यदि राजा न पालयेत्॥—शान्ति ६८।१५।

जिस देश में बलात्कार नहीं, जहाँ कन्याएं वस्त्रालंकार से विभूषित होकर निर्भय विचरण कर सकती थीं, वहाँ का राजा श्रेष्ठ माना जाता था। भारतकार ने उसकी 'तीव्रशासन' संज्ञा दी थी (शान्ति १३७।९३)। इस विषय में राजा दिलीप विशेष प्रशंसा के पात्र थे क्योंकि—

एतद्राज्ञो दिलीपस्य राजानो नानुचक्रिरे।
यत् स्त्रियो हेमसम्पन्नाः पथि मत्ता स्म शेरते॥—शान्ति २९।७०।

जहाँ पर पूर्ण व्यवस्था न हो ऐसे 'कुदेश' तथा जो सुव्यवस्था न करे ऐसे कुराजा के परित्याग की सम्मति भीष्म ने दी थी (शान्ति १३७।८९।)।

राजा और धर्मरक्षा

महाभारतकालीन समाज में धर्म अत्यन्त व्यापक था। धर्म सूक्ष्म होते हुए भी अकारण नहीं था और उसकी 'भूतभव्यार्थता' का अनुभव भी किया जा रहा था।[३] लोक राजा से धर्म की भी रक्षा की आशा करता था क्योंकि धर्म की वृद्धि और ह्रास में लोक की भी वृद्धि और ह्रास निहित समझा गया था।[४] राजा और राज्य के कारण लोक-व्यवस्था में स्थायित्व तथा धर्म में विशेष प्रवृत्ति होने से उन्हें ही धर्म के नाम से अभिहित किया गया था।[५] भारतकार के मतानुसार—

मज्जेद् धर्मस्त्रयी न स्याद् यदि राजा न पालयेत्।
न यज्ञाः संप्रवर्तेरन् विधिवत्स्वाप्तदक्षिणाः॥—शान्ति ६८।२१-२२।

राजा से भी आशा की जाती थी कि वह स्वयं धर्माचरण करे,[६] यज्ञ करे[७] और यदि कोई भी मनुष्य धर्मपथ का परित्याग करे तो उसे पुनः सत्पथ-प्रवृत्त करे।[८]

---

१. अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी : हिन्दू राज्यशास्त्र, पृष्ठ ४९।
२. शान्ति १३७।९६।
३. शान्ति २५४।३५।
४. शान्ति ९१।१४,१६; ६८।८।
५. शान्ति ५६।२,३; आरण्यक १८३।२२।
६. आरण्यक १८९।१७।
७. स '। ५।८९।
८. शान्ति ५९।१११।

राजा और स्वधर्मरक्षा

राजा सामान्य धर्म का कर्ता तथा प्रेरक मात्र नहीं, अपितु समाज संस्थान की सुरक्षा हेतु विशेषधर्मों का पालन कराने वाला भी था। समाज व्यवस्था को स्थायित्व देना उसका कर्तव्य था क्योंकि--

लोके चेदं सर्वलोकस्य न स्याच्चातुर्वर्ण्यं वेदवादाश्च न स्युः।
सर्वाश्चेज्याः सर्वलोकक्रियाश्च सद्यः सर्वे चाश्रमस्थान वै स्युः॥
--शान्ति ६३।१०।

अतः स्पष्ट शब्दों में राजा का धर्मनिर्वचन किया गया था कि—

चातुर्वर्ण्यस्य धर्माश्च रक्षितव्या महीक्षिता।
धर्मसंकररक्षा हि राज्ञां धर्मः सनातनः॥--शान्ति ५७।१५।

स्वधर्म की क्षति से लोक की क्षति होती है। अतः विशेपरूप से विकर्मस्थों को स्वकर्मस्थ करना राजा का धर्म था।[1] राजा के प्रमाद से वर्णाश्रम व्यवस्था में विकृति और विकर्मस्थिति की सम्भावना थी।[2] अतः जिस देश में 'धर्मव्यतिकर' हो, उस राज्य को छोड़ देने की ही सम्मति भारतकार ने दी थी।[3]

महाभारत में जिन राजाओं की शासन व्यवस्था प्रशस्त थी सब ने चातुर्वर्ण्य की रक्षा और स्वधर्मनियोजन किया था। वाजिग्रीव,[4] विदर्भराज भीम,[5] विदेहराज जनक,[6] धर्मराज युधिष्ठिर,[7] परिक्षित्,[8] आदि ने इस पुण्य कर्म का सम्पादन किया था। प्रसंगवश युधिष्ठिर को नारद और भीष्म दोनों ने स्वधर्म-पालन करने और कराने का उपदेश दिया था।[9]

राजा और त्रिवर्गसिद्धि

स्वधर्म एवं धर्म में प्रवृत्त कर अप्रमत्तभाव से पालन करता हुआ राजा लोक के त्रिवर्ग का मूल माना गया था।[10] राजा और राज्य के अधिकारों तथा कर्तव्यों के अत्यन्त व्यापक होने से राजधर्म में ही त्रिवर्ग तथा मोक्षधर्म भी पूर्णरूपेण स्पष्टतः समाविष्ट था।[11] त्रिवर्ग के धर्ममूलक तथा धर्म के राज्यमूलक

---

१. शान्ति ७८।१२; उद्योग २९।२५। २. शान्ति ९२।७-८।
३. शान्ति २७६।३६। ४. शान्ति २५।३१।
५. आरण्यक ६१।४१। ६. आरण्यक १९८।२७; शान्ति ३०८।५९-६०।
७. सभा ३०।१; शान्ति ४५।४। ८. आदि ४५।७-९।
९. सभा ११।७०; शान्ति २५।३१। १०. शान्ति १३७।९५।
११. शान्ति ५६।४।

होने से भी प्रजा को त्रिवर्गसिद्धि राज्य पर ही आधृत थी।[1] किन्दम मुनि के पाण्डु से कहे गये—

त्वया नृशंसकर्तारः पापाचाराश्च मानवाः।
निग्राह्याः पार्थिवश्रेष्ठ त्रिवर्गपरिवर्जिताः॥—आदि १०९।२३।

से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि राजा को त्रिवर्ग-साधना से विरत पापाचारियों का निग्रह करके उनको त्रिवर्ग-सिद्धि करानी चाहिए। इसी से त्रिवर्ग की उपलब्धि हेतु प्रयत्नशील लोगों को अवसर प्रदान करने की बात स्वतः सिद्ध हो जाती है। नारद द्वारा युधिष्ठिर से पूछे गये प्रश्न से ज्ञात होता है कि व्यक्तिगत रूप से चतुर्वर्ग की सिद्धि राजा के लिए भी आवश्यक थी।[2] वही राजा भीष्म के अनुसार भी श्रेष्ठ था जो "धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च सततं रतः" (शान्ति ५७।१३) हो।

राजा प्रजा का परलोक साधक

भारतीय राज्य-शास्त्र में राजा केवल ऐहिक सुखभोगों का दाता न होकर प्रजा के परलोक का साधक भी माना गया था। भारतकार ने राजा को प्रजा का हृदय, सद्गति, प्रतिष्ठा तथा उत्तमसुख-साधक स्वीकार किया था—

यमाश्रिता लोकमिमं परं च जयन्ति सम्यक् पुरुषा नरेन्द्रम्॥—शान्ति ६८।५९।

साधारणतः धर्म, अर्थ और काम का यथाकाल निषेवण ही ऐहिक तथा पारलौकिक सुखों की प्राप्ति कराने में समर्थ था,[3] तथापि त्रिवर्ग की अबाध सिद्धि में सहायक होने और उसके लिए प्रेरणा देने के कारण प्रधान रूप से राजा प्रजा की पारलौकिक समृद्धि का प्रधान साधक था।

राजा काल का कारण

राजा काल का विधाता माना गया था।[4] अर्थात् समय के सुन्दर होने से लोक में सुखसमृद्धि की वृद्धि होती है ऐसी बात नहीं अपितु राजा के विधिवत् पालन करने या न करने से ही लोक में सुख या दुःख का आविर्भाव होता है, यह भारतकार की मान्यता थी जिसे शुक्र आदि ने भी दोहराया था। राजा के नियमन और पालन करने से लोक में सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलि उपस्थित होते हैं। विदुर और भीष्म दोनों ने ही इस तथ्य पर विचार किया था।

इस मान्यता ने राजा के ऊपर और भी प्रजारंजन का भार डाल दिया था। लोकापवाद से बचने और अपनी स्थिति को सुदृढ़ रखने के लिए राजा

---

१. आरण्यक ५।४। २. सभा ५।७-१०।
३. उद्योग ३७।४६। ४. उद्योग १३०।१५; शान्ति ७०।६,२५।

लोक में सुख-समृद्धि के विस्तार हेतु सदा प्रयत्नशील रहे, सम्भवतः इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु यह धारणा थी। इसी के साथ—

राजमूला महाराज योगक्षेम-सुवृष्टयः।
प्रजासु व्याधयश्चैव मरणे च भयानि च॥—शान्ति १३९।९।

तथा— व्यभिचारान्नरेन्द्राणां धर्मः संकीर्यते महान्।
अधर्मो वर्धते चापि संकीर्यन्ते तथा प्रजाः॥
उरुण्डा वामनाः कुब्जाः स्थूलशीर्षास्तथैव च।
क्लीवाश्चान्धाश्च जायन्ते बधिरा लम्बचूचुकाः।
पार्थिवानामधर्मत्वात् प्रजानामभवः सदा॥

—आरण्यक १९८।३४-३५।

आदि से प्रजा की सर्वांगीण प्रगति एवं उन्नति का एकमात्र उत्तरदायी राजा ही प्रतीत होता है।

राजा प्रजा का प्रतिभू

राजा प्रजा का हिमालय के सदृश अडिग और निष्पक्ष विश्वासपात्र माना गया था (शान्ति ५७।२९)। अतः उसके लिए यह निर्देश किया गया था कि वह दूसरे के धन का अपहरण न करे, देय वस्तु को तत्काल प्रदान करे, सशक्त, सत्यवाक्, क्षान्त एवं न्यायपथ से अविचल रहे (शान्ति ५८।११-२२)। राज्य वंशगत होने पर भी राजा का धर्म था कि वह उसे सर्वथा स्वार्थ की वस्तु न समझे और स्वार्थ में पड़कर उसे बेंच न दे—राष्ट्रं पण्यं न कारयेत् (शान्ति २५।१५)। धृतराष्ट्र ने तो राज्य को स्पष्ट शब्दों में प्रजा का 'न्यास' कहा था—

अवश्यमेव वक्तव्यमिति कृत्वा ब्रवीमि वः।
एष न्यासो मया दत्तः सर्वेषां वो युधिष्ठिर।
भवन्तोऽस्य च वीरस्य न्यासभूता मया कृताः॥—आश्रम १४।१३।

इसके अतिरिक्त समाज में धन किसी भी वर्ण या व्यक्ति के पास संचित होकर लोक का विनाश न करने लगे इस ध्येय से धन का समान वितरण करना भी राजा का कर्तव्य था। किन उपायों से राजा यह पुण्यकर्म सम्पादित करता था, इसका विवरण यथावसर आगे के अध्यायों में दिया जायेगा।

देशकाल की संस्कृति का रक्षक

वृहस्पति, शुक्र, नारद, पराशर आदि ने देश, जाति, कुल आदि धर्मों की रक्षा का भार भी राजा पर डाला था।[1] ऋषियों ने युधिष्ठिर को भी लोकतन्त्र

---

१. A.S. Altekar : Malviya Commemoration Volume, p 647.

के पंचविध विधानों में देश और काल को भी बताया था।[1] महाभारत काल में जब परराष्ट्रमर्दन और उस पर विजय प्रत्येक राजा की मौलिक वासना और धर्म बन चुके थे, दूसरे देशों की संस्कृति की रक्षा भी उनका प्रमुख कर्तव्य बन चुकी थी। परराष्ट्र पीड़न और विजय करने पर भी विजित देशों की संस्कृति को बचाना राजा का परमधर्म था। इन्द्र ने उपरिचर को 'लोक्यं धर्मं पालय त्वं नित्ययुक्तः समाहितः' (आदि ५७।६) का आदेश दिया था।

अपने राज्य के विस्तृत होने पर न्याय के समय विविध वर्णों के प्रतिनिधियों की स्थापना, तथा परराष्ट्र के विजय पर तत्तद्देशीय राजाओं के वंशधरों की नियुक्ति और अभिषेक इस तथ्य का बोध कराते हैं।

राजा में नैतिक गुणों की अपेक्षा

राजा इतने उत्तरदायित्वों के साथ जन्म लेता था, अथवा अभिषिक्त होता था। इनका पूर्णरूपेण पालन करने के लिए राजा में कुछ नैतिक गुणों की विशेष आवश्यकता थी। राजा ऐसा व्यक्ति था जिसके—

एकस्य च प्रसादेन कृत्स्नो लोकः प्रसीदति।
व्याकुलेनाकुलः सर्वो भवतीति विनिश्चयः ॥—शान्ति ५९।१०।

एक धृतराष्ट्र तथा उसके पुत्रों के ही अपराध से पृथ्वी का घोर क्षय हुआ था।[2] राजा ही लोक का प्रमाण था,[3] वही लोक के उपचयापचय का केन्द्र होता था। अतः उसका निश्चित आदर्शों के अनुसार चलना आवश्यक समझ महाभारतीय ऋषियों ने उपदेश दिये थे।

इसके अतिरिक्त राजा को आत्मनियन्त्रण आदि गुणों से क्यों युक्त होना चाहिए, इसका स्पष्ट उल्लेख भीष्म ने किया था—

सुकृतैनैव राजानो भूयिष्ठं शासते प्रजाः ॥
श्रेयसः श्रेयसीमेवं वृत्तिं लोकोऽनुवर्तते।
सदैव हि गुरोर्वृत्तमनुवर्तन्ति मानवाः ॥
आत्मानमसमाधाय समाधित्सति यः परान्।
विषयेष्विन्द्रियवशं मानवाः प्रहसन्ति तम् ॥
आत्मैवादौ नियन्तव्यो दुष्कृतं संनियच्छता।—शान्ति २५९।२५-२७,२९।

नारद,[4] विदुर[5] तथा विभिन्न कथाओं के माध्यम से भीष्म[6] और अन्त में धृतराष्ट्र[7] सब राजा को शम, दम, सत्य, आर्जव आदि सात्त्विक गुणों को अपनाने

१. आरण्यक १५९।१। २. भीष्म ७९।८। ३. आदि ७७।१८।
४. सभा ५।१२। ५. उद्योग ३३।७३-४,८५,९५-६;३४।२३-२४।
६. शान्ति २८३।२५,२७;२५।१८। ७. आश्रम ९।१३।

का उपदेश दिये थे। अत्यन्त संक्षेप में राजा के त्याज्यों का निरूपण—

स्त्रियोऽक्षा मृगया पानमेतत्काम समुत्थितम्।
व्यसनं चतुष्टयं प्रोक्तं यै राजन्भ्रश्यते श्रियः॥—आरण्यक १४।७।

में किया गया है।

लोक में निग्रहात्मक कर्मों की अपेक्षा राजा से ही होने के कारण उसे न तो सदा मृदु और न सदा तीक्ष्ण ही रहने का विधान था। प्रथम से सेवकों द्वारा भी अपमान और अनियन्त्रण, अव्यवस्था तथा प्रमाद की आशंका, और द्वितीय से लोक की उद्विग्नता का भय था, अतः राजा में दोनों का समन्वय अपेक्षित था।[1] अतः वह सदा 'वसन्तेऽर्क इव श्रीमान् न शीतो न च धर्मवान्' (शान्ति ५६।४०) रहे।

राजा के सहायक

अपनी समस्त दिव्यताओं तथा विभूतियों से समन्वित होने पर भी, कोई अकेला शासक एक अत्यन्त लघु जनपद का भी पूर्वोल्लिखित उत्तरदायित्वों के साथ पालन नहीं कर सकता। आयु, विद्या, यश और बल सब में वृद्ध होने पर भी भीष्म पितामह को उपदेश देने के लिए भगवान् कृष्ण से दिव्यदृष्टि की आवश्यकता पड़ी थी। एक ही राजा से शस्त्र, शास्त्र तथा समस्त उत्तरदायित्व एक साथ नहीं सध सकते। अतः वह स्वयं राजकीय उद्देश्यों के साधक सहायकों का मनोनीत निर्वाचन करता था।

पुरोहित

प्राचीन काल में धर्म का स्थान प्रत्येक मानव के जीवन में प्रमुख था। युद्धक्षेत्र के लिए प्रस्थान करते समय अथवा प्रजा के अन्य रंजनात्मक कार्यों में व्यस्तता के क्षणों में राजा के लिए धार्मिक कृत्यों का सम्पादन सर्वदा यथोचित रूप से करना सम्भव न था। अतः धर्मकर्म हेतु राजा को पुरोहित की आवश्यकता होती थी। द्वितीयतः पुरोहित की आवश्यकता धर्मतः न्याय के अवसर पर शास्त्रीय सम्मति के लिए होती थी। आपस्तम्ब,[2] बौधायन,[3] वसिष्ठ[4] आदि सूत्रकारों ने समस्त कर्मों की धुरी मानकर ब्राह्मण पुरोहित की नियुक्ति को उचित कहा था।

महाभारत में ब्राह्मण और क्षत्रिय का साथ रहना श्रेष्ठ माना गया था।[5] क्योंकि—

---

१. शान्ति ५६।१९,२१,३९। २. आप० धर्मसूत्र २।२।४।२४।
३. बौधायन धर्म सू० १८।१०।७। ४. वसिष्ठ ध०सू० राजधर्म ३-४।
५. आरण्यक १८३।२२।

ब्रह्मण्यनुपमा दृष्टिः क्षात्रमप्रतिमं बलम् ।
तौ यदा चरतः सार्धमथ लोकः प्रसीदति ॥—आरण्यक २७।१६ ।

मेधावी ब्राह्मण पुरोहित राजा के 'अलब्धस्य च लाभाय लब्धस्य च विवृद्धये' होता है (आरण्यक २७।१८)। अतः यशस्वी, वेदविद्, बुद्धिमान् और बहुश्रुत पुरोहित ब्राह्मण को अपने साथ बसाने की अनुमति राजा को दी जाती थी।[१] भीष्म ने भी राजा तथा राष्ट्र दोनों के योगक्षेम का मूल पुरोहित को स्वीकार किया था।[२] अतः नारद ने विनय सम्पन्न, कुलीन, बहुश्रुत, अनसूय तथा अनुप्रष्य पुरोहित के सत्कार के लिए युधिष्ठिर को सम्मति दी थी।[३]

राजा से नियुक्त होकर पुरोहित उसकी ओर से धर्म्य तथा गृह्यकर्मों का सम्पादन कर लोक का कल्याण करता था।

मन्त्री

मन्त्रीगण भी तत्कालीन राजतन्त्र के प्रमुख अंग और राजा के मनोवांछित कर्मों की पूर्ति के विशेष सहयोगी थे। इन्हें राजा अभीष्टपूर्ति के निमित्त चुनता था।[४] राजा इनके साथ एकान्त में मन्त्रणा करता था। मन्त्रमूल होने के कारण इनका उस समय विशेष महत्त्व था क्योंकि मन्त्रविश्रव का रंचमात्र भी राजा, राष्ट्र तथा प्रजा तीनों के लिए घातक सिद्ध होता था।[५] एक भी मेधावी, शूरवीर, दान्त तथा विचक्षण मन्त्री राजा अथवा राजपुत्र का अपनी मन्त्रणा द्वारा महान् कल्याण कर सकता था[६] क्योंकि राजा का विजय सन्मन्त्रणा में ही निहित था।[७] अतः सर्वदा अपने समान, बुद्धिवाले, पवित्र, सक्षम, कुलीन और अनुरक्त मन्त्रियों का नियोजन राजा के लिए उचित होता था।[८]

सामान्यतः मन्त्रियों को विश्वासपात्र तथा राजा और राज्य का हितचिन्तक और वर्धक समझा जाता था। राजागण भी किसी कार्य को करते समय अपने मन्त्रियों से प्रायः मन्त्रणा लिया करते थे। दशरथ के राम-राज्याभिषेक हेतु निर्णय लेने के लिए विचार विनिमय का,[९] तथा युधिष्ठिर के राजसूय के लिए भी मन्त्रियों, ऋषियों आदि से मन्त्रणा[१०] करने का उल्लेख है। युवनाश्व को तो अपने मन्त्रियों पर इतना विश्वास था, कि अनपत्य होने के कारण वह राज्यभार उन्हीं पर छोड़कर तपस्या करने वन को चला गया।[११] सम्भवतः इन्हीं आधारों

---

१. आरण्यक २७।१९ । २. शान्ति ७५।१ । ३. सभा ५।२९ ।
४. शान्ति ८४।४५ । ५. उद्योग ३३।४४ । ६. सभा ५।२६ ।
७. सभा ५।१७ । ८. सभा ५।१६ । ९. आरण्यक २६१।७८ ।
१०. सभा १२।२१ । ११. आरण्यक १२५।७ ।

पर नारद युधिष्ठिर से—"राष्ट्रं तवानुशासन्ति मन्त्रिणो भरतर्षभ" (सभा५।३४) आदि प्रश्न कर रहे थे।

महाभारतकाल के पूर्व जब राजा का निर्वाचन होता था, मन्त्रियों का विशेष महत्त्व था और इन्हें 'रत्नम्' अथवा 'राजकर्तारः'[1] कहा भी जाता था। कहीं-कहीं इन्हें भी राजन्य, राजा की बराबरी वाला, (Equals)[2] के नाम से अभिहित करते थे। किन्तु महाभारतकाल में सम्मानपात्र होने पर भी विशेष अधिकारी नहीं थे। इनकी और प्रजा की अनुमति यथासम्भव राजाओं द्वारा किसी कार्यविशेष के अवसर पर ली भी जाती थी किन्तु वह सब एक सामान्य व्यवहार अथवा प्रदर्शनमात्र होता था। ये प्रायः राजाओं के अभीष्ट की सिद्धि में रत से दृष्टिगोचर होते हैं। भीष्म, विदुर आदि के प्रयत्न करने पर भी दुर्योधनादि नहीं समझे और अपने चरित्र का निर्माण न कर सके, तथा शकुनि और कर्ण सदृश व्यक्तियों की मन्त्रणा सदा राजा को उसकी अभीष्ट सिद्धि की ओर प्रेरित करती रही। अतः कहीं भी राजा का अभिषेक करने वाले अथवा उसे पदच्युत या नियुक्त करने वाले के रूप में महाभारत के मन्त्री नहीं दृष्टिगोचर होते। सारा भार राजा पर ही था कि वह योग्य व्यक्तियों को योग्यतानुसार पदों पर नियुक्त करे। नारद के 'कृतास्ते वीर मन्त्रिणः' (सभा ५।१६) से स्पष्ट हो जाता है कि राजा ही मन्त्रियों का नियोजक था, मन्त्रीगण, महाभारतकाल तक 'राजकृत्' या 'राजकर्तारः' नहीं रह सके थे। मन्त्रविश्रव के भय से राजा को अपने विश्वासपात्रों को ही सामान्यतः मन्त्री बनाना उचित भी था।

अतः यह राजा का ही कर्तव्य था कि वह सुयोग्य पुरोहित तथा सभ्यजनों की नियुक्ति करे जिनकी सहायता से वह राजा से अपेक्षित कर्मों का सम्पादन कर कृतकृत्य हो जाता और प्रजा का कल्याण होता।

राजपरिवार की सहायता

मन्त्रियों तथा पुरोहितों के अतिरिक्त राजपरिवार के सदस्य भी राजा के लोकहित कर कर्मों में विशेष योग देते थे। वे कभी अपने दान से लोक का हित करते थे कभी दीनों, विपन्नों और असहायों की सहायता द्वारा, कभी सेवा द्वारा और कभी निर्माण कर्म तथा रक्षा द्वारा।

वृत्ति-कर्शित दमयन्ती और द्रौपदी को आश्रय देने वाली क्रमशः चेदिराज माता[3] और विराट् की पत्नी थीं,[4] जो राजपरिवार की थी स्वयं राजा नहीं।

१. Hindu Polity, p. 21.

२. Bandyopadhyaya : Hindu Polity & Political Theory, p. 87.

३. आरण्यक ६३।४३। ४. विराट ८।३२।

पराधीन राज्य की मुक्ति हेतु विदुरा द्वारा दिया गया निजी संचित-कोश[1] और प्रोत्साहन, कुन्ती[2] और धृतराष्ट्र[3] द्वारा दी गई दान-दक्षिणाओं से प्रजा का उसी प्रकार कल्याण हुआ होगा जैसे अभिषिक्त राजा के दान से। द्रोण की मृत्यु के अनन्तर धृतराष्ट्र द्वारा संजय से कहे गये शब्द —

पूजिता हि यथाशक्त्या दानमानासनैर्मया।
तथा पुत्रैश्च मे तात ज्ञातिभिश्च सबान्धवैः ॥—द्रोण ८९।२४।

तथा प्रतिनिधि के रूप में प्रजा के भावों को व्यक्त कर रहे ब्राह्मण साम्ब के वचन—

विप्रियं च जनस्यास्य संसर्गाद् धर्मजस्य वै।
न करिष्यन्ति राजर्षे तथा भीमार्जुनादयः ॥
मन्दा मृदुषु कौरव्यास्तीक्ष्णेष्वाशीविषोपमाः।
वीर्यवन्तो महात्मानः पौराणां च हिते रताः ॥
न कुन्ती न च पाञ्चाली न चौलूपी न सात्वती।
अस्मिन् जने करिष्यन्ति प्रतिकूलानि कर्हिचित् ॥—आश्रम १६।१८-२०।

से प्रजा के सुख एवं दुःख में राजपरिवार का कितना हाथ था, इसका ज्ञान होता है। अतः राजपरिवार का लोक-कल्याण-विधान में प्रधान अस्तित्व था और उनके भी सहयोग की नितान्त आवश्यकता थी। वास्तव में प्रजा में किसी के ऊपर दुःखों का पर्वत गिराने के लिए किसी भी रानी का कोपभवन की ओर गमनमात्र पर्याप्त था। राजकुमार के जन्म, विवाह अथवा स्वयंवर में राजगृह का वैभव प्रजा-प्रांगण में भी उतर आता था।

इस प्रकार कभी राजपरिवार के निजी कर्मों से और कभी उनके उद्देश्य से किये गये राजकीय विधानों से लोक के कल्याण में सहायता मिलती थी।

निष्कर्ष

अतः भारतीय मनीषियों ने राज्य पर अनेक भारों के होने के कारण उसे 'अकृतात्माओं' द्वारा 'दुर्धार्य' कहा गया था।[4] अल्तेकर महोदय के अनुसार भी 'प्राचीन हिन्दू लोग उसको जनहित संवर्धक संस्था के रूप में देखते थे। राज्य के बिना जीवित संरक्षण और पुरुषार्थ साधन हो ही नहीं सकता ऐसी उनकी धारणा थी।[5] 'अत्र वै संप्रमूढे तु धर्मे राजर्षिसेविते। लोकस्य संस्था न भवेत् सर्वं च व्याकुलं भवेत्' (शान्ति ५६।६) से भी यही निष्कर्ष निकलता है।

१. उद्योग १३४।८,९।   २. आदि १३६।५,६; आश्रम २३।१७।
३. आदि १०६।५; आश्रम २०।   ४. शान्ति ५८.२१।
५. प्राचीनभारतीय शासन पद्धति, पृ० ३५।

प्राचीन भारतीय राज्य का स्वरूप केवल राजनीतिक ही नहीं अपितु इसकी अपेक्षा सामाजिक तथा आर्थिक अधिक था। प्रजा उससे केवल सुरक्षा एवं सेना की ही आशा न करके मानव के अस्तित्व में सहायक भौतिक आधारों की स्थिरता हेतु सक्रिय नैतिक सहयोग भी चाहती थी।[१] वस्तुतः 'राज्य के कार्यक्षेत्र में मनुष्य के जीवन के धार्मिक, आर्थिक और सामाजिक सब क्रिया-कलापों को निहित माना गया था।[२]

महाभारतकार ने राज्य और राजा के कार्यक्षेत्र को अत्यन्त व्यापक स्वीकृत कर घोषणा की थी—

न विवाहा समाजा वा यदि राजा न पालयेत्।
न वृषाः संप्रवर्तेरन् न मथ्येरंश्च गर्गराः।
घोषाः प्रणाशं गच्छेयुर्यदि राजा न पालयेत्॥
त्रस्तंमुद्विग्नहृदयं हाहाभूतमचेतनम्।
क्षणेन विनशेत् सर्वं यदि राजा न पालयेत्॥—शान्ति ६८।२२-२४।

इससे राजा का महत्त्व और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है।

———

१. N. C. Bandyopadhyaya : Kauitilya, p. 290.
२. वही, पृ० ४९।

चतुर्थ अध्याय

लोक-रक्षा हेतु राजकीय व्यवस्था

[भूमिका—

अ—शान्तिकालीन रक्षा के उपाय—दण्ड-व्यवस्था, दण्ड का स्वरूप, दण्ड के प्रकार, न्याय तथा दण्ड-व्यवस्था, ब्राह्मण-शासन, पंच और पंचायत, राजकीय न्यायालय, निर्णायिकों की संख्या, निष्पक्ष न्याय की व्यवस्था, गुल्मन्यास, चार-प्रचार, प्रणिधि के स्थान, पुर एवं नगर गुप्ति, ग्रामरक्षा,

आ—अशान्ति कालीन रक्षा—आभ्यन्तर अशान्ति का शमन, वाह्य आक्रमण से रक्षा—जन-निवास व्यवस्था, संधिविधान,

क—परसेना बाधक प्रयोग—मार्गविरोध, संक्रमभेदन, वृक्षच्छेदन, शत्रु-सेना में उपजाप, जलदूषण,

ख—स्वपक्षरक्षक प्रयोग—यन्त्रव्यवस्था, सेनासंचालन, योद्धा और गुल्मन्यास, अर्थ-निचय और सस्याभिहार, विविध आगार और मार्ग व्यवस्था, गृहरक्षा एवं अग्निव्यवस्था, घोष, पशु और सामान्यजन रक्षा, जल-व्यवस्था, औषध-संचय, स्वास्थ्य व्यवस्था तथा मनोरंजन के साधन,

ग—संकटकाल में लोकरक्षा के विशेष उपाय—प्रणिधि, पुरप्रवेश-निषेध तथा असाधु-निग्रह, उपघातक-तत्त्व-बहिष्कार, मद्यपाननिषेध, सैन्यशक्ति-वर्धन की योजना,

इ—विपत्तिकाल में रक्षा—दैवी विपत्तियों से रक्षा का उत्तरदायित्व, विपत्ति प्रतिकार हेतु राजकार्य—कारण-प्रणाश, दान और सदाव्रत, यज्ञ-सम्पादन नदी-मातृकत्वविधान, जीविकार्जन हेतु स्वातन्त्र्य]

लोक-कल्याण की राजकीय योजना में लोक की रक्षा का स्थान सर्वप्रथम है। राजा को ही लोक का आधार कहा गया था,[1] क्योंकि समस्त सुख-साधनों से समन्वित होने पर भी प्रजा को रक्षा के अभाव में शान्ति नहीं मिल सकती। राष्ट्र में राजा में ही राष्ट्र-रक्षा के लिए पर्याप्त बल प्रतिष्ठित होने के कारण लोकरक्षा उसका सर्वश्रेष्ठ सनातन धर्म था।[2] राजा द्वारा अरक्षित देश में धन, सम्पत्ति और सुख का सर्वथा अभाव होता है, यह महाभारतकार की धारणा थी।[3]

१. शान्ति ५७।४२। २. वही। ३. आरण्यक १५४।११।

प्रजा शान्तिकाल में भी परस्पर भयनिवृत्ति के लिए रक्षक के रूप में राजा को चाहती थी। अराजक-राष्ट्र में प्राणियों में परस्पर द्रोह उत्पन्न हो जाता है, दुर्बलों को बलवान् पीड़ित करने लगते हैं और मात्स्यन्याय प्रवृत्त हो जाता है।[1] फलस्वरूप अधर्म छा जाता है। सामान्यदुर्बल मनुष्य की भाँति आततायी, तस्कर और सबल पक्ष को भी समान रूप से रक्षा की आवश्यकता होती है[2] क्योंकि उनको भी परस्पर भय बना ही रहता है और विश्व में एक से एक बढ़कर व्यक्ति हुआ ही करते हैं। परशुराम ने पृथ्वी को निःक्षत्रिय करके अपने हाथ में उसकी सत्ता लेकर जब कश्यप को उसे दान में दिया, और वे भी पृथ्वी को ब्राह्मणों में बाटने लगे, तब रक्षक के अभाव में वह रसातल चली गई।[3] अर्थात् शान्तिकाल में भी लोक की स्थिति हेतु राजा की आवश्यकता थी और राजा ही परस्पर भय निवृत्ति में सहायक तथा समर्थ भी था।[4]

दूसरे राष्ट्र द्वारा आक्रमण करने पर राष्ट्र में संकटकाल आ जाता था। उस स्थिति में प्रजा का एकमात्र रक्षक राजा ही हुआ करता था। वही सैन्यशक्ति के सहारे राष्ट्र के दुःख को दूर करता था, प्रजा को सुरक्षा प्रदान करता था और प्राणपण से शत्रुओं से डट कर भीषण संग्राम करता था।

इन दोनों स्थितियों के अतिरिक्त जब कभी दैवी प्रकोप होता था, और उससे भी राष्ट्र में घोर विपत्ति आ जाती थी, उस समय भी राजा उन दुःखों के मूल कारण का ज्ञान कर यथासम्भव रीतियों से उन्हें समूल नष्ट करने का प्रयास करता था। इसके निमित्त वह महान् से भी महान् त्याग करने को सर्वदा प्रस्तुत रहता था।

इस प्रकार शान्ति, अशान्ति तथा विपत्तिकाल में समान रूप से प्रजा को राजकीय संरक्षण की पदे-पदे आवश्यकता होती थी। प्रजा इसके प्रतिदान में राजा को अपने उत्पादन का षष्ठांश, चतुर्थांश अथवा दशमांश बलि दिया करती थी। उसे ग्रहण कर सम्यक् रूप से प्रजा की रक्षा न करने वाला राजा चोर के सदृश निन्दनीय था।[5] बलि का षष्ठांश ग्रहण कर रक्षा न करने पर राजा को रक्षा के अभाव में लोक में प्रवृत्त पापों का चतुर्थांश भोगना पड़ता था।[6] 'राज्य मिल गया' केवल इतना ही समझकर जो शासक अनुचित व्यवहार करते थे उनका विनाश शीघ्र ही ठीक वैसे ही सम्भव था जैसे वृद्धावस्था के आते ही रूप का, ऐसी नैतिक धारणा महाभारतकाल में थी।[7] प्रजा से धन लेकर उसकी

---

१. शान्ति ६७।३,१६,१७। २. शान्ति २५१।७-९।
३. शान्ति ४९।६०-६५। ४. शान्ति ९०।१२-१३।
५. शान्ति १३९।९६। ६. शान्ति २५।१२। ७. उद्योग ३४।१२।

रक्षा न करना घोरतम अपराध था और धर्म के अनुसार उसे निरय की यातना भोगनी पड़ती थी।[१]

राजधर्मशास्त्र के प्रणेताओं ने ऐसी स्थिति में प्रजा को किंकर्तव्यविमूढ़ अथवा राज्य या भाग्य के सहारे बैठकर रोने का आदेश नहीं दिया था। निष्क्रिय बैठ जाने पर प्रजा में पीड़ा की अतिशय वृद्धि होती है और कुप्रवृत्तियों को प्रोत्साहन भी मिलता है। अतः प्रजा की रक्षा का भार स्वीकार करके रक्षा न करने वाला दुर्विनीत, अभिमानी, ठग राजा को पाप का भागी कह कर राजनयविदों ने उसे 'दुर्दान्त' नाम से धिक्कारा था[२] और प्रजा को उसका परित्याग उसी प्रकार करने को कहा था जिस प्रकार लोक सिन्धु में छिन्न नौका का परित्याग कर देता है।[3] अरक्षक, धन हरण करने वाले, धर्मविनाशक शासक को राजा नहीं, राजकलि कहा गया था[४] और ऐसे राजा का वध प्रजा कर सकती थी।[५] 'मैं तुम्हारा रक्षक हूँ' ऐसा कह कर जो राजा रक्षा नहीं करता वह पागल कुत्ते की भाँति हत्या का पात्र था।[६] वस्तुतः —

पुत्रा इव पितुर्गेहे विषये यस्य मानवाः।
निर्भया विचरिष्यन्ति स राजा राजसत्तमः॥—शान्ति ५७।३३।

शान्तिकालीन रक्षा के उपाय

इन आदर्शों के अनुसार समाज, उसकी मान्यताओं, धारणाओं, संस्थाओं और धनादि की रक्षा तत्कालीन राजागण शान्तिकाल में मानव-मानव में विद्यमान सहज परस्पर विद्वेष की भावनाओं को दूर कर, करते थे।

राजा दण्ड के सहारे अव्यवस्था के प्रेरक सूत्रों का नियमन करता था। अन्यथा सबल दुर्बल को नष्ट कर देते।[७] दण्ड का अभिप्राय अपराधियों को उनके कर्मों के अनुसार पीड़ा देना मात्र नहीं था, अपितु दण्ड में अपराधी तत्त्वों का दमन और शमन अपराध के पूर्व करना भी निहित था।[८] अतः दण्ड के द्वारा राजा प्रथम तो उपद्रवों को शान्त करने की ही चेष्टा करता था और कदाचित् पाप हो जाने पर पापी को उसके कर्मों का फल भी भुगताया जाता था। दण्ड विधान में शिथिलता आने पर धर्मह्रास एवं पापवृद्धि होती है।[९]

दण्ड का स्वरूप

दण्ड वध का पर्याय नहीं। वह अपकर्मों का न्यायपूर्ण परिमार्जन समझा

---

१. अनुशा २३।८०। २. शान्ति २५।१८-१९। ३. शान्ति ५७।४४-४५।
४. शान्ति १२।२७-२९। ५. अनुशा ६१।३२।
६. अनुशा ६१।३३। ७. शान्ति १५।३०।
८. शान्ति १५।८। ९. शान्ति २५९।३०,३५।

जाता था। दण्ड का प्रयोजन था किसी भी अपराधी को उसके अपराध का ज्ञान करा कर भविष्य में किसी भी पाप को न करने के योग्य बनाना। अतः दण्ड की योजना अशिष्टों को शिष्ट बनाने के लिए थी, न कि व्यर्थ का वध, अथवा शारीरिक या मानसिक पीड़ा।[1] उसका एकमात्र उद्देश्य था प्रजा के विनय की रक्षा।[2] अन्यथा दण्ड दण्ड न रह कर हिंसा हो जाता जो असाधुओं का बल हैं राजा का नहीं। राजा का बल तो दण्ड ही सर्वसम्मत था।[3] दण्ड की परिधि में वध का भी समावेश था, अतः तत्कालीन विचारकों ने साम, दाम और भेद के द्वारा शिष्टि-कर्म का सम्पादन असम्भव होने पर ही अन्त में दण्ड का आश्रय लेना उपयुक्त माना था।[4]

दण्ड के प्रकार

दण्ड रक्षा का निःसंशय ही प्रमुखतम और अन्तिम उपाय समझा गया था, किन्तु दण्डविधान स्वेच्छया अपरिमित न होकर अपराध के अनुसार ही होना था।[5] उसे न अत्यन्त उग्र ही होना चाहिए और न अत्यन्त मृदु ही। दण्ड की माध्यमिक स्थिति को ही उचित समझ कर नारद ने अनुग्र दण्डन हेतु युधिष्ठिर से प्रश्न किया था।[6]

उस समय कई प्रकार के दण्ड प्रचलित थे। इसके विभिन्न रूप वाग्दण्ड, निग्रह, बन्ध, हिरण्य का जुर्माना, शरीर की व्यंगता, अन्यविध शरीर पीड़न, देश-निष्कासन, वध आदि थे। इनमें पूर्व-पूर्व से शिष्टता आ जाने पर यथासम्भव पर-पर परित्याज्य थे। वध दण्ड तो सबसे अन्त में ही देना उचित समझा गया था।[7] सर्वप्रथम धिग्दण्ड ही था[8] किन्तु उससे प्रजा में अपराधों की कमी न हो सकी, अतः अधिक उग्र दण्ड बनाये गये। दण्ड सभी वर्णों के लिए था। अपराध करने पर ब्राह्मण और ऋषि भी दण्ड से मुक्त नहीं थे। उन्हें भी निष्कासित किया जा सकता था।[9] जनक ने एक ब्राह्मण को देश से निर्वासन का दण्ड दिया था।[10] लिखित ऋषि को व्यंग किया गया था[11] और अणीमाण्डव्य को शूली पर चढ़ना पड़ा था।[12]

विविध प्रकार के व्यक्तियों को ध्यान में रख कर दण्ड विधान किये गये

१. शान्ति १३३।२०-२१। २. शान्ति १२२।१४।
३. उद्योग ३४।७२। ४. उद्योग ८०।१२; शान्ति ७०।२४।
५. शान्ति ८६।१९;१२२।४०। ६. सभा ५।३४।
७. शान्ति १२२।४१-४२;२५९।१३। ८. शान्ति २५९।१९-२१।
९. शान्ति ७०।१४। १०. आश्वमे ३२।२।
११. शान्ति २४।१८-२०। १२. आदि १०१।११।

थे। जो व्यक्ति जिस प्रकार के दण्ड के उचित था उसे उसके अनुसार ही दण्ड दिया जाता था। घोर अपराध करने पर ब्राह्मण को वाग्दण्ड अर्थात् धिक्कार और गर्हामात्र पर्याप्त था जबकि उसी अपराध के लिए क्षत्रिय को बाहुदण्ड अर्थात् शारीरिक श्रम या ताड़नादि, वैश्य को धनदण्ड (जुर्माना) तथा शूद्र को कोई भी दण्ड न देने का विधान था।[1] इसी भाँति एक धनिक को धन-दण्ड, दरिद्र को वध और बन्धन, दुर्वृत्तों को यथानुकूल विनय और प्रहारों से तथा शिष्टों को सान्त्वना आदि वाचिक उपायों से शान्त करना विहित था।[2] इन दोनों प्रकार के दण्ड विधानों के मूल में एक महत्त्वपूर्ण नैतिक तथा मनोवैज्ञानिक तथ्य निहित था। ब्राह्मण से स्वभावतः तप और दम की ही आशा की जाती थी और उनसे किसी भी प्रकार के हानि की आशंका प्रायः समाज को नहीं थी। अतः प्रथम तो भूल से कोई अपराध हो जाने पर भी वह क्षम्य ही था, और द्वितीयतः उसे उसकी भूल का स्मरण कराने के लिए वाणी द्वारा ही किया गया तिरस्कार और धिक्कार मात्र ही पर्याप्त था। शूद्रों को स्वतः कोई कार्य करना नहीं होता था और न उनका निजी धन ही होना चाहिए था। अतः उनके कर्तव्याकर्तव्य उनके नियोजकों की आज्ञानुसार होने के कारण, पाप के उत्तरदायी भी वे ही होते थे, शूद्र या सेवकगण नहीं। इसी प्रकार धनिकों को धनदण्ड देने से एक ओर राजकीय कोश की वृद्धि होती थी और दूसरी ओर धनिकों की धन में ही अत्यन्त आसक्ति होने के कारण उन्हें अधिकतम पीड़ा भी होती थी। दरिद्रों को धनदण्ड न देने से लोक में चोरी और द्यूत आदि कर्मों का निरोध होता था और दूसरे दरिद्रों के लिए शरीररक्षा ही प्रमुखतम ध्येय होने से शरीर दण्ड से उन्हें घोरतम दुःख भी होता था। सामान्यतः यथासम्भव वधदण्ड का प्रयोग नहीं ही करने का आदेश था,[3] क्योंकि फिर जीवन में सुधरने का अवसर नहीं मिलता।

न्याय तथा दण्ड व्यवस्था

किस व्यक्ति को किस अपराध का कितना दण्ड मिलना चाहिए, इसका निर्णय करने के लिए तथा दण्डदान करने के लिए राजा राजपुरुष नियुक्त करता था। किन्तु राजा की ओर से सदा चेष्टा यही रहती थी कि यथासम्भव समस्त विवादों का निर्णय स्थानीय संस्थाओं से ही हो जायें और उन्हें न्याय याचना हेतु राज सभा का मुँह न देखना पड़े। इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए दोनों उपाय बनाये गये थे। नारद तथा युधिष्ठिर के प्रश्नानुप्रश्न से ज्ञात होता है कि सामान्यतः रक्षा तथा न्याय का कार्यभार मन्त्रियों के आश्रित होता था, किन्तु वे दण्ड के

१. शान्ति १५।९। २. शान्ति ८६।१९-२०। ३. शान्ति २५९।११-१३।

स्वतन्त्र तथा सर्वोच्च निर्णायक नहीं थे। राजा उसका अन्तिम अधिकारी था जिसे मन्त्रियों द्वारा दिये जाने वाले दण्ड का ज्ञान रखना आवश्यक था।[1]

ब्राह्मण-शासन

उस समय एक विचार-धारा यह भी प्रवाहित हुई थी कि सब वर्णों को ब्राह्मण के निरीक्षण में रखा जाये।[2] ब्राह्मण धर्म के प्रतीक, अनृशंस, निष्पक्ष एवं शास्त्रों में निष्णात समझे जाते थे। अतः किसी भी व्यक्ति को अपराध करने पर सर्वप्रथम विद्वान् ब्राह्मण के ही पास जाना था।[3] भविष्य में पुनः अपराध न करने की प्रतिज्ञा करने पर उसे मुक्ति मिल सकती थी।[4] ब्राह्मण को अपराध स्वीकार कराने के अतिरिक्त दण्डन का अधिकार नहीं था, अतः यदि उसके समक्ष उत्पाती व्यक्ति अपना पाप स्वीकार न करे तब वह उसे राजा के पास ले जावे और 'यह मेरी बात नहीं मानता' यह कह कर उसे राजा को अर्पित करे। आगे दण्ड का भार राजा पर था।[5]

यह व्यवस्था उत्कृष्ट नैतिकता पर आधृत थी। वर्णव्यवस्था के अनुसार ब्राह्मणों को शास्त्रनिष्णात और तपस्वी होना भी चाहिए। अतः उनके वचन प्रभावोत्पादक हों यह अपेक्षा थी। उनमें अपराधियों को सन्मार्ग पर लाने की शक्ति थी। ऐसी सम्भावना होने पर निश्चय ही राजा को छोटे-छोटे अभियोगों और विवादों में अपना समय न नष्ट करना पड़ता। किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से न तो सब ब्राह्मणों से पूर्ण दम और तपस्या की ही आशा की जा सकती है और न सबसे व्यवहार निरूपण की क्षमता की अपेक्षा ही। साथ ही निर्णय का अधिकार मिलने पर ब्राह्मणों में परस्पर अहंता और शेष वर्णों पर उनके आतंक की शंका प्रतिक्षण सम्भव थी। अतः सैद्धान्तिक रूप से अत्यन्त उत्कृष्ट होने पर भी व्यावहारिक लोक में यह व्यवस्था पूर्ण सफल होगी, इनमें सन्देह है।

पंच और पंचायत

एक व्यक्ति से पूर्णतः न्याय की सम्भावना न होने से तत्कालीन न्याय व्यवस्था में पंचों के लिए भी स्थान था। पंचों को स्वयं नैतिक और व्यावहारिक गुणों से युक्त होना चाहिए था।[6] इनकी नियुक्ति अथवा अनुमोदन राज्य द्वारा किया जाता था या नहीं, इसका विवरण नहीं मिलता। किन्तु राजा से इनकी गतिविधियों का ज्ञान अपेक्षित था। इनके निर्णयों को राजकीय मान्यता भी मिलती थी। अन्यथा नारद राजा से इनके विषय में पूछते ही न। राजकीय पर्यवेक्षण के अभाव में ये भी यथेच्छ व्यवहार करते और राजकीय मान्यता न

---

१. सभा ५।३४। २. शान्ति २५९।७। ३. वही ८।
४. शान्ति २५९।१४। ५. शान्ति २५९।८। ६. सभा ५।७०।

होने पर लोक इनके निर्णयों को स्वीकार भी न करता। 'स्वनुष्ठिता:'[१] पद से इनकी राजा द्वारा नियुक्ति की कल्पना की जा सकती है किन्तु यह अर्थ की खींचतान ही होगी। इस पद का अर्थ स्वकर्म में पूर्णरूप से रत लेना चाहिए जैसे इनके दो विशेषणों 'शुचिकृत:' तथा 'प्राज्ञा:' का है।[२]

पंचायत विवादों को प्रारम्भ में ही शान्तिपूर्ण और निष्पक्ष ढंग से समाप्त कर देने का प्रशस्त उपाय माना गया था और आज भी लोक में यह धारणा बढ़ रही है।

राजकीय न्यायालय

अपराध का विवेचन और अन्तिम निर्णय करने के लिए राजकीय न्यायालय होते थे जिन्हें 'सभा' कहते थे। इनके निर्णायकों को 'सभ्य' कहा जाता था जो सत्यवक्ता और ज्ञानवृद्ध होते थे।[३] सभा से पूर्णन्याय की आशा होती थी जहाँ पर पीड़क और पीड़ित दोनों ही अपने-अपने दु:खों से जलते हुए प्रवेश करते थे और शान्त होकर जाते थे।[४] धर्मपूर्वक सत्यासत्य का विवेचन न करने वाला सभासद् अनृत और पाप के आधे अथवा पूर्ण भाग का पात्र होता था।[५] वसिष्ठ ने अपराधी को उचित दण्ड का विधान न हो पाने पर राजा को एक रात्रि तथा धर्मज्ञ होते हुए भी उचित न्याय न करने के कारण पुरोहित को तीन रात्रि उपवास करने का आदेश दिया था।[६] इसी प्रकार अदण्ड्य को दण्ड देने पर राजा को तीन रात उपवास और ब्राह्मण को कृच्छ्र-व्रत करना था।[७]

निर्णायकों की संख्या

गहन विवादों का निर्णय निष्पक्ष भाव से एक ही व्यक्ति से अपेक्षित नहीं था। अकेला व्यक्ति विविध धर्मशास्त्र, वेद, देश, जाति, कुल आदि के आचारों का ज्ञान नहीं रख सकता। अत: न्याय और अपराध निर्णय के समय सभा में अनेक बहुश्रुत लोगों को नियुक्त किया जाता था। भीष्म[८] और धृतराष्ट्र[९] दोनों ने इसे आवश्यक माना था।

व्यवहार कर्म के लिए नियुक्त किये जाने वाले व्यक्तियों के निर्वाचन में अत्यन्त उदारता और निष्पक्षता का आश्रय लिया जाता था। सामान्यत: इनकी संख्या आठ होती थी।[१०] इनमें चार विविध विद्याविशारद, प्रगल्भ, सात्त्विक एवं

---

१. सभा ५।७०। २. वही।
३. उद्योग ३५ ४९। ४. सभा ६१।५३।
५. सभा ६१।५६, ५७, ६९,७०। ६. वासिष्ठ ध० सू०, राजधर्मा: ४०-४१।
७. वही, ४२-४३। ८. शान्ति २५।१७। ९. आश्रम १०।१।
१०. शान्ति ८६।१०।

शुचि ब्राह्मण, तीन विनीत और शुभकर्म रत शूद्र तथा एक अष्टगुण समन्वित, पचासवर्षीय, वाक्पटु, अनसूय, पुराणवेत्ता सूत होना चाहिए।[१] पूना से प्रकाशित संशोधित संस्करण के अतिरिक्त महाभारत के अन्य संस्करणों में इक्कीस वैश्यों की भी गणना इस सभा के लिए की गयी है।[२] डा० काशीप्रसाद जायसवाल के मतानुसार विशेष समिति आठ व्यक्तियों की तथा सामान्य उनचास (एकोनपंचाशत्) की होती थी।[३] डा० जायसवाल ने उनमें वैश्यों की संख्या को भी युक्त करके चतुर्वर्णों का प्रतिनिधित्व दिखाने की चेष्टा की है। किन्तु दोनों ही बातें पूर्णतः सत्य नहीं प्रतीत होतीं। स्पष्ट रूप से आठ व्यक्तियों का ही उल्लेख होने से और किसी दूसरी समिति या सभा का वर्णन न होने से दो सभाओं के होने का प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता। दूसरी बात यह है कि उस समय शूद्रादि को सभा में स्थान देने का अभिप्राय यह नहीं था कि वे अपने वर्ग का प्रतिनिधित्व करेंगे, अतः किसी न किसी प्रकार उन्हें वहाँ रहना ही था। वास्तव में राजा को देश, काल, जाति, कुल आदि के आचारों और मान्यताओं के ज्ञान की आवश्यकता होती थी। अन्यथा शुचिकृत् और स्वकर्मरत शूद्रों की ही नियुक्ति का विधान न होता। प्रतिनिधित्व करने पर अधिकार हेतु संघर्ष का उदय होता है किन्तु जहाँ प्रतिनिधित्व का प्रश्न न हो वहाँ निष्पक्षता का।

निष्पक्ष न्याय की व्यवस्था

निर्णय करते समय देश, जाति, कुल आदि के धर्मों का पूर्ण ध्यान रखा जाता था।[४] बृहस्पति,[५] शुक्र,[६] स्मृतिकार व्यास[७] तथा मनु[८] सबने व्यवहार के समय इनका ध्यान रखने पर बल दिया था। अल्तेकर महोदय के मतानुसार जिन विषयों में संदेह था अथवा जिनका शास्त्रों में निर्देश नहीं था, उन्हीं के निर्णय के लिए, निष्पक्ष रूप से, स्मृतियों में लगभग दस व्यक्तियों की परिषद् बनाकर राजा को न्याय करने की अनुमति दी गई थी।[९] महाभारत में ऐसी ही व्यवस्था थी। केकयराज अश्वपति के शब्दों से कुल, देश आदि धर्मों का ध्यान उनके जनपद में रखने का ज्ञान होता है।[१०] किसी देश के आचार-ज्ञान के अभाव

---

१. शान्ति ८६।७-९।   २. गीता प्रे० सं० शान्ति ८५।७-११।
३. K. P. Jayaswal : Hindu Polity, p. 149.
४. आश्रम १०।१-४।   ५. व्यवहारमयूख, पृष्ठ ३।
६. शुक्रनीतिसार, २।९९-१००।   ७. व्यवहारमयूख, पृष्ठ ३।
८. मनु ८।३९०।
९. A. S. Altekar : Malviya Commemoration Volume, p. 649.
१०. शान्ति ७८।१९।

में कहीं अन्याय न हो जाये इस आशंका से मुक्त रहने के लिए उस समय पराजित करने के बाद में तद्देशीय राजाओं अथवा उनके वंशधरों को करद करके उनका राज्य लौटा दिया जाता था।[१]

प्रायः न्याय के ऊँचे निर्णयों के अवसर पर राजा स्वयं भी उपस्थित रहता था, तथापि राजकीय मान्यता प्राप्त संस्थाओं में कहीं भी त्रुटि न हो, द्रव्यलोभ-वश वास्तविक अपराधी छोड़ न दिये जायें और निष्पाप दण्ड के भागी न हों इसका भी पूर्ण ज्ञान राजा को रखना पड़ता था।[२] व्यवहार की निष्पक्षता सपक्षता का ज्ञान करने के लिए राजाओं द्वारा गुप्तचरों की नियुक्ति होनी चाहिए थी।[3]

गुल्म-न्यास

परस्पर भयनिवृत्ति एवं उपघातक तत्त्वों के निरोध हेतु दण्ड व्यवस्था थी ही, साथ ही उस समय शान्ति काल में राजा उपद्रवीजनों को पकड़ने के लिए गुल्मन्यास करते थे। गुल्म एक संख्या विशेष में साथ-साथ भ्रमण करने वाले रक्षक राजपुरुषों का समूह था। ये राजपुरुष सार्वजनिक स्थानों पर रहते थे जो हानि करने वालों को पकड़ कर राजा के सुपुर्द करते थे। इन्हें आज के 'पुलिस' के व्यक्तियों सा समझ सकते हैं। चोर का पीछा करते हुए राजपुरुषों का वर्णन महाभारत में उपलब्ध होता है, जब वे अणीमाण्डव्य के आश्रम में पहुँचे थे।[४]

गुल्मों को नगरोद्यान, पुरोपवन तथा नगर के अन्य सार्वजनिक स्थानों पर नियुक्त करने का विधान था।[५] दुर्गादि रक्षा के स्थान, राजभवन एवं राज्य सीमा के संधिस्थलों पर भी रक्षार्थ इनकी नियुक्ति विहित थी।[६]

चार-प्रचार

चर लोकरक्षा के प्रमुख अंग थे। राज्य में घटित-घटनाओं का ज्ञान राजा को इनसे ही विश्वस्त रूप से होता था, अतः ये राजा के नेत्र कहे जाते थे।[७] आश्रम जाते समय धृतराष्ट्र ने युधिष्ठिर को उपदेश दिया था कि वे सर्वदा दूसरों को अज्ञात एवं परीक्षित चारों की नियुक्ति अपने तथा पर राष्ट्र में करें।[८]

लोक में राजा के विषय में लोगों की क्या धारणाएँ हैं इसको जानने के लिए भी राजा को चारों की विशेष आवश्यकता होती थी।[९] गुप्तचरों के बिना राजा को यह ज्ञान नहीं हो सकता कि उसके अमात्यगण तथा अन्य मध्यम वर्गीय

१. शान्ति २४।३०-३१। २. सभा ५।९३-९५।
३. आश्रम १०।१। ४. आदि १०१।४-११।
५. शान्ति ६९।६-७। ६. शान्ति ६९।६-७। ७. उद्योग ३४.३२।
८. आश्रम ९।१५। ९. शान्ति ९०।१५-१६।

लोग उसके प्रशंसक हैं अथवा निन्दक।[1] इन तथ्यों के ज्ञान के अभाव में प्रजा का न निग्रह किया जा सकता था, न अनुग्रह।

गुप्तचरों के दो भेद थे। प्रथम अपने राष्ट्र में ही रहकर उसकी परिस्थितियों से राजा को अवगत कराते थे। इन्हें अन्तरेचर कहते थे। द्वितीय वे थे जो परराष्ट्रों में रहकर राजा को उसकी गतिविधियों से परिचित कराते थे।[2]

प्रणिधि के स्थान

चरों की नियुक्ति गुप्त से गुप्त एवं प्रकट से प्रकट दोनों प्रकार के स्थानों पर की जाती थी जिससे राजा के आँखों से कुछ भी ओझल न रहे। अतः महाभारतकार ने कहा है कि परीक्षित, प्राज्ञ एवं क्षुत्पिपासाक्षम गुप्तचरों की नियुक्ति सब अमात्यों, मित्रों, पुत्रों आदि के समीप करना चाहिए। इनको संदेह न हो अतः इनके अन्ध, वधिर, जड आदि रूप में विद्यमान सेवकों की भाँति इनकी नियुक्ति करे।[3] पुर, जनपद तथा सामन्त-राजाओं के पास भी प्रणिधि का विधान था।[4] चारों की नियुक्ति इस चातुरी से करनी चाहिए थी कि वे परस्पर भी एक दूसरे को न जान सकें।[5] प्रजा के उपभोग्य आपणविपण, विहार, जनसमाज, भिक्षु-समुदाय, आराम, उद्यान, पण्डित-समागम-स्थल, चत्वर, सभा, आवसथ आदि स्थानों पर भी इन्हें रखना उचित समझा जाता था। विदेशीय चारों का पता पाते ही उनका वध करा देने का भी विधान था।[6] अच्छे प्रकार से कार्यरत किये गये गुप्तचर पाषण्ड, तापस आदि के रूप में प्रपा, पानागार, वेशस्थली, तीर्थ आदि में रहने वाले धर्म के उपघातकों, पापी लोककण्टकों का समाचार देने में समर्थ थे।[7] इनसे वृत्तान्तों का ज्ञान कर राजा उचित दण्ड दे सकता था।

पुर एवं नगर-गुप्ति

अन्य राष्ट्र द्वारा आक्रमण न करने पर भी राजधानी तथा राज्य के अन्य नगरों की रक्षा करना, वहाँ पर किसी भी क्षण शत्रु का मुकाबला करने के लिए पर्याप्त सामग्री, शस्त्रास्त्र, धन और रक्षक नियुक्त करना आदि राजा का प्रमुख कर्तव्य था।[8] अनवरुद्ध गति से शत्रु नगर में प्रवेश करके धन-जन की क्षति न करे अतः प्राचीन काल में दृढ़ प्राकार तथा तोरण बनवाये जाते थे।[9] इन निर्माणात्मक कार्यों के अतिरिक्त शतघ्नी आदि यन्त्रों से सुसज्जित कर पुर को सुरक्षित रखना राजा का परम कर्तव्य था।[10] नगर रक्षार्थ युधिष्ठिर को धृतराष्ट्र ने अनेक उपायों का वर्णन किया था।

---

१. शान्ति ९०।१७। २. विराट २४।५;१०।१३।
३. शान्ति ६९।८-९। ४. शान्ति ६९।१०।
५. वही। ६. शान्ति ६९ ११-१३। ७. शान्ति १३८।३९-४२।
८. शान्ति ५८।७-९। ९. आश्रम ९।१६-१७। १०. वही।

नगर तथा ग्रामों में उनकी रक्षा के लिए अधिकारी नियुक्त किये जाते थे। वारणावत जाने पर पाण्डवों के 'नगराधिकारियों' के घर भी जाने का उल्लेख है।[१]

विजय यात्रार्थ अथवा सामान्य किसी अन्य कर्म से राजा के नगर से बाहर जाने के अवसर पर पुर में रक्षार्थ कुछ रक्षकों की नियुक्ति की जाती थी। सामान्यतः राजा के वहिर्गमन का वृत्तान्त सुनकर विदेशी राजा नगर पर आक्रमण किया करते थे। अतः त्रिगर्तों से लड़ने के लिए स्वयं प्रस्थान करने पर विराट नगर की रक्षा हेतु भूमिंजय उत्तर को नियुक्त कर गये थे।[२] आश्रम में स्थित धृतराष्ट्र से मिलने के लिए जाते समय युधिष्ठिर ने महातेजस्वी युयुत्सु तथा पुरोहित धौम्य को पुररक्षार्थ सन्नद्ध कर दिया था।[३]

ग्राम-रक्षा

विशाल नगरों के सदृश ही ग्राम रक्षा का भी भार राजा पर था। नारद ने युधिष्ठिर से नगरों की ग्रामवत् तथा ग्रामों की नगरवत् रक्षा करने का समाचार पूछा था, जिसका अर्थ समान रूप से दोनों की सम्यक् रक्षा था।[४] अतः राज्य की समविषम परिस्थितियों के निरीक्षण हेतु सैनिकों के साथ उनके अध्यक्ष राजा की ओर से नियुक्त किये जाते थे।[५]

सामान्यतः ग्राम की रक्षा के लिए एक अधिपति का नियोजन किया जाता था।[६] इस ग्राम के अधिपति को 'ग्रामिक' कहते थे।[७] इसी प्रकार दश ग्रामिकों के ऊपर एक 'दशय' बीस ग्रामिकों के ऊपर 'विंशतिय', सौ के ऊपर शतय, शतपाल या ग्रामशताध्यक्ष तथा एक सहस्र ग्रामिकों के ऊपर एक सहस्रपति होते थे।[८] इन सबसे ऊपर तथा विशेषाधिकारों से युक्त एक धर्मज्ञ सचिव[९] होता था जो नगर में रहता था और राजा को समस्त वृत्तान्तों से अवगत कराता था। इनको विक्रय, क्रय, मार्गादि, वेतन, भक्त, योगक्षेम, उत्पत्ति, दानवृत्ति तथा शिल्प को देखकर वणिजों पर करनिर्धारण आदि का भी काम दिया जाता था।[१०]

ग्रामों में किसी विशेष घटना के होते ही ग्रामपाल दशय को दशय विंशतिय को, विंशतिय शतपाल को शतपाल सहस्रपाल को परम्परया सूचित करते थे और यथा-वसर रक्षा के उपकरण संचित किये जाते थे।[११] जीविका के लिए सहस्रपाल

१. आदि १३४।७। २. विराट ३३।११। ३. आश्रम ३०।१५।
४. सभा ५।७१। ५. सभा ५।७२। ६. शान्ति ८८।३।
७. शान्ति ८८।४। ८. वही ८८।५-८। ९. वही ८८।९-१०।
१०. वही ११-१२। ११. वही ४-६।

आदि अपने से पूर्व-पूर्व पर आश्रित रहते थे।[१] राजा यह भी चेष्टा किया करता होगा कि सेना की किसी टुकड़ी के स्कन्धावार आदि गाँव से दूर डाले जाएँ तथा आवश्यकता न होने पर अथवा आमन्त्रित न किये जाने पर वे ग्रामों में प्रवेश न करें और प्रजा में अत्याचार और आतंक न बढ़े।

तत्कालीन राजाओं ने दोषादोष परिज्ञान, उनके परिहार तथा प्रोत्साहन के साधनों का यथावसर अवलम्ब लेकर शान्तिकाल में प्रजारक्षा का पूर्ण प्रबन्ध करना प्रारम्भ कर दिया था। उनकी दृष्टि में पुर, नगर तथा ग्राम सब समान थे और वे यथासम्भव परिस्थितियों में उपलभ्य साधनों से उनकी रक्षा करते थे।

अशान्तिकालीन रक्षा

राष्ट्र में दो प्रकार की अशान्ति की सम्भावना रहती थी—प्रथम आभ्यन्तर, द्वितीय बाह्य। मन्त्री, पुरोहित, सेनापति, युवराज अथवा प्रजा के घातक तत्त्वों से संभूत उपद्रवों को कौटिल्य ने आभ्यन्तर तथा राष्ट्रप्रमुख, अन्तपाल, आटविक आदि के कोपजन्य दुःख को बाह्य कहा था।[२] अर्थात् राष्ट्र के भीतर रहने वाले लोगों का अपने ही राज्य के अंगों की क्षति को आभ्यन्तर तथा विदेशी जनों से किसी राष्ट्र पर अभिघात आदि को बाह्य अशान्ति की संज्ञा दी गई है।[३] इन दोनों स्थितियों में राजा ही नियन्त्रण में समर्थ होता है। अतः उसी से आशाएँ की जाती थीं।

आभ्यन्तर अशान्ति का शमन

सरल अथवा कुटिल किसी भी मार्ग का अनुसरण उपद्रवों की शान्ति हेतु किया जा सकता था।[४] भीष्म के अनुसार भृत्यों द्वारा अपने विरुद्ध किये जाने वाले कार्यों का ज्ञान गुप्तचरों द्वारा करके उनमें फूट डालनी चाहिए।[५] सदा श्रेणिमुख्यों, स्वजनों एवं अमात्यों पर दृष्टि रखना राजा का कर्तव्य था जिससे वे भी न तो राजकर्म-भेदन में समर्थ हो सकें,[६] और न अपना संघ ही बना सकें। कौटिल्य का भी विचार था कि आभ्यन्तर संकट उपस्थित होने पर राजा यथासम्भव अपने विरोधियों को विरोधियों से, स्वजनों को स्वजनों से तथा पर और अपर को परस्पर लड़ा कर दोनों से अपनी रक्षा करे।[७]

बाह्य आक्रमण से रक्षा

परचक्रोपघात के समय स्वदेशवासियों को रक्षा की समस्या तत्कालीन राजाओं के समक्ष विशेष रूप से उपस्थित हो जाती थी, क्योंकि सेना चतुरंगिणी

---

१. सभा ८८।६-७। २. अर्थशास्त्र ९।३। ३. शान्ति ८२ १३।
४. शान्ति ५८।६। ५. शान्ति ५८।११।
६. शान्ति १३८।६३;५८।१०-११। ७. अर्थशास्त्र ९।३।

होने पर भी स्थल सेना ही होती थी। अतः राजाओं को एक ऐसा स्थान चुनना आवश्यक हो जाता था जहाँ अधिक से अधिक लोग सुरक्षित रूप से रह सकें।

जननिवास व्यवस्था

वाह्य आक्रमण होने पर प्रजा को सुरक्षित आवास प्रदान करने के लिए 'दुर्ग-कर्म' किये जाते थे। दुर्गों को स्वभावतः दुर्गम एवं दुर्भेद्य बनाया जाता था जिससे विदेशी आक्रामक को आगे बढ़ने में कठिनाई हो, उनके समय, धन एवं जन की क्षति हो तथा अपनी प्रजा अधिक से अधिक सुरक्षित रह सके। अतः भीष्म ने शत्रु के गतिरोधनिमित्त दुर्ग और पुर के चारों ओर दृढ़ प्राकार तथा परिखा का विधान किया था। आक्रमण और प्रतिरोध के लिए दुर्ग और पुर में हाथी, घोड़े आदि वाहनों का प्रबन्ध, प्रजा के लिए धनधान्य व्यवस्था, तथा दुर्गादि की मरम्मत और क्षतिपूर्ति हेतु शिल्पियों का नियोजन राजा का कर्तव्य था।[१] अतः पुर या दुर्ग का निर्माण कराते समय ही इनका ध्यान रखना पड़ता था। लोकरक्षा में सहायक होने के कारण वप्रादि का निर्माण स्वर्ग देने वाला शुभ कर्म माना जाता था।[२] युधिष्ठिर ने परिखा तथा प्राकार आदि से समन्वित खाण्डवप्रस्थ को बसाया था।[३] लंका स्वभावतः दृढ़ प्राकार और तोरण से युक्त होने के कारण दुराधर्ष थी।[४] द्वारका भी 'स्वभाव-गुप्ता' थी जिसे शाल्व के आक्रमण के समय और भी दुर्गम बनाया गया था।[५] द्रुपद की नगरी भी प्राकृतिक रूप से गुप्त थी तथापि दशार्णराज से वैर होने पर उसकी विशेष गुप्ति-हेतु उपक्रम किये गये थे।[६]

संधिविधान

महाभारतकालीन राजनीतिज्ञ पर-राष्ट्र के आक्रमण करने पर युद्ध को यथासम्भव टालने का उपदेश दिया करते थे। अतः भीष्म ने यहाँ मत प्रकट किया था कि स्वपक्ष के बलाबल का विचार अपने मन्त्रियों से करके सन्धि कर लेना ही अच्छा था जिससे राज्य, धन एवं जन की क्षति से बच सके।[७]

किन्तु किसी भी प्रकार युद्ध टलने की सम्भावना न हो उस समय दो प्रकार के कर्म राजाओं को विहित थे। प्रथम तो वे जो पर-सेना को दुर्ग की ओर बढ़ने नहीं देते थे अथवा बढ़ आने पर उनके गतिरोध और धन-जन के विनाश में सहायक होते थे, तथा दूसरे वे जो स्वपक्ष रक्षण अथवा स्वदेशीय लोगों की सुखसुविधा से सम्बद्ध थे।

---

१. शान्ति ८७।६-७। २. आदि १९९।२९-३०। ३. अनुशा २३।९९।
४. आरण्यक २६८।२। ५. आरण्यक १६,१७।२८।
६. उद्योग १९२।७। ७. शान्ति ६९।१४-१८।

परसेना बाधक प्रयोग

मार्गावरोध

शत्रु-सेना शीघ्र ही आकर विजय न कर ले, इसलिए यथाशक्ति समस्त संभव रीतियों से उसका गतिरोध किया जाता था। 'प्रकण्ठी' का निर्माण आवश्यक था। वप्र और परिखा तो पूर्व से ही बने रहते थे तथापि भीष्म के मतानुसार और भी उनमें नक्र, मकर, झप आदि जलीय हिंस्र जीव भी डलवा देना चाहिए जिससे रंचमात्र की असावधानी भी शत्रु के लिए अत्यन्त हानिकर सिद्ध हो।[1] अंगद ने देखा था कि रामदल के अवरोध के लिए रावण ने सात-सात परिखाओं का निर्माण कराया था जो मीन, मकर, नक्र आदि से भर दी गई थीं और उनमें खदिर के बने हुए नुकीले-कीलें गाड़ दिये गये थे।[2] शाल्वराज के आक्रमण पर भी परिखाओं में कीलें ठोंक दी गई थीं और एक कोस पर्यन्त भूमि विषम कर दी गई थी।[3]

संक्रमभेदन

नगर या पुर की ओर बढ़ते हुए शत्रु के मार्ग में पड़ने वाले समस्त जल-सन्तरणों को निरुद्ध कर दिया जाता था और पुलों को तोड़ दिया जाता था, जिससे उनके सैनिक या तो डूब मरें या उनकी शक्ति संक्रम निर्माण में लगे और वे श्रान्त हो जायें अथवा उनके आने में विलम्ब हो और अवसर पाकर अपने दुर्ग को अत्यन्त सुरक्षित बनाया जा सके। साम्ब आदि ने शाल्वराज के मार्गावरोध निमित्त समस्त पुलों को छिन्न-भिन्न करा दिया था और नावों को जल में चलाने का पूर्ण निषेध कर दिया था।[4]

आकरे लवणे शुल्के तरे नागवने तथा।
न्यसेदमात्यान्नृपतिः स्वाप्तान् वा पुरुषान् हितान्॥—शान्ति ६९।२८।

से ज्ञात होता है कि 'तर', संक्रम आदि पर राजा का अधिकार होता था जिन पर आवश्यकतानुसार वह रोक भी लगा सकता था। अन्यथा एकमात्र प्रजा की वस्तुयें होने पर उन पर राजा पूर्ण स्वतन्त्रतापूर्वक न अधिकार ही कर सकता था और न उनका भेदन ही।

वृक्षच्छेदन

शत्रुओं के आक्रमण के समय दुर्ग अथवा पुर के समीपवर्ती समस्त छोटे-छोटे वृक्षों के उत्पादन और चैत्य वृक्षों के अतिरिक्त, बड़े-बड़े वृक्षों का शाखाच्छेदन

---

१. शान्ति ६९।४१। २. आरण्यक २६८।२।
३. आरण्यक १६।१५,१६। ४. आरण्यक १६।१५।

आवश्यक समझा गया था[१] जिससे शत्रुओं को न तो फलफूल और छाया ही मिल सकती, न लकड़ी और न छिपने का स्थान ही। वृक्षों में शाखायें न होने से उनके सहारे शत्रुगण प्राकार, परिखा आदि का लंघन भी करने में समर्थ नहीं हो सकते थे।

शत्रु सेना में उपजाप

क्षेत्र आदि में स्थित शत्रु की सेना में अवसर देख कर किसी प्रकार परस्पर कलह और भेद उत्पन्न करने की चेष्टा राजाओं की ओर से हुआ करती थी।[२] परस्पर वैमनस्य से सैनिकों और शासकों में संघर्ष तथा अविश्वास उत्पन्न हो जाने से वे आपस में ही लड़ मरेंगे अथवा स्वेच्छाचारिता के कारण सम्मिलित रूप से आक्रमण करने में असमर्थ होने से मारे जायेंगे।

जलदूषण

जल के बिना जीवन दुर्भर हो जाता है। अतः भीष्म ने अनुमति दी थी कि जो जल अपने प्रयोग में न आ सके और शत्रु द्वारा जिसको उपयोग में लाने की सम्भावना हो, उस समस्त जल का, यदि वह सके तो, निःस्रावण करा दे अथवा निर्गममार्ग न होने पर समस्त जलाशयों को विपाक्त कर दे।[3] इससे शत्रुओं के कुछ सैनिक तो जल पीकर ही प्रथमतः मर जायेंगे और शेष जलाभाव के कष्ट से।

स्वपक्षरक्षण

यन्त्र व्यवस्था

नगर में यन्त्रायुध व्यवस्था भी आवश्यक होती थी जिससे आवश्यकता पड़ने पर नागरिक भी सैनिकों के साथ युद्ध कर सकते अथवा आत्मरक्षा का कोई उपाय सोच सकते। अतः राजा का कर्तव्य था कि संकटकालीन परिस्थिति में बड़े-बड़े यन्त्रों को लगवाये और शतघ्नी, भुशुण्डी आदि अस्त्र-शस्त्रों का प्रबन्ध करे।[४] राम की सेना के लंका में प्रवेश करने पर रावण ने दुर्धर्ष कर्णादृयन्त्र, हुड, उपल, मुसल, अलात, नाराच, असि, तोमर, परशु, शतघ्नी, मुद्गर आदि शस्त्रास्त्रों का प्रबन्ध किया था।[५] उस समय ऐसे भी योद्धा तैयार किये गये थे जो साँप, सर्जरस एवं विषाक्त धूलि से पूर्ण कुम्भों को लिये रहते थे और यथाकाल उन्हें शत्रु सेना में फेंकने को प्रस्तुत थे।[६] द्वारका के गद, साम्ब, उद्धव आदि ने भी

१. शान्ति ६९।३९-४०। २. शान्ति ६९।३६। ३. शान्ति ६९।३७।
४. शान्ति ६९।४३,५६। ५. आरण्यक २६८।४-५। ६ वही।

पुर की रक्षा हेतु शतघ्नी, कलांगल, भुशुण्डी, अश्मलगुड, परश्वधा, हुड, श्रृंगिका आदि आयुधों का संकलन शास्त्रदृष्ट्या किया था।[1]

सेना संचालन

शान्तिकाल में भी राजा हस्तिदल, वाजिदल तथा रथदल का सूत्र अपने हाथ में रखता था[2] और युद्ध में वह स्वयं सबसे आगे चलकर सेना का निर्देशन और प्रोत्साहन करता था। उसके नायकत्व में प्रजा को अपने राजा में आस्था, श्रद्धा और विश्वास होता था, दूसरी ओर उसके साथ सम्पूर्ण शक्ति के साथ लड़ने की प्रेरणा भी। संघमुख्य कृष्ण के अभाव में उनके वंशजों ने नायकत्व किया था।[3]

योद्धा तथा गुल्मन्यास

परचक्राभिघात होने पर स्वपक्षरक्षण में रत राजा की ओर से सायुध योद्धा नियुक्त किये जाते थे। शाल्वराज्य के आक्रमण के समय समर्थ, प्रसिद्ध वीरकुल वाले तथा अनेकशः परीक्षित् योद्धा नगर की रक्षा में तत्पर थे।[4] उस समय प्रत्येक योद्धा को पर्याप्त मात्रा में गज, वाजि आदि वाहन, आयुध, कवचादि रक्षा के उपकरण तथा भोजनादि के लिये वेतन और भत्ता राजा की ओर से दिया गया था। कोई भी कुप्यवेतनी नहीं था, कोई भी ऐसा नहीं था जिसे यथायोग्य वेतन न मिला हो, या अयोग्य होने पर भी सेना में भर्ती कर लिया गया हो। अथवा जिसका पराक्रम और रणकौशल अनेकशः देखा न जा चुका हो।[5] द्वारका का प्रत्येक चौराहा ऐसे वीर सैनिकों से भरा था।

पुरद्वारों पर रक्षा के लिये स्थावर तथा जंगम गुल्मों का न्यास किया जाता था, जिनमें प्रथम में सैनिक एक ही स्थान पर छिपकर शत्रु पर प्रहार करते थे। दूसरे में आवश्यकतानुसार यत्र-तत्र जा कर। रावण ने राम के आक्रमण पर दोनों प्रकार के गुल्मों का न्यास किया था जिनमें पर्याप्त मात्रा में पैदल, गजारोही तथा अश्वारोही सैनिक थे।[6] द्वारका के गुल्म में घुड़सवार तथा पैदल वीर थे जो दौड़-दौड़ और कूद-कूद कर आक्रमण करते थे।[7]

अर्थनिचय और सस्याभिहार

जीवन-यापन हेतु आवश्यक पदार्थों का संचय आवश्यक था। सेना, पुरजन और जानपदों को दुर्ग में स्थित कराते समय यदि बाहर फसल लगी हो तो राजा

---

१. आरण्यक १६।५-९।
२. सभा ५।१०९।
३. आरण्यक १७।८-१०।
४. आरण्यक १६।१०।
५. आरण्यक १६।२०-२३।
६. आरण्यक २६८।६।
७. आरण्यक १६।११।

का कर्तव्य था कि वह उसका स्वयं संचयन करा ले अथवा अवसर न मिलने पर उसे नष्ट करा दे जिससे शत्रुपक्ष को उससे कोई लाभ न हो सके।[१] अन्य निचैयों में तैल, मधु, घृत, अनाज, औषध, अंगारक, कुश, मुंज, पलाश, शरपर्णी, यव, इन्धन आदि विविध उपयोग में आने वाले पदार्थ थे।[२]

विविध आगार और मार्ग व्यवस्था

विभिन्न प्रकार के द्रव्यों, आयुधों, पशुओं, भाण्डों, धान्यों आदि को सुरक्षित रखने की आवश्यकता होती थी। अतः राजा का परम कर्तव्य हो जाता था कि वह संकट में भाण्डागार, आयुधागार, धान्यागार, अश्वागार, गजागार आदि की भी व्यवस्था करे और इन्हें पूर्णतः गुप्त तथा सुरक्षित रखे[३] जिससे शत्रुओं को वे सुलभ न हो सकें। सामान्य सैन्य प्रचार के लिये विशाल राजमार्ग, प्रतोली आदि की व्यवस्था आवश्यक थी।[४]

गृहरक्षा एवं अग्निव्यवस्था

जननिवास हेतु दुर्ग अथवा पुर-प्रांगण में राजाओं की ओर से तृणों के अस्थायी घर बनवाने का प्रयास होता था जिन्हें गीली मिट्टी से लीप दिया जाता था[५] जिससे अग्निभय न रहे। चैत्र आदि में ग्रीष्मर्तु प्रारम्भ होने से अग्निभय पदे पदे बना रहता है अतः उन महीनों में तृणों का उपयोग घर बनाने में न करना अच्छा समझा जाता था।[६]

अग्नि की धूम्रराशि को देखकर कहीं शत्रुगण सेना अथवा स्थान का पता न लगा लें अतः अग्निहोत्रादि को छोड़कर अन्य कर्मों के लिए दिन में आग जलाने का निषेध कर दिया जाता था और आज्ञा का उल्लंघन करने पर महादण्ड की घोषणा की जाती थी।[७]

घोष, पशु तथा सामान्य जन रक्षा

गोपगण पशुओं के साथ प्रायः वनों में रहते थे। अतः पशुओं की रक्षा हेतु राजा का यह कर्तव्य घोषित किया गया था कि घोषों को वन में से हटा कर प्रमुख मार्गों पर स्थित करा दे[८] जहाँ नगर से उनसे सीधा सम्पर्क रखा जा सके, दुग्ध घृतादि आवश्यकतानुसार पुर में आ सके और उनकी भी रक्षा हेतु तत्काल मार्ग की सुविधा होने से सैनिक गण भेजे जा सकें।

---

१. शान्ति ६९।३४-३५।
२. शान्ति ६९।५४-५५।
३. शान्ति ६९।५२-५३।
४. शान्ति ६९।५१।
५. शान्ति ६९।४५।
६. वही।
७. शान्ति ६९।४६-४८।
८. शान्ति ६९।३३।

अन्य जनों को जिनका प्रधान नगर-दुर्ग में समावेश न हो सके अरक्षित स्थानों से हटाकर पुर के समीपवर्ती नगरों—शाखानगरों—में बसाने का विधान था।[१]

जलव्यवस्था

दुर्ग अथवा पुर में एकत्रजनों के उपयोग के लिये राजा की ओर से जल की व्यवस्था की जाती थी। ऐसे समय में राजा पहले से ही निर्मित कूपों के जल को शुद्ध कराते थे तथा कमी पड़ने पर और भी कुएँ खुदवाते थे।[२] भीष्म ने लोक में जल सुलभ कराने के लिये राजा की ओर से प्रपाओं को भी खुलवाने की सम्मति दी थी।[३] द्वारका में आक्रमण होने पर जल-पूर्ति हेतु राज्य की ओर से नागरिकों के लिये उदपान तथा अम्बरीषक बनवाये गये थे।[४]

औषधसंचय, स्वास्थ्यव्यवस्था तथा मनोरंजन के साधन

संकटकाल में भी मनोरंजन, स्वास्थ्य तथा औषध की व्यवस्था करने के लिये राजनयविदों के नियम मिलते हैं जिनका वर्णन यथावसर अगले अध्यायों में किया जायेगा।

संकटकाल में लोकरक्षा के विशेष उपाय

प्रणिधि, पुर-प्रवेश निषेध तथा असाधु निग्रह

आत्मपक्ष में जनमन के ज्ञान हेतु तथा कदाचित् शत्रुपक्ष से आ गये व्यक्ति का पता लगाने के लिए संकटकाल में प्रणिधि की उचित व्यवस्था अनिवार्य थी। राजा को चत्वर, तीर्थ, सभा, आवसथ आदि समस्त सार्वजनिक स्थानों पर प्रणिधि करनी पड़ती थी।[५] रावण ने अपने दो अमात्य शुक तथा सारण को लंकोद्यान में रामदल की गतिविधियों के ज्ञान के लिये नियुक्त किया था।[६] जनक का चार प्रचार शान्तिकाल में भी अत्यन्त प्रशस्य था।[७] कृष्ण ने कौरव सेना में अपने गुप्तचर रातदिन का विवरण लाने को नियुक्त किये थे।[८] अर्जुन की प्रतिज्ञा को जयद्रथ ने चरों से ही जाना था।[९]

गुप्तरीति से नगर में शत्रुओं के प्रवेश के भय से राजा की ओर से लोगों के बाहर-भीतर जाने-आने की रोक थी। उग्रसेन, साम्ब, उद्धव आदि की आज्ञा से शाल्वराज के आक्रमण के समय बिना प्रवेश-पत्र (मुद्रा) लिये, कोई भी व्यक्ति नगर में प्रवेश नहीं कर सकता था[१०] और न बाहर ही जा सकता था।

---

१. शान्ति ६९।३३। २. शान्ति ६९।४४।
३. शान्ति ६९।५१। ४. आरण्यक १६।१६। ५. शान्ति ६९।५०।
६. आरण्यक २६७।५२। ७. आरण्यक १९८।२९।
८. उद्योग १९५।२; द्रोण ५३।४। ९. द्रोण ५२।१। १०. आरण्यक १६।१९।

ऐसी स्थिति में आन्तरिक विद्रोहों को दबाने के लिए अथवा उनको उत्पन्न ही न होने देने के लिये भृत्य, मन्त्री, पुरजन अथवा किसी भी व्यक्ति को राष्ट्र के अहित की शंकामात्र होने पर वश में कर सकता था।[१]

उपघातक-तत्त्व-बहिष्कार

भीष्म ने संकट के क्षणों में भेद देने की आशंका से तथा आर्थिक भार की वृद्धि करने के कारण भिक्षुकों, फेरी वालों, क्षीव, उन्मत्त तथा कुशीलवों को राष्ट्र का उपघातक तत्त्व घोषित कर इनके निर्वासन की अनुमति दी थी।[२] आपत्ति-काल में द्वारका से राजपुरुषों ने आनर्त, नट, नर्तक, गायक आदि मनोरंजकों को भी वित्तसंचय का ध्यान कर बहिर्वासित कर दिया था।[३]

मद्यपान-निषेध

मद्यपान के अनन्तर सैनिकों में प्रमाद होने और प्रमत्तों से भेद-ज्ञान तथा अनियन्त्रण की प्रतिक्षण संभावना होने से, ऐसे क्षणों में मद्यपान के निषेध का उल्लेख मिलता है। शाल्वराज के आक्रमण के समय तो राजा की ओर से मदिरा-पान न करने की घोषणा कर ही दी गई थी,[४] ऋषि का शाप होने पर मौसल पर्व में भी परस्पर कलह की आशंका से राजकीय घोषणा कर दी गई थी कि कोई भी मदिरा न पिये अन्यथा पीने वाला दण्ड का भागी होगा।[५]

सैन्य-शक्ति-वृद्धि की योजना

महाभारत-काल में विशेष रूप से होने वाली सेना की आवश्यकता का अनुभव किया गया था। सर्वत्र स्वधर्म में रति ही श्रेयस्कर घोषित की गई थी और राजा का यह कर्तव्य भी निर्दिष्ट किया गया था कि वह लोक को स्वधर्म में नियुक्त करे। तथापि द्रोण, कृप, अश्वत्थामा सदृश ब्राह्मणों और कीचक सदृश सूतपुत्रों, तथाकथित शुद्र कर्ण और एकलव्य की शस्त्रपारंगति को देख कर और उनको राजाओं द्वारा निषिद्ध न करने से एक महान् रहस्य तथा उद्देश्य की ओर संकेत मिलता है। युद्ध में केवल क्षत्रिय ही की नहीं ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र ही की नहीं अपितु आवश्यकता आने पर द्वारका की स्त्रियों द्वारा भी शस्त्र-ग्रहण करने की शक्यताओं का उल्लेख है।[६] किन्तु चतुर्वर्ण को यों ही पशुओं की भाँति कट जाने का आदेश राज्य ने नहीं दिया होगा, कुछ न कुछ सैनिक शिक्षण-प्रशिक्षण की व्यवस्था अवश्य की होगी। विशेष विवरण न मिलने से उन योजनाओं का

---

१. शान्ति ६९।५९।
२. शान्ति ६९।४९।
३. आरण्यक १६।१४।
४. आरण्यक १६।१२-१३।
५. मौसलपर्व २।१८,१९।
६. सभा १३।५१।

वर्णन नहीं किया जा सकता। ब्राह्मण आदि वर्गों को शस्त्रविद्या भी सीखने की ऐच्छिक स्वतन्त्रता मिलने का सम्भवतः यही उद्देश्य था कि राष्ट्र पर आपत्ति आने पर वे भी राष्ट्ररक्षा और आत्मरक्षा में समर्थ हो सकें। आपत्तिकाल में वर्णधर्म में शिथिलता आने की अनुमति देते समय इस आवश्यकता पर भी शास्त्रकारों ने ध्यान दिया था। और 'दुर्गनियम' तथा आत्मत्राण के लिए ब्राह्मणों को, तथा वेद, ब्राह्मण, गौ आदि की रक्षा हेतु शूद्र को भी शस्त्र ग्रहण करने की अनुमति दी थी।[1] दुर्ग-नियम शब्द से ज्ञात होता है कि सकट के समय चारों वर्णों को शस्त्रशिक्षा अनिवार्यतः दी जाती होगी। आध्यात्मिक, धार्मिक तथा नैतिक ज्ञानों के संरक्षक ब्राह्मणों की रक्षा हेतु चतुर्वर्ण शस्त्र ग्रहण करने पर भी दूषित नहीं माना गया था (शान्ति ७९।२७)।

संकटकाल आने के पूर्व ही शत्रुओं से मोर्चा लेने के लिए सेना को समुचित शिक्षा दी जाती थी। प्रतिदिन योधमुख्यों और कुमारों को कारणिकगण नवीन प्रयोग सिखाते थे—

कच्चित्कारणिकाः सर्वे सर्वशस्त्रेषु कोविदाः।
कारयन्ति कुमारांश्च योधमुख्यांश्च सर्वशः॥—सभा ५।२३।

आधुनिक युग में संकटकाल आने पर सरकार द्वारा अनिवार्य सैन्यशिक्षा का प्रवन्ध किया जाता है, उन दिनों वर्णव्यवस्था के अत्यन्त श्लिष्ट होने से स्वधर्म का परित्याग करके क्षत्र कर्म करने देने की राजकीय अनुमति का ही बड़ा महत्त्व रहा होगा।

विपत्तिकाल में रक्षा

आभ्यन्तर और बाह्य पुरुषों के द्वारा किसी प्रकार की अशान्ति, उपद्रव या शोक-दुःख न उपस्थित किये जाने पर भी कुछ कारणों से राष्ट्र आपद्ग्रस्त हो जाता है, यथा अग्निभय, बाढ़, व्याधि, दुर्भिक्ष आदि। कौटिल्य के शब्दों में इन्हें विपत्ति, दैवमहाभय या दैवपीड़न कह सकते हैं।[2] कौटिल्य ने इनकी संख्या आठ बताया और उनसे लोक की रक्षा करने का भार राजा पर डाला था।[3] छान्दोग्य उपनिषद् में ओले गिरने के कारण दुर्भिक्ष पड़ने और उषस्ति सदृश तत्त्वज्ञ ब्राह्मणों के क्षुधानिवृत्ति हेतु हस्तिपकों—'ऐभ्यों' के जूठे उड़द खाने का उल्लेख है।[4] मनु ने बुभुक्षित अजीगर्त द्वारा पुत्रवध, वामदेव द्वारा श्वमांसभक्षण तथा क्षुधार्त भरद्वाज द्वारा वृधु की गायों के अपहरण आदि अपकर्मों में, दुर्भिक्ष के कारण, प्रवृत्ति का वर्णन किया है।[5]

---

१. शान्ति ७९।३३-३५; १५९।३१। २. अर्थशा ४।३; ८।४।
३. अर्थशा ४।३।२। ४. छान्दोग्य १।१०।३। ५. मनु १०।१०५-१०८।

महाभारत में अग्निभय, सर्प, व्याल, रोग, रक्षोभय से रक्षा के विषय में नारद ने प्रश्न किया था।[१] इससे इनके निवारण का उत्तरदायित्व राजा पर ज्ञात होता है। किन्तु महाभारत में दैवी विपत्तियों के नाम से अनेकशः अनावृष्टिजन्य दुर्भिक्ष का ही विशेषतः उल्लेख है। अनावृष्टि का कारण राजा राजपुरुष अथवा राज्य के किसी व्यक्ति के अपकर्म के कारण इन्द्र का अप्रसन्न होना था। एक बार की द्वादशवार्षिकी अनावृष्टि के कारण दुर्भिक्ष पड़ने पर विश्वामित्र ने चाण्डाल के घर से 'श्वजाघनी' ली थी।[२] तपती और संवरण के भोगरत होने और लोक का ध्यान न रखने से भी बारहवर्षों तक पानी न बरसा,[३] लोमपाद के पुरोहित की उच्छृंखलता से भी यही स्थिति उत्पन्न हुई थी।[४] पशुओं के स्थान पर बीजों का उपयोग कर अगस्त्य के यज्ञ सम्पादन करने पर भी इन्द्र अप्रसन्न हुए थे और वृष्टि नहीं हुई थी।[५] अनावृष्टि के कारण जगती में हाहाकार मच जाने पर ऋषियों द्वारा विसतन्तु खाकर जीवन धारण करने का वर्णन अनुशासन पर्व में है।[६] विचित्रवीर्य तथा चित्रांगद की मृत्यु पर राजा के अभाव में राष्ट्र में क्षुधा, भय, अवृष्टि, दारुण व्याधि आदि ईतिभीतियों के कारण बहुत थोड़े लोग जीवित रह गये थे।[७] अकाल पड़ने पर अरुन्धती ने दुश्चरतप करके उसे टालने का प्रयास किया था।

महाभारतकार ने इन निदर्शनों के अतिरिक्त अनेकशः लोक क्षति का एकमात्र कारण राजा को ही घोषित किया था।[८] अतः लोक में रोगरक्षोभय आदि पीड़ाओं की उसी से निवृत्ति की आशा भी की थी। तत्कालीन राजाओं में इन्हें दूर करने की प्रवृत्ति भी दृष्टिगोचर होती है।

विपत्ति-प्रतिकार हेतु राजकार्य

आपस्तम्ब ने अपने धर्मसूत्र में यह उल्लेख किया था कि राजा अपने राष्ट्र में ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न कर दें कि प्रजा क्षुधा, रोग, हिम तथा आतप सदृश दैवी विपत्तियों से मुक्त हो जाये, किन्तु रचनात्मक कार्यों का विवरण नहीं दिया (आ० ध० सू० २।९।२५।११)। कौटिल्य ने व्याधियों को औपनिषदिक उपचारों से, चिकित्सकों की औषधियों से अथवा सिद्धतापसों द्वारा दूर कराने का सुझाव दिया था। दुर्भिक्ष में बीज, भत्ता या दान देकर दुर्ग, सेतु आदि का निर्माण कराकर, देशनिक्षेप द्वारा, मित्रदेशों का आश्रय लेकर, अल्पकाल अथवा दीर्घ-

---

१. सभा ५।११२।   २. शान्ति १३९।   ३. आदि १६३।१५।
४. आरण्यक ११०।२१।   ५. आश्वमे ९५।   ६. अनुशा ९३।२४।
७. उद्योग १४५।२४-२७।   ८. शान्ति १४।९।

काल के लिए प्रजा को सुभिक्ष स्थान पर भेजकर अथवा जनपद में स्वयं भी सरोवर, तड़ाग, या समुद्र तट का आश्रय लेकर और भक्ष्याभक्ष्य की पूर्ण अनुमति देकर राजा पर किसी भी सम्भव रीति से लोकत्राण कराने का भार आरोपित किया था (कौटि० अर्थशा० ४।३)। किन्तु महाभारत में कुछ विलक्षण उपायों को राजाओं ने अपनाया था जिनमें उपर्युक्त कुछ उपायों का अन्तर्भाव हो जाता है और कुछ कौटिल्य के उद्देश्यों की पूर्ति करते हैं।

कारण-प्रणाश

दुर्भिक्ष और आपत्ति उपस्थित होने पर राजाओं ने उनके कारणों का ही मूलोच्छेद करना चाहा था। उस कारण को दूर करने के लिए जिन्हें चाहे जितने महान् त्याग करने पड़ते, प्रायः सबको वे करने को तैयार रहते थे। तपती संवरण ने अपना भोगमय जीवन का उत्सर्ग प्रजा के सुख के लिए कर दिया था, लोमपाद ने अपनी कन्या शान्ता का दान कर दिया, और भीष्म ने सत्यवती की सम्मति से अपनी भ्रातृवधुओं को नियोग हेतु विवश किया था।

दान और सदाव्रत

शान्तिकाल में विवर्धित कोश का अवशिष्ट अंश दुर्भिक्ष आदि भयों के उपस्थित होने पर राजाओं द्वारा लोकरक्षार्थ प्रयोग में लाने का उल्लेख है। राजा वृषादर्भि ने एक वार अकाल पड़ने पर अपनी प्रजा को संचित कोश से धन और अन्न तब तक आवश्यकतानुसार ले जाने की अनुमति दी थी जब तक दुर्भिक्ष अथवा कोश न समाप्त हो जाये।[1] यद्यपि यह आदर्श केवल एक है तथापि इसी प्रकार की अथवा सपरिश्रम दान ग्रहण की कोई न कोई योजना ऐसी स्थिति आने पर अवश्य ही राजाओं ने बनायी होगी, अन्यथा प्रजा के विद्रोह का भय हो सकता था।

यज्ञ सम्पादन

दुर्भिक्षों के समय यज्ञों का सम्पादन कर लोकरक्षा की प्रवृत्ति उपनिषत्काल से ही दृष्टिगोचर होती है। राजा अश्वपति ने ओले गिरने के कारण फसल नष्ट हो जाने से उपस्थित दुर्भिक्ष को दूर करने के लिए यज्ञ किया था जहाँ आरुणि, उपस्ति सदृश विद्वान् उपस्थित हुए थे।[2] महाभारतकार ने यज्ञ को प्रजा का 'प्रसविता' तथा 'इष्टकामधुक्'[3] एक बार घोषित कर विभिन्न स्थलों और विविध परिस्थितियों में उसे वैसा ही सिद्ध करने की चेष्टा भी की। तत्कालीन दुर्भिक्ष अनावृष्टिजन्य होते थे। अतः व्यास ने यज्ञों को वृष्टि का कारण मान आपत्तियों को दूर करने का अनन्यतम और श्रेष्ठतम साधन निर्धारित किया। यज्ञ अन्ध-

---

१. अनुशा ९४।२७। २. छान्दोग्य १।१०।६। ३. गीता ३।१०।

विश्वास पूर्वक कुछ हवियों का अग्नि में प्रज्वालन मात्र नहीं। उसका वैज्ञानिक महत्त्व भी था। वस्तुतः प्रजापति के समान यज्ञ भी प्रजा का रक्षक है। अग्नि में दी हुई हवि वायु के सहारे सूर्य की ओर जाती है। पुनः समस्त अन्तरिक्ष में व्याप्त होती है। सूर्य के प्रभाव से मेघमण्डल के साथ मिश्रित होकर हवि नीचे उतरकर वर्षा करती है जिससे अन्न उत्पन्न होता है और अन्न से प्रजा की रक्षा होती है।[1] महाभारतकार ने "अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः। यज्ञाद् भवति पर्जन्यो............(गीता ३।१४)" कह कर संक्षेप में उपर्युक्त तथ्य का समावेश कर दिया था। रामगोविन्द त्रिवेदी जी के अनुसार इसके अतिरिक्त हवि से पार्थिव, पदार्थ, आकाशस्थ वायु और सूर्यरश्मि आदि शुद्ध होते हैं। यही नहीं, हवि से देवता तृप्त होते हैं और तृप्त देवता मनुष्य का कल्याण करते हैं।[2] अतः यज्ञों में किये गये हवन से जलवृष्टि होती थी, वातावरण में शुद्धि आती थी। और वातावरण की शुद्धि से ईतिभीति में उत्पन्न उपद्रवी और क्षतिकारक कीटों, पतंगों का शमन होता था, स्वास्थ्य वृद्धि होती थी और तत्कालीन धर्म-प्राण लोक के देवता प्रसन्न होते थे। केवल हवि-प्रज्वालन मात्र से लोक का त्रिविध कल्याण दृष्टिगोचर होता है।

यज्ञों में दी गई दक्षिणा से भी लोक का कल्याण होता था। ऋषिमहर्षियों को, गृहमेधी स्नातकों, तपस्वियों, ब्रह्मचारियों और अन्य ब्राह्मणों को यज्ञों में दक्षिणा दी जाती थी और नट, नर्तकादि को पारितोषक। अतः यज्ञ का दक्षिणा वाला अंश भी दुर्भिक्ष दूर करने में सहायता देता था। सम्भवतः वहुत जनों का कल्याण निहित होने के कारण दक्षिणा के विना यज्ञ सम्पादन का निषेध किया गया था और 'अनाप्तदक्षिणैर्यज्ञैर्न यजेत कथंचन।' (शान्ति १५९।२३) का नियम बनाया गया था।

यज्ञ का विधान करने पर सर्ववर्णतृप्ति होती थी।[3] ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और म्लेच्छादि भी यज्ञों में आमन्त्रित किये जाते थे। उनमें भोजनदान का कार्य विशेष रूप से होता था। गय तथा रन्तिदेव के यज्ञों में कराया गया भोजन और गोदान जनकथा का विषय वन गया था।[4] युधिष्ठिर के राजसूय में "दीयतां दीयतां" और "भुज्यतां भुज्यतां" की ध्वनि सदा गूँजती रहती थी।[5] अश्वमेध में तो अन्नों के पहाड़, घृतादि के कर्दम और दुग्ध, दधि तथा मद्य के नद बह पड़े थे।[6]

---

१. रामगोविन्द त्रिवेदी : वैदिक साहित्य, पृ० १४० । २. वही।
३. सभा ३२।१८ । ४. शान्ति २९।१०४-१२० ।
५. सभा ३०।४९-५० । ६. आश्वमेधिक ९१।३६-४० ।

यज्ञ के तीनों अंश—हविप्रदान, दक्षिणादान तथा भक्ष्यभोज्य का वितरण—सब एक साथ लोक का महान् कल्याण करते थे।

दैवी आपत्तियाँ भविष्य में आवें ही न इस विचार से सर्वदा राजाओं की ओर से बड़े-बड़े यज्ञों की आशा की जाती थी।[१] यज्ञों के अनुष्ठान से प्रसन्न होकर देवगण दैवी आपत्तियाँ नहीं आने देते थे। महाभारत में कोई भी ऐसा प्रमुख राजा नहीं था जिसने एक या अनेक यज्ञ न किये हों। हरिश्चन्द्र[२] और ययाति[३] ने यज्ञों से दैवों को तृप्तकर पुण्य लोकों की प्राप्ति की थी। महाभिष ने एक सहस्र[४] तथा धृतराष्ट्र ने एक सौ[५] अश्वमेध किये थे। मतिनार नामक राजा ने द्वादशवार्षिक सत्र किये थे।[६] मरुत्त और युधिष्ठिर के राजसूय और अश्वमेध विख्यात हैं। दुर्योधन ने भी विष्णु-यज्ञ का सम्पादन किया था।[७]

नदीमातृकत्व विधान

उस समय के राजाओं में विपत्तियों के आने के पूर्व ही किसी न किसी रूप में उनके प्रतिकार करने की प्रवृत्ति प्राप्त होती है। अतः नगर, पुर या अन्य बसती के निर्माण के समय ही तडागों, पुष्करिणियों का तथा राजकुल के किसी व्यक्ति के निधन के अवसर पर कुल्या का निर्माण कराया जाता था। सदा यही चेष्टा की जाती थी कि कृषि देवमातृका ही न रहे। जलव्यवस्था हेतु लोक-निर्माण और आर्थिककल्याण से सम्बद्ध अध्याय द्रष्टव्य हैं।

जीविकार्जन हेतु स्वातन्त्र्य

आपत्ति काल में शास्त्रों ने चतुर्वर्ण को जीविकार्जन हेतु निर्धारित नियमों में शिथिलता की अनुभूति दे दी थी। किन्तु अहमहमिकया दौड़ में परस्पर संघर्ष की आशंका से उनमें भी कुछ सीमाएँ निर्धारित कर दी थीं। राजा वेद और और धर्म का रक्षक होने के कारण उनकी मान्यताओं को स्वीकार करता था और कर्मसंकरता को शास्त्र की सीमाओं में रखता था।

शास्त्रों ने शान्तिकाल में ब्राह्मणों के लिए अध्यापन, याजन तथा परिग्रह इन तीन कर्मों को जीविका के लिए निर्धारित किया था।[८] किन्तु आपत्काल में यदि इनसे जीवनयापन सम्भव न हो तब ब्राह्मण क्षत्रकर्म का और उससे भी असम्भव होने पर वैश्यकर्म का अवलम्बन कर सकता था। आपत्तिकाल में क्षत्रकर्म और वैश्यकर्म करके भी ब्राह्मण पाप का भागी नहीं होता था।[९] वणिक्

---

१. सभा ५।८९। २. सभा ११।५३-६२। ३. आदि ८०।३।
४. आदि ९१।१-२। ५. आदि १०६।५। ६. आदि ९०।२५।
७. आरण्यक २४१-२४३। ८. मनु ९।७६। ९. शान्ति २८३।२।

कर्म स्वीकार करने पर भी ब्राह्मणों को सुरा, लवण, तिल, केशवाले पशु, मधु, मांस आदि मादक, अविक्रेय आवश्यक पदार्थ तथा हेय और अस्पर्श्य वस्तुओं को बेचना निषिद्ध था।[१]

इसी प्रकार सामान्यतः क्षत्रियों के लिए रक्षात्मक कर्म विहित होने के कारण युद्ध से जीते हुए अथवा सैन्यकर्म से प्राप्त धन से जीविकायापन अभीष्ट था।[२] आपत्ति में वृत्तिक्षय होने पर इनके लिए वैश्य कर्म का विधान था। शेष कर्म ब्राह्मणों जैसे ही थे।[३]

वैश्यगण के लिए भी कृषि, गोरक्ष्य तथा वाणिज्य कर्मों के पारिश्रमिक स्वरूप प्रत्येक से एक निश्चित भाग में आय विहित था[४] और उसी से उसको जीविका प्राप्त होती थी। उन दिनों कृषि, पशुरक्षण तथा वाणिज्य के लिए इतना अधिक उज्ज्वल भविष्य था कि वैश्य के लिए आपत्तिकाल आने पर भी जीविकासम्बन्धी कर्मों के परिवर्तन की आवश्यकता ही नहीं थी। अतः गोद्विज-हिताय, वर्णसांकर्यरक्षण के लिए तथा आत्मत्राणार्थ उसके शस्त्रग्रहण का तो उल्लेख शास्त्रों ने किया था[५] किन्तु वृत्तिक्षय का प्रश्न ही नहीं उठा।

द्विजवर्णों के आश्रित होने से शूद्र के लिए चिन्ता करना उनके स्वामियों का ही परमकर्तव्य था।[६] तथापि वृत्ति के अभाव में शूद्र भी वाणिज्य, पशुपालन तथा शिल्प का आश्रय ले सकता था।[७] रंगावतरण, रूपोपजीवन, मद्य-मांसोपजीव्यता, लौहचर्मविक्रय सदृश कर्म तत्कालीन धार्मिक और पवित्र समाज में गर्हित समझे जा रहे थे। अतः इन्हें केवल वे ही लोग कर सकते थे जिन्होंने पहले से उसे किया हो।[८]

निष्कर्ष

इस प्रकार शान्ति, अशान्ति तथा आपत्ति के समय में राजा अपनी, अमात्यों की, कोश, दण्ड, मित्र, जनपद तथा पुर[९] की रक्षा करता हुआ अनृण[१०] हो जाता था। उसका कर्तव्य पूर्ण हो जाता था। प्रजा रक्षण के कारण ही पृथु का क्षत्रिय नाम चरितार्थ हुआ था।[११] उसके राज्य में किसी को कोई भी भय नहीं

---

१. शान्ति ७९।२, ४-६।
२. शान्ति २८३।१।
३. शान्ति ७९।२, ४-६।
४. शान्ति ६०।२४-२५।
५. शान्ति १५९।३१।
६. शान्ति ६०।३१।
७ शान्ति २८३।२-३।
८. शान्ति २८३।४-५।
९. शान्ति ६९।६३।
१०. शान्ति ६९।६१।
११. शान्ति २९।१६०।

था।[१] अम्बरीप नाभाग[२] को प्रजा ने स्वयं चुना था और वह उनकी रक्षा के कारण प्रसिद्ध हुआ था। शन्तनु के शासन काल में उसकी प्रजा में कोई भी मिथ्याचारी नहीं था और ज्ञानपूर्वक वया भूल से भी कोई पशु तक का वृथा-वध नहीं करता था।[३] सामान्यतः कौरववंश में कोई ऐसा राजा हुआ ही नहीं था जिसने प्रजा की रक्षा पितृवत् और मातृवत् न की हो।[४] परिक्षित्[५] के प्रजा की सुखसमृद्धि वैदिक काल से[६] तथा अश्वपति केकयराज की[७] उपनिषद् काल से ही प्रसिद्ध थी।[८] इन रीतियों से महाभारतकार को लोकरक्षा अभीष्ट थी।

———

१ शान्ति २९।१३३। २. शान्ति २९।९३।
३. आदि ९४।१३-१५। ४. आश्रम १५।१४-२१।
५. आदि ३७।२४-२५। ६. अथर्व २०।१२०।९।
७. शान्ति ७८।८-२६। ८ छान्दोग्य ५।११।५।

पंचम अध्याय

लोक-निर्माण की राजकीय योजनाएँ

[भूमिका—(अ) रक्षानिमित्त किये गये लोकनिर्माण के कार्य—दुर्गनिर्माण, पुर-निर्माण, सभा,
(आ) आर्थिक कल्याण से सम्बद्ध निर्माण कार्य—तडाग, कुल्या, कूप, मार्ग—स्थलमार्ग, जलमार्ग, सेतु-निर्माण,
(इ) लोक-आवास व्यवस्था हेतु निर्माणकार्य—पान्थशाला, आवसथ, शून्यागार,
(ई) धार्मिक भावना से लोकनिर्माण कार्य—देवालय, प्रपा, निपान,
(उ) जनमनोरंजनार्थ निर्माणकार्य—वापी, उद्यान, आराम,
(ऊ) सार्वजनिक स्थलों की निरीक्षण व्यवस्था।]

प्रजा के सामान्य रक्षणमात्र से ही राजा का कार्य समाप्त नहीं हो जाता था। उसे लोक को ऐसी भी सुविधाएँ प्रदान करनी पड़ती थीं जिनसे वह अपने निवास, कृषि, पशु, वाणिज्य, धन, धर्म आदि की भी व्यवस्था करने में समर्थ हो। यद्यपि प्रजा इन आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं भी कर सकती थी तथापि उसे परिष्कृत एवं संस्कृत रूप, विशेष सुविधा तथा असमर्थ जनों की व्यवस्था हेतु राजा के सहयोग की आवश्यकता थी। राजा प्रजा को इन सुखों को देने के लिए अनेक रचनात्मक कार्य सम्पन्न कराता था। लोकसुखार्थ होने से इन कार्यों को लोक-निर्माण कार्य (पब्लिक वर्क्स) कहा जाता है।

ये कार्य राजा पर अतिरिक्त-कर्म के रूप में नहीं लादे गये थे, अपितु उसके द्वारा विभिन्न व्यक्तित्वों की परिधि में सम्पादित कर्म ही थे। वस्तुतः राजा के रक्षात्मक, पालनात्मक अथवा रंजनात्मक इन तीनों कर्मों में एक ही की सीमा इतनी विस्तृत थी कि लोक सुख के लिए अपेक्षित समस्त कर्मों का पूर्ण समावेश हो जाता था। अतः कभी राजा शत्रुओं से रक्षा के लिए पुर, दुर्ग आदि का निर्माण कराता था, कभी कृषि, पशु, वाणिज्य और उद्योग के निमित्त जल, आपणविपण, मार्ग तथा कच्चे माल की व्यवस्था, कभी समाज के अध्यात्म-गुरु ब्राह्मण और संन्यासियों के लिए आवसथ तथा शून्यागार, कभी सामान्यजन सुख हेतु सभा, आराम, विहार, उद्यान आदि और कभी धर्मप्राण प्रजा के लिए देवालय और देव-यजन-मण्डप आदि को भी। इस प्रकार राजा द्वारा सम्पादित

लोक-निर्माण कार्यों का दर्शन रक्षानिमित्त, आर्थिक-कल्याण हेतु, मनोरंजनार्थ तथा धर्माभिवृद्धि या पूर्णतः धर्मकर्म के उद्देश्य से की गई रचनाओं के रूप में होता है।

रक्षानिमित्त किये गये लोकनिर्माण के कार्य

शान्ति और अशान्तिकाल में प्रजा की रक्षा के उद्देश्य से सम्पादित कर्मों की गणना इस शीर्षक में होती है।

दुर्ग-निर्माण

दुर्ग राष्ट्र-रक्षा का सर्वप्रमुख साधन था। दुर्ग के कारण शत्रुओं को राजा और प्रजा तक पहुँचने में कठिनाई होती थी। उनके लिए दुर्गम होने से ही इसकी दुर्ग संज्ञा थी। शुक्र और सोमेश्वर सूरि दोनों ने भिन्न-भिन्न शब्दों में प्रायः एक ही तथ्य कहकर दुर्ग की परिभाषा की थी। प्रथम के अनुसार[1] जिसको प्राप्त करने में शत्रुओं को कष्ट हो और जो आपत्काल में राजा की रक्षा करे वही दुर्ग है। दूसरे के मतानुसार जिसके सामने जाने से शत्रु दुःख प्राप्त करते हैं अथवा जहाँ दुर्जन के उद्योग और अपने दोष से आयी हुई आपदा दूर होती है वह दुर्ग है।[2] मनु दुर्ग की आवश्यकता इसलिए समझते थे क्योंकि दुर्गस्थ एक भी सैनिक शत्रुओं के सौ-सौ वीरों को परास्त कर सकता था।[3] इन सब परिभाषाओं के मूल में शत्रु से रक्षा का भाव निहित है।

तत्कालीन परिस्थितियाँ अशान्त थीं और प्रायः प्रत्येक जनपद को शत्रु के आक्रमण की आशंका प्रतिक्षण बनी रहती थी। अतः उस समय राजा के समस्त निर्माण कार्यों में दुर्ग का स्थान विशेष महत्त्व का था। युधिष्ठिर ने भीष्म से "कथंविधं पुरं राजा स्वयमावस्तुमर्हति" (शान्ति ८७।१) पूछा और उन्होंने पुर विधान को 'दुर्ग कर्म'[4] का नाम लेकर सर्वप्रथम षड्विध दुर्गों की ही आवश्यकता और निर्माण के विषय में कहना प्रारम्भ किया था।[5]

दुर्गों के निर्माण में विशेष योग राजा का ही होता था क्योंकि उसके विभिन्न-विभिन्न विभागों और प्रकोष्ठों का ज्ञान सर्वसाधारण से अपेक्षित नहीं था। रक्षा के प्रधान उत्तरदायी, विशेष बल एवं धन से समन्वित होने के कारण राजा ही अत्यन्त विशाल निर्माण कार्य में समर्थ भी था।

---

१. यस्य दुर्गस्य सम्प्राप्तेः शत्रवो दुःखमाप्नुयुः।
स्वामिनं रक्षयन्त्येव व्यसने दुर्गमेव तत्॥
—शुक्र० (अम्बिकाप्रसाद बाजपेयी : हिन्दू राज्यशास्त्र से उद्धृत)।

२. सोमदेवसूरि : नीतिवाक्यामृत—दुर्गसमुद्देश।१।

३. मनु ७।७४। ४. शान्ति ८७।३। ५. वही।

पुरनिर्माण

सामान्यतः दुर्ग, पुर अथवा नगर एकार्थवाचक थे और सबका अर्थ राजधानी प्रधानतः इष्ट था। इसका एक कारण भी था। कहीं पर राजधानी की रचना दुर्गवत् होती थी और कहीं नगरवत्। नगरवत् रचना में नगर के अन्दर दुर्ग होता है, और दुर्गवत् रचना में दुर्ग के अन्दर नगर।[१]

पुर अथवा नगर दोनों प्रकारों में चाहे किसी भी रीति के हों, उनकी रक्षा के लिए दृढ़ प्राकार और परिखा का होना आवश्यक था।[२] इनके अतिरिक्त भाण्डागार, आयुधागार, यन्त्रादि, काष्ठ, लौह, तुष, अंकार, मज्जा, स्नेहादि, आयुध, शर, चर्म, स्नायु आदि रक्षोपयोगी तथा जीवनोपयोगी पदार्थों का भी संचय नगर-निर्माण के समय अपेक्षित था।[३]

पुर में चत्वर, आपण की व्यवस्था भी होती थी।[४] प्रशस्त निवेशों से समन्वित नगर हितकर समझा जाता था।[५]

नगर में विद्वान् शिल्पी, शूरजन, ब्रह्मघोष के कर्ता, आचार्य, ऋत्विक्, पुरोहित, स्थपति, सांवत्सरचिकित्सक आदि चारों वर्णों के लोग रह सकते थे।[६] किसी भी वर्ण के व्यक्ति का नगर से बहिर्वास अभीष्ट नहीं था।

महाभारत में अनेक राजाओं द्वारा निर्मित तथा सुरक्षित नगरों का वर्णन उपलब्ध होता है। जनक की राजधानी सुरक्षित धर्म सेतुसमाकीर्णा, यज्ञोत्सववती, शुभ गोपुर तथा अट्टालकों से सुशोभित और गृह प्राकार-युक्त थी। उसमें अच्छे पथ बने हुए थे और लोग अश्व, रथ आदि वाहनों से सुसज्जित होकर हृष्ट और पुष्ट थे।[७] उपरिचर के पाँच पुत्र बृहद्रथ, कुशाम्ब, मणिवाहन, मच्छिल्ल तथा यदु ने अपने-अपने नाम से शुक्तिमती नदी के तट पर पाँच पुर बसवाया था।[८] तारक के तीन पुत्र ताराक्ष, कमलाक्ष और विद्युन्माली ने ब्रह्मा से तीन पुर माँगे थे और स्वीकृति मिलने पर स्वर्ग, अन्तरिक्ष तथा पृथ्वी पर क्रमशः कांचन, राजत तथा आयस पुरों का विश्वकर्मा मय के द्वारा निर्माण कराया था। ये नगर सौ-सौ योजन विस्तृत थे तथा इनमें गृह, अट्ट, अट्टालक, प्राकार और तोरण भी विशेष रूप से बने हुए थे।[९] राजा दिवोदास ने वाराणसी का निर्माण कराया था जिसका विस्तार इतना बड़ा था कि उसका एक किनारा गंगा के उत्तरी तट पर

---

१. अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी : हिन्दू राज्यशास्त्र, पृष्ठ ७४।
२. शान्ति ८७।६। ३. वही १२-१४। ४. वही ८।
५. शान्ति ८७।९। ६. वही ७७।१६-१७।
७. आरण्यक १९८।४-९। ८. आदि ५७।२९-३१।
९. कर्ण २४।१३-१८।

था और दूसरा छोर गोमती के दाहिने कूल पर। उसमें चतुर्वर्णों के सन्निवेश थे, अनेक द्रव्य-समूहों का संचय किया गया था और समृद्ध विपण-आपण की व्यवस्था थी।[1] युधिष्ठिर ने स्वयं 'खाण्डव-प्रस्थ' वसाया था जिसमें परिखा, प्राकार, बड़े-बड़े द्वार, शस्त्रास्त्र से सुसज्जित वीर, नानाविध यन्त्र, सुन्दरमार्ग, चतुर्वर्ण के लोग, वहुभाषाविद् सज्जन तथा कुशल शिल्पीगण भी थे। उसमें वहुविधवृक्षों से पूर्ण उद्यान, वापी, सर, पुष्करिणी, तडाग आदि भी थे।[2] कलिंग देश के राजा चित्रांगद के 'राजपुर',[3] मगधराज की मालिनी,[4] तथा काशी, अयोध्या, विराट-नगरी आदि का भी उल्लेख है, जिनके परम्परानुसार ही वने होने का अनुमान किया जा सकता है। यद्यपि सर्वत्र समस्त वर्णित नियमों के अनुसार ही निर्माण नहीं हुआ होगा, तथापि उनमें तत्कालीन आवश्यक विधानों और आवश्यकताओं का ध्यान देशानुसार राजाओं ने अवश्य किया होगा।

राजा, उसके अमात्यगण, पुत्र, भाई और वान्धव राजधानी में ही सामान्यतः रहते थे। अतः वहाँ पर ही नगर की रचना में विशेष ध्यान दिया जाता रहा हो, ऐसी वात नहीं। जनपद के समस्त नगरों के निर्माण में राजा का पूर्ण सहयोग होता था और यथासम्भव आवश्यकताओं के समस्त पदार्थों का संकलन भी वहाँ उसके परिजन किया करते थे। यद्यपि महाभारत में वर्णित प्रायः सभी पुर राजा विशेष की राजधानी ही थे, तथापि वारणावत के वर्णन से राष्ट्र के अन्य नगरों की राजा किस प्रकार व्यवस्था करते थे, इसका ज्ञान होता है। वारणावत् सदृश वड़े गाँव मात्र में भी सुरक्षा के लिए शस्त्रास्त्र, वप्र आदि थे।[5] संक्षेप में तत्कालीन पुर का स्वरूप निम्नलिखित धृतराष्ट्र के उपदेश से ज्ञात होता है—

> पुरं च ते सुगुप्तं स्याद् दृढप्राकारतोरणम्।
> अट्टाट्टालकसंबाधं षट्पथं सर्वतोदिशम्॥
> तस्य द्वाराणि कार्याणि पर्याप्तानि बृहन्ति च।
> सर्वतः सुविभक्तानि यन्त्रैरारक्षितानि च॥—आश्रम ९।१६,१७।

सभा

राजा अपने अमात्य, पुरोहित आदि के साथ जिस स्थान पर बैठकर राज्य से सम्बद्ध न्याय आदि कार्य करता था, उसे सभा कहते थे। सभा का वास्तविक अर्थ है, 'सह भान्ति शोभन्ते जना यस्याम्'—अर्थात् जहाँ पर लोग साथ-साथ सुशोभित होते हैं, उसे सभा कहते हैं। सभाओं में राजा अपने सहायकों के साथ

---

१. अनुशा० ३०।१६-१८। २. आदि १९९।२९-३७।
३. शान्ति ४।२-३। ४. शान्ति ५।६।
५. आदि १३५।१३।

राष्ट्र हित के समस्त कर्म करता था। प्रायः ऋषि-महर्षियों का स्वागत भी सभा में ही किया जाता था। सभा-निर्माण का कार्य पुरनिर्माण की भाँति राजा ही कराता था। सूत्रकाल से ही उस पर सभानिर्माण का भार डाला गया था। आपस्तम्ब ने पुर की दक्षिण दिशा में 'सभा' वनवाने का विधान किया था।[१]

महाभारत में अनेक सभाओं का उल्लेख मिलता है। मत्स्यराट् विराट की राजधानी में भी सभा थी जहाँ मन्त्रीगण, पुरजन और अन्य लोग भी आवश्यकतानुसार आया करते थे।[२] वृष्ण्यन्धकों की द्वारका की 'सुधर्मा' सभा उन दिनों अपने सौन्दर्य के लिए प्रसिद्ध थी। वहाँ किसी भी घटना के घटित होने पर समाज एकत्र हो जाया करता था।[३] जनक की सभा में जहाँ पर स्त्री, पुरुष और मंत्रीगण बैठे थे,[४] 'सुलभा' तापसी आयी थी।[५] वृषपर्वा की सभा अनेक रत्नों से जड़ित थी। उसी की सभा का 'मणिमय भाण्ड' मय ने युधिष्ठिर की सभा में लगाया था।[६] मद्राधिप अश्वपति कथायोगेन सभा में ही बैठे हुए थे जब नारद ऋषि उनके पास गये थे।[७] युधिष्ठिर द्वारा निर्मित कराई गई 'सभा' आश्चर्यजनक थी। मनुष्यलोक में उन दिनों उसके समान कोई भी सभा नहीं थी, वह सब ऋतुओं में सुखद, देखने में अतीव सुन्दर, मनोरम, विमानाकार थी और उसका विस्तार दस सहस्र किष्कु था।[८] डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के मतानुसार युधिष्ठिर की सभा पत्थर से बनी सबसे पहली सभा थी। उसके पूर्व वैदिक काल में काष्ठ की सभाएँ बनती थीं।[९] धर्मराज की सभा को देखकर दुर्योधन के आग्रह पर धृतराष्ट्र ने भी हस्तिनापुर में एक सभा बनवाई थी जिसमें एक सहस्र स्तम्भ थे जो हेम और वैदूर्य से जड़े थे, शत-शत द्वार और स्फटिक के तोरण थे जिसकी लम्बाई एक कोस थी।[१०] तक्षक के भय से परीक्षित् ने भी मंत्रियों से विमर्श के अनन्तर एक सुरक्षित एकस्तम्भ का प्रासाद बनवाया था जहाँ बैठकर वे समस्त राजकार्य किया करते थे।[११] सभाओं से राजा का सीधा सम्पर्क रहता था, अतः इनके निर्माण का भार भी राजा पर ही था।

आर्थिक कल्याण से सम्बद्ध निर्माण कार्य

राजाओं द्वारा सम्पादित अथवा प्रोत्साहित वे समस्त रचनात्मक कर्म जिनसे

---

१. आप० ध० सू० २।९।२५।५।
२. विराट ६,७।
३. आदि २१२।९-२८।
४. शान्ति ३०८।१५।
५. शान्ति ३०८।१७२।
६. सभा ३।२-३।
७. आरण्यक २७८।१।
८. सभा १।९-१२,१९;१।२३-२४;६।१०।
९. डा० अग्रवाल : भारत सावित्री, पृष्ठ १२४।
१०. सभा ५१।१७-१९।
११. आदि ३८।२८-३१।

कृषि, गोरक्ष्य, वाणिज्य या शिल्प से साक्षात् सम्बन्ध था, इस उपशीर्षक के विषय हैं। प्रायः कृषि से सम्बद्ध तडाग, कुल्या आदि तथा वाणिज्य से सम्बद्ध मार्ग, संक्रम आदि का ही विशेष उल्लेख मिलता है। गोरक्ष्य और शिल्प से सम्बद्ध राजकीय निर्माण योजना का विशेष वर्णन नहीं है।

तडाग

तडाग प्रायः कृषि की ही वृद्धि के लिए राजाओं द्वारा बनवाये जाते थे। राजाओं की ओर से सदा यह प्रयास किया जाता था कि राष्ट्र में जल की कमी न हो।

तडागों से बहुविध लाभ होने से उनके निर्माण को धार्मिक महत्त्व प्राप्त हो गया था। देव, मनुष्य, गन्धर्व, पितृगण, सर्प, राक्षस तथा स्थावर और जंगम भी जलाशय का आश्रय लेकर तृप्त होते हैं, अतः इनका निर्माण कराने वाले व्यक्ति को त्रिवर्ग का फल एकसाथ मिलने की घोषणा की गयी थी।[1] सर्वतृप्ति का साधन होने से तडाग का निर्माता तीनों लोकों में पूज्य समझा जाता था। सर्वदा चेष्टा की जाती थी कि रमणीय, विचित्र, धातुयुक्त एवं नानाविध प्राणियों से समन्वित प्रदेशों में तडागों का निर्माण हो जिससे उनसे सब प्रकार का लाभ लोक को हो सके।[2] जिस जलाशय का जल जितने ही अधिक दिनों तक समाप्त नहीं होता, उसके निर्माता को उतना ही अधिक और उत्कृष्ट कोटि के स्वर्ग-प्राप्ति का विधान था।[3]

राजागण भी प्रधानतः धार्मिक भावना से अभिभूत होकर तडागों का निर्माण करते थे, यद्यपि भावनात्मक लाभ की अपेक्षा उनसे आर्थिक लाभ बहुत अधिक होता था। युधिष्ठिर में युद्ध में मृत बांधवों के और्ध्वदेहिक कर्म के रूप में अनेक तडागों का निर्माण कराया था।[4] विविध कर्मों के लिए जल की आवश्यकता होने के कारण युधिष्ठिर ने 'खाण्डवप्रस्थ' बसाते समय अनेक विस्तृत तडागों का निर्माण कराया था।[5]

कुल्या

"क्षेत्रे कुल्येव" शब्दों से, कुल्या और क्षेत्र का घनिष्ठ सम्बन्ध ज्ञात होता है। कुल्या सम्भवत सिंचाई के लिए नदियों से निकाली गई नहरों का नाम था। सिन्धु सभ्यता के युग में भी लोग नदियों से नहरें और कुँओं से नालियाँ निकालते थे और सिंचाई करते थे।[7]

१. अनुशा० ५८।४-८। २. अनुशा० ५८।२।
३ अनुशा० ५८।१०-१८। ४. शान्ति ४२।७।
५. आदि १९९।४७। ६. शान्ति २५२।१४।
७. रामजी उपाध्याय : भारतस्य सांस्कृतिक निधि, पृष्ठ २०७, २०९।

क्षेत्र से विशेष सम्बन्ध होने पर भी राजाओं द्वारा एकमात्र कृषि के विकास के लिए ही इनके बनवाये जाने का उपक्रम प्रायः नहीं किया गया। तडाग की भाँति कुल्या निर्माण भी धर्म का विषय बन गया था। मृतात्माओं की तृप्ति के लिए उनके और्ध्वदेहिक कर्मों के रूप में कुल्या-निर्माण का बहुशः उल्लेख महाभारत में मिलता है। जतुगृह के साथ कुन्ती सहित पाण्डवों का भी दाह सुनकर धृतराष्ट्र ने अपने पुरुषों को शीघ्र ही जाकर वारणावत में शुभ्र एवं विशाल कुल्याओं के निर्माण का आदेश दिया था।[1] इसी प्रकार युधिष्ठिर ने भी नारद से धृतराष्ट्र, कुन्ती आदि के वन में जल कर मर जाने का समाचार सुनकर, उनके मरणस्थलों पर विविध कुल्याओं के निर्माण के लिए अपने परिजनों को भेजा था।[2]

कूप

कूपों का क्षेत्रसिंचन आदि के निमित्त प्रयोग किया जाता था अथवा नहीं, इसका स्पष्ट वर्णन नहीं किया जा सकता। सम्भवतः आजकल जिस प्रकार थोड़ी-सी भूमि की सिंचाई के लिए कुँओं के जल का उपयोग कर लिया जाता है, उसी प्रकार का होता रहा हो। विस्तृत भूभाग की सिंचाई के योग्य कुओं का निर्माण महाभारत में दृष्टिगोचर नहीं होता।

सामान्यतः मानव के दैनिक उपयोगों के लिए आवश्यक जल की पूर्ति कूपों से की जाती थी। अमर ने कूप का पर्यायवाची शब्द 'उदपान' दिया है।[3] महाभारत में अनेक स्थलों पर कहीं कूप और कहीं उदपान का उल्लेख है।[4] दुर्ग-निर्माण के अवसर पर जल-व्यवस्था हेतु उदपानों का खनन[5] और आपत्ति काल में उनका शोधन और आवश्यकतानुसार अधिक मात्रा में निर्माण का प्रबन्ध कराना राजा का ही कर्तव्य था।[6] भीष्म के राज्य-रक्षण-काल में राष्ट्र में कूप आदि के आधिक्य[7] के कारण ऐसा अनुमान होता है कि सामान्यतः राजा शान्ति काल में भी कूपों का खनन, शोधन आदि स्वयं कराते थे अथवा इन कर्मों में प्रवृत्त लोगों को सहायता देते थे।

कूप का निर्माण भी पूर्त कर्मों में से एक था। अतः इनके निर्माण का धार्मिक माहात्म्य था। महाभारतकार के अनुसार कूपों को बनवाने वालों को

---

१. आदि १३७।११-१३। २. आश्रम ४७।१४-१५, २२-२३।
३. अमरकोष १।१०।२६।
४. शान्ति १५९।२४-२५ ; अनुशा० ९४।२३ ; भीष्म २४।४६।
५. शान्ति ८७।१५। ६. आरण्यक १६।१६।
७. आदि १०२।११।

स्वर्ग की प्राप्ति होती है।[1] दस्युओं को वश करने के अनन्तर राजा लोग उनसे कूप खनन आदि पूर्त कर्म कराया करते थे।[2] इससे दस्यु, राजा तथा सामान्य लोक सबको लाभ होता था। रामायण में भी निर्जल स्थानों में कूप और उनके पास वेदियों का निर्माण राजा द्वारा कराने का उल्लेख है।[3]

कूप अथवा उदपान और वापी दोनों ही जलाशय होते थे, किन्तु इनमें भेद थे। वापी में सोपान होते थे। उनसे नीचे जाकर पानी लिया जा सकता था किन्तु कूपों से जल निकालने के लिए रस्सी का प्रयोग करना पड़ता था। वापी का प्रयोग प्रायः मनोरंजनार्थ होता था और कूपों का पेयजल की प्राप्ति हेतु। सीढ़ियों तथा क्रीड़ार्थ उपयोग से कूप की अपेक्षा वापियों के आकार में विस्तृत होने का भी अनुमान होता है।

मार्ग

महाभारत में कई प्रकार के मार्गों का उल्लेख है। कुछ स्थल-मार्ग थे और कुछ जल-मार्ग, तथा कुछ जल तथा स्थल दोनों से सम्बद्ध संक्रम आदि। इनमें कुछ का महत्त्व वाणिज्य और व्यापार के लिए था और कुछ का राष्ट्रीय सुरक्षा तथा सुविधा हेतु।

स्थल-मार्ग

स्थल-मार्ग प्रधानतः दो प्रकार के थे। प्रथम वे जो एक देश या नगर से दूसरे देश या नगर को सम्बद्ध करते थे, और दूसरे नगर, ग्राम आदि स्थानीय आवागमन के लिए थे।

अनेक ऐसे स्थलमार्गों का विवरण महाभारत में मिलता है जो एक देश से दूसरे देश तथा एक नगर से दूसरे नगर को जोड़ते थे। जाजलि को भूतों ने सागर तट से ही काशी को जाने वाले मार्ग का निर्देश किया था।[4] वन में नल ने विभिन्न देशों को जाने वाले कई मार्गों में से तीन का वर्णन किया था जो बहुत लम्बे थे। उनमें से एक विदर्भ, दूसरा कोशल तथा तीसरा दक्षिणापथ का था।[5] डा० अग्रवाल के शब्दों में 'यहाँ नल ने जो तीन मार्ग बतलाये हैं, वे ही तीनों मार्ग आज भी भारतीय रेलपथ ने लिये हैं। काली-सिन्ध और सिन्ध के बीच में प्राचीन निषध जनपद था जिसकी राजधानी नलपुर आज का नरवर है। इसी प्रदेश में खड़े होकर नल ने तीनों मार्गों का निर्देश किया है।[6] किन्तु इन महापथों के निर्माण एवं सुरक्षा के लिए तत्कालीन राजागण कितने उत्तरदायी थे

१. अनुशा० २३।९९। २. शान्ति ६५।१९। ३. शब्दकल्पद्रुम, पृष्ठ २३०।
४. शान्ति २५३।१०। ५. आरण्यक ५८।२०,२२।
६. डा० वासुदेवशरण अग्रवाल : भारतसावित्रीः, पृष्ठ २१६।

इसका स्पष्ट उल्लेख प्राप्त नहीं। सम्भवतः इन लम्बे मार्गों का विधान और अनुसरण तत्कालीन 'श्रेणीसार्थों'—व्यापारियों के समूहों ने किया था जो उच्चावच तथा विश्राम के योग्य भूमि का अनुमान लगाकर गहन वनों से होते हुए अपने वाहनों के साथ धन-प्राप्ति की आशा में एक देश से दूसरे देश का चक्कर लगाया करते थे। ऐसे ही व्यापारियों के एक दल से दमयन्ती की भेंट हुई थी।[१] इन मार्गों का व्यापारिक महत्त्व था। कृष्ण के द्रुपद की राजधानी से आने जाने, दौत्यकर्म हेतु हस्तिनापुर आने जाने, शल्य के रथादि के साथ आने जाने तथा युधिष्ठिर के तीर्थों और पाण्डवों के दिग्विजय आदि के लिए आने जाने के वृत्तान्तों से तत्कालीन विशाल और अत्यन्त लम्बे देशदेशान्तरों को सम्बद्ध करने वाले मार्गों का ज्ञान होता है। सम्भवतः प्रत्येक राजा अपने राज्य की सीमा तक के मार्गों का निर्माण तथा देख भाल का उत्तरदायी था। दौत्य के लिए कृष्ण के हस्तिनापुर को आगमन के समय नगर के बाहर दूर तक मार्गों को सुसज्जित तथा सुखसुविधाओं से युक्त करने का आदेश धृतराष्ट्र ने दिया था।

नगरों में मार्ग की व्यवस्था राजा द्वारा करायी जाती थी। सड़कों, प्रतोलियों, एवं उपमार्गों के स्वरूप का जैसा विस्तृत विवरण परवर्ती शुक्रनीतिसार[२] आदि ग्रन्थों में उपलब्ध होता हैं, वैसा महाभारत में नहीं, तथापि नगरनिर्माण के लिए दिये गये उपदेशों तथा विभिन्न परिभ्रमणकारियों के नगरविशेष में पहुँचने पर उसके वर्णनों से महाभारतकाल के नगरों के मार्गों का स्वरूप ज्ञात हो जाता है। वसिष्ठ ने नगर में 'महामहो' के निवासस्थान से मार्ग बनवाने का आदेश दिया था।[३] भीष्म ने 'दुर्गकर्म' के नियमों का वर्णन करते समय उसमें 'चत्वरों' का होना आवश्यक बतलाया था![४] धृतराष्ट्र ने भी 'षट्पथं सर्वतोदिशम्' नगर की सर्वदा रक्षा का उपदेश युधिष्ठिर को दिया था।[५] पतिपरायणा साध्वी के वचनानुसार मिथिला पहुँचने पर जाजलि को भली-भाँति बने हुए बड़े-बड़े मार्ग दृष्टिगाचर हुए थे जिनके दोनों पार्श्वों पर विविध पण्य सुसज्जित थे।[६] इन्द्रप्रस्थ को बसाते समय युधिष्ठिर ने सुन्दर, विभक्त और बड़े मार्गों का निर्माण कराया था जिनके दोनों ओर श्वेत भवनों की छटा दर्शनीय थी।[७] इसी प्रकार अन्य नगरों के विस्तृत वर्णनों का अध्ययन करते समय मार्गों का उल्लेख अवश्य मिलता है।

राजमार्गों का नगरों में विशेष स्थान था। किसी भी पूर्व अथवा प्रसन्नता के दिन, किसी विशेष अतिथि के आगमन पर अथवा राजाओं के ही नगरप्रवेश के समय राजमार्ग-शोभन की प्रथा थी। युद्धानन्तर पाण्डवों के नगरप्रवेश करने पर

१. आरण्यक ६१।१०६-१०७। २. शुक्रनीतिसार १।२६०-२६८।
३. वासिष्ठ ध० सू० राजधर्माः १६। ४. शान्ति ८७'८।
५. आश्रम ९।१६। ६. आरण्यक १९८।७। ७. आदि १९९।३४।

नगरवासियों द्वारा श्वेतमालाओं, पताकाओं, वेदियों, धूपदीप आदि से आच्छन्न राजमार्गों[1] तथा अत्यन्त अलंकृत किये गये चत्वरों से समन्वित नगर चन्द्रोदय के समय बढ़ते हुए महोदधि के समान लग रहा था।[2]

"जलवान् स्तृणवान् मार्गः समो गम्यः प्रशस्यते" (शान्ति १०१।११) से ज्ञात होता है कि तत्कालीन मार्गों को सुगम्य तथा सम बनाया जाता था और उनके किनारे पेयजल तथा विश्राम योग्य वनस्पतियों—वृक्षादि—का भी प्रबन्ध किया जाता था। नगर की सड़कों की स्वच्छता तथा मरम्मत आदि का काम पर्वों, उत्सवों या अतिथियों के आगमन पर मार्गशोभन के अवसर पर विशेषतः, राजा और प्रजा दोनों की ओर से होता रहा होगा, किन्तु महापथों का, जिनसे होकर राजकीय अतिथि अथवा सहायक राजागण आया करते थे, जीर्णोद्धार और उनके किनारों पर सभा, वापी, वृक्ष, जल आदि की व्यवस्था राजाओं द्वारा ही करायी जाती होगी। उद्योग पर्व में सहायतार्थ आ रहे राजाओं के स्वागत निमित्त कौरव-पक्ष द्वारा किये गये पथसम्बन्धी कर्म विशेष महत्त्वपूर्ण थे।

जलमार्ग

महाभारत में अनेक स्थलों पर नावों एवं पोतों का उल्लेख मिलता है।[3] जलमार्ग का प्रयोग विशेषकर व्यापारी वर्ग करता था, क्योंकि समुद्र या जलस्थानों में पोतों के नष्ट-भ्रष्ट होने के साथ वणिकों की दुर्गति प्रदर्शित की गयी थी।[4]

महाभारत में पत्तन शब्द का प्रयोग कई बार हुआ है। कर्ण ने दुर्योधन से कहा था कि सागर पर्यन्त पर्वत, वन, ग्राम, नगर, आकर एवं पत्तनों से मण्डित निखिल धरा उसकी हो गयी थी।[5] सहस्रबाहु ने ग्राम, पुर, घोष और पत्तनों को बाणों से जलाकर क्षार कर दिया था।[6] मिथिला को जाते समय मार्ग में शुकदेव को रम्य पत्तन एवं स्फीत नगर दृष्टिगोचर हुए थे।[7] परवर्ती शास्त्रकारों ने 'पत्तन' और 'पट्टण' नामक वसतियों का सम्बन्ध जलमार्गों से जोड़ा था। रायपसेणी सूत्र व्याख्यान में—

पत्तनं शकटैर्गम्यं घाटकैर्नौभिरेव च।
नौभिरेव तु यद् गम्यं पट्टणं तत्प्रचक्षते[8] ॥

कहा गया है। प्रश्न-व्याकरण-सूत्र के अनुसार जलमार्ग तथा स्थलमार्ग दोनों में से अन्यतम से प्राप्य वसती को पत्तन कहा था।[9] दोनों स्थितियों में 'पत्तन'

१. शान्ति ३८।४५-४६। २. शान्ति ३९।२। ३. द्रोण ५०।४४।
४. द्रोण ५०।४४; आरण्यक २६७।२८। ५. आरण्यक २२६।८।
६. शान्ति ४९।३२-३३। ७. शान्ति ३१२।१७।
८. हिन्दूराज्यशास्त्र, पृष्ठ ३११। ९. वही।

का जलमार्ग से अभिन्न सम्बन्ध द्योतित होता है। सम्भव है जलीय-व्यापार करने वाले वणिकों की जलाशयों की समीपवर्ती वस्ती को ही 'पत्तन' कहा जाता रहा हो। महाभारत में नौ, घाट आदि की व्यवस्था को 'तर' कहते थे। इससे राजकीय कोश की वृद्धि होती थी, अतः इस पर राजा का नियन्त्रण होता था और—

आकरे लवणे शुल्के तरे नागवने तथा।

न्यसेदमात्यान् नृपतिः स्वाप्तान् वा पुरुषान् हितान् ॥—शान्ति ६९।२८।

से ज्ञात होता है कि तरकर्म की व्यवस्था का राजकीय कर्मों में विशिष्ट स्थान था। कौटिल्य ने भी नौ-अध्यक्ष-नियुक्ति का विधान किया था[1] और शुक्र ने "नौकादि-जलयानानि पारगाणि नदीषु च।[2]" का।

रक्षा के दृष्टिकोण से भी जलमार्ग व्यवस्था राजा का कर्तव्य था। कई प्रकार के दुर्गों में एक 'अब्दुर्ग' भी था।[3] यदि तत्कालीन राजाओं ने ऐसे दुर्गों की व्यवस्था की होगी, अथवा आपत्तियों में आश्रय लिया होगा, तो अवश्य ही इनकी व्यवस्था भी राज्याधीन रही होगी।

सेतु-निर्माण

मार्ग में पड़ने वाले नदियों, नालों अथवा दुर्ग के किनारे की परिखाओं को पार करने के लिए पुल होते थे। शुक्र के "नदीनां सेतवः कार्याः विवन्धाः सुमनोहराः।"[4] निर्देश से ज्ञात होता है कि महाभारतोत्तर-काल में इन कार्यों के सम्पादन का पूर्ण भार राजा पर था।

महाभारत में यवक्रीतोपाख्यान में इन्द्र ने यवक्रीत को एक तथ्यविशेष का ज्ञान कराने के लिए सेतु-निर्माण का प्रदर्शन किया था, और वहीं पर धार्मिक भावना अथवा लोक के कष्ट निवारण की भावना से राजेतर व्यक्ति के द्वारा भी सेतु-निर्माण का उल्लेख मिलता है।[5] अन्यथा प्रायः सेतुओं का निर्माण राजाओं द्वारा अथवा उनकी प्रेरणा और सहायताओं से ही हुआ करता था। समुद्र संवरण हेतु राम द्वारा निर्मित कराया गया 'सेतुवन्ध' प्रसिद्ध ही है।[6] जल लेने के लिए जाने पर युधिष्ठिर से जिस यक्ष ने वार्तालाप किया था, वह सेतु पर खड़ा था।[7]

युद्धकाल में शत्रुपक्ष की धन तथा जन-शक्ति के व्यय और अवरोध के निमित्त राष्ट्र में स्थित मार्ग के संक्रमों को तुड़वा देने का विधान था। द्वारका

---

१. अर्थशास्त्र २।२८।
२. शुक्रनीतिसार ४।४।६१।
३. शान्ति ८७।५।
४. शुक्रनीतिसार ४।४।६१।
५. आरण्यक १३५।३६।
६. आरण्यक २६७।
६. आरण्यक २९७।२१।

पर आक्रमण होने पर समस्त संक्रम तोड़ दिये गये थे और नावों के भी संचालन का निषेध कर दिया गया था।[1] विशेष अवस्थाओं में इन्हें नष्ट-भ्रष्ट करने का अधिकार होने से, राजाओं द्वारा इनके निर्माण अथवा निर्माण में सहयोग दान-रूप कर्तव्य का भी अनुमान होता है।

जनता के लिए सुखकर होने के कारण इनको धार्मिक महत्त्व मिल गया था। सभा, विहार आदि के समान संक्रमों के भेदनकर्ताओं के लिए शास्त्र में निरय का विधान था।[2]

लोक-आवास व्यवस्था हेतु निर्माण कार्य

किसी भी वर्ग का कोई भी प्राणी अपने घर से बाहर निकलने पर मार्ग में आवश्यकतानुसार विश्राम कर सके, उसकी उद्देश्यपूर्ति के साथ उसे विशेष कष्ट न सहना पड़े, अतः आराम के लिए महाभारतकाल में ऐसे भी निर्माण कार्य दृष्टिगोचर होते हैं जिनमें उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति हो सकती है। किसी भी वर्ण या वर्ग के व्यक्ति के लिए धर्मशालएँ, ब्राह्मण आदि के लिए आवसथ और योगियों तथा संन्यासियों के लिए शून्यागार थे। सम्भव है धार्मिक जन-समुदाय ने इनका निर्माण स्वयं भी कराया हो, किन्तु महाभारत में राजा तथा राज-परिवार से इनका विशेष सम्बन्ध दृष्टिगोचर होता है।

पान्थशाला

उस स्थान को जहाँ पर अपनी लक्ष्यसिद्धि के लिए निर्गत पथिक को रहने और विश्राम करने की सुविधा मिल जाती थी, पान्थशाला अथवा सभा कहते थे। महाभारत में इस प्रकार की सभाओं का वर्णन अनेक स्थलों पर उपलब्ध होता है।[3] धृतराष्ट्र, पाण्डु तथा विदुर की शैशवावस्था में भीष्म के द्वारा शासन-तन्त्र का भार अपने हाथों में लिये जाने पर अन्य पुण्य कृतियों के साथ सभाओं की संख्या में भी अतिशय वृद्धि हुई थी।[4] इससे राजाओं द्वारा केवल इनके निर्माण में ही नहीं अपितु संरक्षण में भी रुचि रखने का भास होता है। लोक-हितकर होने से सभाओं के निर्माण और क्षति से पुण्य तथा पाप की घोषणा कर इनका धार्मिक महत्त्व भी स्वीकार किया गया था।[5] सभा निर्माण के कई कारण थे।

प्रथमतः तत्कालीन राजागण धार्मिक भावना से प्रेरित होकर किसी पुण्य तिथि में सभानिर्माण कराया करते थे। कार्तिकी महादान के अवसर पर धृतराष्ट्र

१. आरण्यक १६।१५। २. अनुशा २३।६३।
३. उद्योग ८३।४; आदि १२९।४। ४. आदि १०२।११,१२।
५. अनुशा २३।६३,९९-१००।

की मनोकामना की पूर्ति हेतु युधिष्ठिर ने विदुर को अनेक सभाओं के बनवाने की आज्ञा दी थी।[1] दूसरा कारण भी धार्मिक ही था। भारतीयों का विश्वास था कि किसी विशेष प्रकार की क्षति करने पर उससे अधिक मात्रा में उसी प्रकार का रचनात्मक कर्म करने से मानव पाप से मुक्त हो जाता है। अतः यह धारणा थी कि दीनों, अनाथों और अन्ध भिक्षुकों के सुखार्थ, सार्वजनिक भवन आदि का निर्माण कराने से सम्बन्धियों की मृतात्माओं को विश्राम मिलेगा। सुख और शान्ति मिलेगी। इन धार्मिक विचारों से ओतप्रोत हो युधिष्ठिर ने युद्धसमाप्ति पर सुहृदों के और्ध्वदैहिक कर्म के रूप में सभाओं का भी निर्माण कराया था।[2]

यज्ञयागादि के अवसर पर भी सभाओं का निर्माण दृष्टिगोचर होता है। संवर्त द्वारा मरुत्त के यज्ञ का सम्पादन कराते समय इन्द्र ने प्रसन्न होकर देवताओं को यज्ञ मण्डप के साथ सभा निर्माण की आज्ञा दी थी।[3]

आश्चर्यजनक संख्या में सभाओं का निर्माण युद्ध के समय दृष्टिगोचर होता है। अपने नगर से प्रस्थान करते समय सहायता के आकांक्षी राजा आगन्तुक राजा के मार्गों में सभाओं का निर्माण कराने लगते थे। दूत श्री कृष्ण का आगमन सुन उनके प्रसन्नतार्थ धृतराष्ट्र ने दुर्योधन को मार्ग में 'सर्व काम समाहित' सभाओं को तैयार कराने की आज्ञा दी थी। उनकी आज्ञा से उन्होंने अनेक रमणीय स्थलों पर विचित्र रत्नों, बहुगुण आसनों, स्त्रियों, गन्धों, अलंकारों, सूक्ष्म परिधानों तथा सुस्वादु अन्नपान आदि भोज्य-पेय पदार्थ से युक्त सभाओं की रचना करायी थी।[4] उसी प्रकार शल्य के आगमन के समय भी दुर्योधन ने रम्य स्थलों पर सभाएँ बनवायीं थीं, जहाँ पर शल्य की देवता के समान पूजा की गई थी।[5]

सम्भवतः विविध कारणों और उद्देश्यों से निर्मित सभाओं को उद्देश्यपूर्ति के अनन्तर छोड़ दिया जाता था, जिसका उपयोग जनता आवश्यकता के अनुसार कर सकती थी। वन में दमयन्ती के साथ नल जिस सभा में निवास किये थे, वह ऐसी ही थी।[6] वहाँ पर किसी प्रकार के अन्य जनवास अथवा भक्ष्यभोज्य या अभ्यवहार्य पदार्थों की व्यवस्था नहीं ज्ञात होती। किन्तु सामान्यतः पर्वों और उत्सवों के अवसर पर धर्मभाव से युक्त राजाओं की ओर से अधिकांशतः प्रयोग में आने वाली सभाओं में अन्न, रस, पान आदि पदार्थों का प्रबन्ध करा दिया जाता था[7] जिसका उपयोग उसमें रहने के लिये आया हुआ कोई भी व्यक्ति कर सकता होगा। पदार्थों की उपस्थिति में उनके प्रबन्धकों तथा निरीक्षकों की पूर्वकल्पना

---

१ आश्रम १९।१२,१३। २. शान्ति ४२।७। ३. आश्वमे १०।२५।
४. उद्योग ८३।९,१२-१६। ५. उद्योग ८।६-१०।
६. आरण्यक ५९।४-५,१५-१६,१९। ७. आश्रम १९।१३।

की जा सकती है, किन्तु जिस प्रकार की स्वच्छता, सुरक्षा, सुखप्रदान आदि विषयक विवरण शुक्रनीतिसार[1] में मिलता है, वैसा महाभारत में नहीं।

आवसथ

आवसथ भी सभा के समान जननिवास थे। इनका स्वरूप आज स्पष्ट है। आपस्तम्ब ने पुर एवं वेश्म निर्माण कराते समय आवसथ रचना पर भी राजा का ध्यान आकृष्ट किया था। इनके अनुसार पुर के सामने ही राजा को आवसथ बनवाना चाहिए जिसमें निरन्तर अग्नि जलती रहनी चाहिए। इनमें श्रोत्रिय श्रेष्ठ एवं पूज्य अतिथियों को स्थान देकर यथायोग्य शय्या, अन्नपानादि के प्रबन्ध की अपेक्षा राजा से की जाती थी। इन गृहों को 'आमन्त्रण' भी कहते थे।[2]

महाभारत में इसका प्रयोग कई अर्थों में हुआ है। कुछ स्थलों पर आवसथ केवल सामान्य गृह के वाचक थे।[3] किन्तु कई स्थानों पर विहार, उद्यान, कूप, आराम, सभा, प्रपा, वप्र, निवेश, क्षेत्र, वसती आदि[4] के साथ 'आवसथ' शब्द का पाठ होने से निश्चय हो जाता है कि यह इन सबसे भिन्न आवास था। इसी स्थान पर आवसथ के भी निर्माता को स्वर्गफल का अधिकारी निर्दिष्ट कर, इनके निर्माण को धार्मिक महत्त्व भी प्रदान किया गया था। अतः यह भी स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि इनका प्रयोग आत्महितार्थ ही नहीं होता था। विहारस्थल[5] घोषस्थल[6] तथा यज्ञों में राजा अपने लिये और आगन्तुक विविध अतिथियों के लिये आवसथों का निर्माण कराते थे। इन स्थलों के प्रसंग में इसका उल्लेख मिलता भी है। अतः आवसथ का सामान्य अर्थ 'आगत्य वसन्ति अस्मिन्'—यह कोशगत[7] अर्थ स्वीकार करना पड़ता है।

मरुत्त,[8] युधिष्ठिर आदि के यज्ञों में[9] समागत अतिथियों के स्वागतार्थ शिल्पियों द्वारा—विशेषतः ब्राह्मणों के लिये—आवसथ निर्माण का उल्लेख है जिनमें रहकर ब्राह्मण-गण परस्पर धर्मकथायें कहा करते थे।[10] अतः आवसथ एक विशेष प्रकार की वसती ज्ञात होती है जहाँ पर समानकर्मा लोग रहते थे। महाभारत में ब्राह्मणावसथ[11], आक्रोड़ावसथ[12], आदि महाभारतेतर साहित्य हितोपदेश आदि में भी

---

१. शुक्रनीतिसार १।२६९-२७८।
२. आप० ध० सू० २ ९।२५।५।
३. आरण्यक २२७।१७।
४. अनुशा २३।९९-१००।
५. आदि ११९।२९,३१।
६. आरण्यक २२९।१६।
७. शब्दकल्पद्रुम, पृ० १९३।
८. आश्वमे १०।२५,२६।
९. सभा ३०।
१०. सभा ३०।४७-४८।
११. आदि १०२।११।
१२. आरण्यक २२९।१६।

परिव्राजकावसथ[१] के उल्लेखों से उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि होती है। अवसर विशेष पर सम्पाद्य कर्मों के पूर्ण हो जाने पर ये खाली हो जाते होंगे जिनका उपयोग कोई भी कर सकता था। किन्तु आपस्तम्बीय सूत्र में वर्णित प्रवृत्ति तथा अतिथियों के आवास की समस्या दोनों पर ध्यान देने से आवसथ श्रोत्रिय और गुणसम्पन्न विद्वान् ब्राह्मणों अथवा ब्राह्मण अतिथियों के लिए राजा की ओर से बनवाये गये नगर के स्थलविशेष के गृहसमूह थे। इनकी सुरक्षा और इनमें उपभोग्य पदार्थों के संकलन का भार राजा पर रहता था क्योंकि इनका निर्माण किसी भी कारण से हो जैसा ऊपर लिखा जा चुका है राजा ही कराते थे।

शून्यागार

लोक-सामान्य के लिए सभा तथा आदर के पात्र वर्ण-विशेष या वर्ग-विशेष के लिये आवास व्यवस्था हो जाने पर भी समाज का संन्यासी-वर्ग विविक्त वास का ही अधिकारी होने के कारण सामान्य आवास-सुखों से वंचित रह जाता था। अतः उनका भी ध्यान रखना राजा का ही कर्तव्य था। संन्यासियों के रहने के लिए वृक्षमूल, अरण्य अथवा गुहा ही स्वीकृत स्थल थे।[२] वर्षा-ऋतु में कुछ दिनों के लिये, अथवा एक दिन के लिये आवश्यकतानुसार वह नगर में भी रह सकता था।[3] किन्तु कोलाहलमय अशान्त जनसंकुल और गृहस्थ के घर में साधना-भंग के भय से निवास विहित नहीं था। अतः नगरों या पुरों में इनके रहने के लिये एकान्त स्थलों की व्यवस्था की जाती थी जिन्हें उस समय शून्यागार[४] अथवा शून्यपुरागार[५] कहते थे। प्रथम शब्द से इन स्थानों के एकान्त होने का तथा द्वितीय से प्रत्येक पुर में अनिवार्यतः इनके प्रबन्ध का अनुमान होता है।

किन्तु शून्यागार, जैसा इनके नाम से प्रतीत होता है, सर्वथा शून्य नहीं होते थे। यहाँ शून्य संभवतः गृहस्थादि-जन-शून्यता का बोधक है, समस्त प्राणियों की नहीं, क्योंकि दान के पश्चात् बलि राज्य आदि का परित्याग कर शून्यागार में खरयोनि में उपस्थित थे, जहाँ इन्द्र ने व्यंग्योक्तियाँ की थीं।[६] इसके अतिरिक्त योगियों के लिए भी शून्यागार विहित थे।[७] अतः शून्यागारों में सामान्य प्रपंचरत ब्रह्मचारी और गृहस्थादि का निवास निषिद्ध था।

यद्यपि राजा द्वारा कराये गये शून्यागारों के निर्माण का उल्लेख नहीं, तथापि तत्कालीन समाज में संन्यासी भिक्षुओं की अधिकता, तथा सम्मान होने के

---

१ शब्दकल्पद्रुम, पृ० १९। २. शान्ति २६९।१३।
३. आश्वमे ४६।३८। ४. वही।
५. शान्ति ३०८।१८९;२३२।२६। ६. शान्ति २१६।८,९,१२।
७. शान्ति २३२।२५,२६।

कारण और चतुर्वर्णाश्रम व्यवस्था का भी विशेष उत्तरदायित्व राजा पर होने के कारण, राजा द्वारा इनकी व्यवस्था का अनुमान किया जा सकता है। किंदममुनि के वध के अनन्तर पाण्डु के संन्यासी हो कर वृक्षमूल अथवा शून्यागार में निवास की कामना[1] प्रकट करने से यह भी ज्ञात होता है कि भावी जीवन में सम्भव दुःखों का विचार कर गृहस्थ राजा शून्यागारों की व्यवस्था करते रहते हों।

धार्मिक-भावना से लोकनिर्माण कार्य

महाभारत में धर्म जीवन का उद्देश्य बन चुका था और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उसका समान अस्तित्व भी स्वीकृत हो चुका था। सामान्यतः धर्म का रहस्य स्वार्थ परित्याग पूर्वक लोकहित सम्पादन था। इस कर्म विधान हेतु देवों की प्रतिमा पूजा, देवालय आदि का निर्माण भी होता था जहाँ पर कुछ क्षणों के लिए स्थित होकर मानव अपने को दिव्य गुणों से समन्वित होने की भावना कर सकता। अतः धार्मिक निर्माण कर्मों में देवपूजन हेतु निर्मित देवालयों से लेकर जनकल्याण के केन्द्र प्रपा आदि, पशुहित संवर्धक निपान आदि सबका ग्रहण हो जाता है।

देवालय-निर्माण

महाभारत में देवालयों का उल्लेख अनेक स्थानों पर है। शान्तिकाल में सामान्य गृहों से लेकर आश्रमों तक देवायतन की पूजा,[2] किसी उत्सव के अवसर पर देवायतन का अलंकरण और पूजन,[3] संन्यासियों और योगियों को देवायतन में निवास का विधान[4] नगर निर्माण काल में 'देवताबाध-वर्जित' महारथ्याओं के निर्माण[5] आदि से स्पष्ट होता है कि तत्कालीन समाज में देवविग्रह तथा देवायतनों का विशेष स्थान था।

सामान्य सम्पन्नलोक से भी आशा की जा सकती थी कि वह देवायतनों का निर्माण करावे, तथापि नगर-पुर-निर्माण में राजा का सहयोग विशेष अपेक्षित होने से, और शुक्रनीतिसार में चतुष्पथों पर रवि, शिव, गणेश, अम्बिका आदि के आयतनों का राजाओं द्वारा ही निर्माण कराये जाने का उल्लेख मिलने से,[6] एक राजकीय परम्परा का ज्ञान होता है। समाज के प्रतिष्ठित अंग के रूप में राजा लोग अवश्य ही मन्दिरों का निर्माण कराते रहे होंगे। युधिष्ठिर द्वारा खाण्डव प्रस्थ के बसाने के विवरणों में "सुविभक्तमहारथ्यं देवताबाधवर्जितम्"[7]

---

१. आदि ११०।८। २. आदि ६४।४०। ३. शान्ति ३९।१४।
४. शान्ति २३२।२६। ५. आदि १९९।३४।
६. शुक्रनीतिसार ४।४।६२-२०३। ७. आदि १९९।३४।

का उल्लेख होने से चतुष्पथों अथवा मार्गों के किनारे ही देवालयों की स्थिति का ज्ञान होता है।

प्रपा

जल पीने के सार्वजनिक स्थलों को प्रपा कहते थे। अमर ने भी प्रपा का पर्याय 'पानीयशालिका' दिया था।[१] सम्भवतः 'पानीयशाला' कूप के समीप होती थी। इसी हेतु मनु ने कुएँ से रस्सी और घट चुराने वाले तथा प्रपाभवन को क्षति पहुँचाने वालों को एकमाष स्वर्णदण्ड का विधान किया था।[२]

लोकसुखार्थ होने से प्रपा-निर्माण धार्मिक कृत्य समझा जाता था। अतः महाभारत में मनु की भाँति इनको नष्ट करने वालों के लिए निरयगमन तक का विधान किया गया था[3] और प्रपा-निर्माण-कारी स्वर्ग का अधिकारी समझा गया था।[४] पाण्डव राजाओं द्वारा मित्रों की मृत्यु पर और्ध्वदैहिक कर्मों के रूप में उद्यान, कूपादि के साथ प्रपाओं का भी निर्माण कराया गया था।[५]

सूत्रकाल से ही पथों के पार्श्वों में प्रपानिर्माण राजाओं का कर्तव्य घोषित किया गया था।[६] भीष्म ने युधिष्ठिर से सामान्यतः नियोजन तथा धर्मकार्य दोनों के एक साथ सम्पन्न हो जाने से, असभ्य, बर्बर, दस्युगणों को वश में करके सार्वजनिक निर्माण—कूप, सभा, प्रपा आदि कराने का उपदेश दिया था।[७]

निपान

मनुष्यों को पर्याप्त जल पीने के लिए मिल सके इसलिए 'प्रपा' का और पशुओं को भी आवश्यक जल सुलभ कराने के लिए 'निपान' का विधान था।

निपान का सामान्य अर्थ पानी पीने का स्थान है। विष्णुसंहिता (६४।१) में निपान केवल जलाशय का ही वाचक था।[८] कालान्तर में निपान का अर्थ कुएँ के समीप प्रस्तरादि से विनिर्मित पशुओं के पानी पीने के लिए बनाया गया जल एकत्र करने का कुण्ड स्वीकृत हुआ।[९] इनके स्वरूप में देशकालानुसार चाहे जो परिवर्तन और संशोधन हुए हों, वस्तुतः इनका प्रयोजन महाभारत के अनुसार[१०] हिंस्र या पाल्य पशु-सामान्य हेतु जलव्यवस्था ही था। किन्तु विशेषतः निपान तथा 'गोभ्याश' का विशेष सम्बन्ध दृष्टिगोचर होता है।[११]

---

१. अमरकोश २।२।७। २. मनु ८।३१९। ३. अनुशा २३।६३।
४. अनुशा २३।९९,१००। ५. शान्ति ४२।७।
६. वासिष्ठ ध० सू० राजधर्माः १८। ७. शान्ति ६५।१७-१८।
८. शब्दकल्पद्रुम, पृष्ठ ८८४। ९. हलायुध कोश, पृष्ठ ३९२।
१०. शान्ति १८।१७; १३३।४-५; द्रोण ७६।३०। ११. शान्ति २५२।१३-१४।

वापी, कूप, तड़ाग आदि पूतकर्म के नाम से प्रसिद्ध हैं।[1] इनसे प्राणियों को सुख मिलने के कारण, इनके निर्माताओं को पुण्य का भागी वतलाकर निर्माण हेतु प्रेरणा दी गयी थी।[2] महाभारत में भी 'निपान निर्माण' को पुण्यकर्म कहा गया था।[3] कार्तिकी महादान के अवसर पर धृतराष्ट्र की इच्छानुसार विदुर को निपान वनवाने की आज्ञा मिली थी।[4]

जनमनोरजनार्थ निर्माण कृत्य

जहाँ पहुँचकर मानव अपने दुःखों को एक क्षण के लिए भुला सकता, अथवा सुखद वायु और मनोरम दृश्यों से अपने अंग-प्रत्यंग और श्रवण नयनादि को पुलकित कर आनन्दविभोर हो जाता या स्वास्थ्य में वृद्धि कर सकता, ऐसे स्थलों की व्यवस्था करना भी राजा का, लोकरंजक होने से—कर्तव्य था। महाभारतकाल में मनोरंजन के लिए वापी, विहार, उद्यान, आराम आदि थे जिनके निर्माण और संरक्षण का पूर्ण अथवा आंशिक उत्तरदायित्व राजा का रहा होगा।

वापी

निष्पत्तिगत अर्थ 'उप्यते पद्मादिकमस्यामिति'[5] के अनुसार भी वापी का एकमात्र प्रयोजन मनोरंजन था। अमरसिंह ने दीर्घिका को वापी कहा है।[6] वसिष्ठ ने वापी, दीर्घिका, तड़ाग आदि में आकृति तथा विस्तार का अन्तर स्वीकृत किया था।[7] वापी के पर्याय पद्मिनी, पुष्करिणी आदि भी हैं। कमल आदि जल से उत्पन्न होने वाले पुष्प-पत्र कहीं भी उचित जलवायु में उत्पन्न होते रहते हैं और उत्पन्न किये जा सकते हैं, तथापि वापी विशेषतः नगरों या जलस्थानों में ही स्थित पुष्करिणी को कहा जायेगा।

महाभारत में अनेकशः वापी का उल्लेख हुआ है। उत्तंक ने नागलोक में वापियों का दर्शन किया था जिनके सोपान स्फटिक के बने हुए थे।[8] तारकाक्ष के पुत्र महाबली 'हरिनाभ' ने तपस्या कर ब्रह्मा से ऐसी वापियों के निर्माण कराने की आज्ञा, वरदान-स्वरूप माँगी थी, जिनमें क्षतविक्षतों को डालने से उनमें नवजीवन का संचार हो जाये।[9] ऐसी ही मृतसंजीवनी वापियों का निर्माण उन्होंने कराया भी था। भीष्म के संरक्षणकाल में लोग स्वतन्त्र होकर वापी,

१. शब्दकल्पद्रुम, पृष्ठ २०१।
२. वही, २००।
३. आश्रम १९।१२-१३।
४. वही।
५. हलायुध, पृ० ६०१।
६. अमरकोष १।१०।२८।
७. शब्दकल्पद्रुम, पृ० ३३५।
८. आश्वमे ५७।३५।
९. कर्ण २४।२३-२५।

नदी-नद आदि प्रदेशों में सानन्द विचरण करते थे[१] और उनकी रक्षा का भार भीष्म पर ही था।[२] खाण्डवप्रस्थ में युधिष्ठिर ने जल से भरी हुई अनेकों वापियों और पुष्करिणियों का निर्माण कराया था।[३]

इन समस्त उद्धरणों से वापियों की मनोरंजन हेतु निर्मित, उनके स्वरूप तथा राजाओं द्वारा उनके निर्माण और संरक्षण से सम्वद्ध तथ्यों का ज्ञान होता है।

उद्यान

तत्कालीन मनोरंजन के साधनों और स्थलों में उद्यानों का स्थान विशेष था। मिथिला जाते समय शुक ने मार्ग में अनेक रम्य उद्यानों और आयतनों को देखा था।[४] इससे महाभारतकालीन लोक की उद्यानों के प्रति अभिरुचि तथा इनकी बहुलता का परिचय मिलता है।

उस समय पुरोद्यान या नगरोद्यान होते थे, जो सार्वजनिक होते थे। इसी हेतु सम्भवतः ये स्थल गुप्तचरों के अड्डे हुआ करते थे। शुक मिथिला में प्रवेश के पूर्व मिथिलोद्यान में पहुँचे थे।[५] कपि सेना ने सर्वप्रथम, लंका में पहुँचकर, लंकोद्यान को ही छिन्न-भिन्न करना प्रारम्भ किया था।[६] शाल्वराज ने भी द्वारका पर आक्रमण करने पर 'पुरोद्यान' को नष्टभ्रष्ट करना प्रारम्भ किया था।[७] इसी प्रकार वालि से सुरक्षित उसके 'पुरोद्यान' मधुवन का भी उल्लेख है।[८] युधिष्ठिर ने अनेक प्रकार के वृक्षों से युक्त उद्यानों का विधान खाण्डवप्रस्थ के बसाते समय किया था और वृक्षारोपण कराया था।[९]

इनकी सार्वजनिकता का ज्ञान इनके नामों से भी होता है जो किसी व्यक्ति-विशेष के नाम से सम्वद्ध न होकर पूरे नगर के व्यक्तियों से सम्वद्ध होने का भाव सूचित करते हैं।

उपर्युक्त सूत्रों से यह निष्कर्ष निकलता है कि पुरोद्यानों के बनवाने का प्रमुखतम उत्तरदायित्व राजा पर होता था। साथ ही उनकी रक्षा का भी भार राजाओं पर था। राजा लोग आक्रमण करने पर सर्वप्रथम पुरोद्यान को भी नष्ट करें ऐसा राजनीतिक विधान था।[१०] उद्यानों में प्रणिधि[११] से जहाँ राष्ट्र के विरोधी तत्त्वों का ज्ञान होता था, वहीं कोई उद्यान में उत्पात न करे और सार्वजनिक वस्तुओं की कोई क्षति न करे यह भाव भी निहित रहा होगा। लंकोद्यान की

---

१. आदि १०२।९। २. वही ११-१२। ३. आदि १९९।४४,४६।
४. शान्ति ३१२।१८। ५. वही २२। ६. आरण्यक २६७।५१।
७. आरण्यक १५।७। ८. आरण्यक २६६।२६। ९. आदि १९९।३९-४४।
१०. शान्ति १०६।१५,१६। ११. शान्ति ६९।११-१२।

रक्षा हेतु रावण ने शुक और सारण नामक दो अमात्यों की नियुक्ति कर रखी थी।[१]

आराम

आराम लघु-उद्यानों का नाम था। पुरोद्यान अथवा महोद्यान से ये निश्चित ही भिन्न रहे होंगे, क्योंकि महाभारत में 'उद्यान' और 'आराम' शब्दों का प्रयोग एक ही श्लोक में किया गया है।[१] संभव है इनका रूप आज के 'सिटी-पार्क्स' (City Parks) सा रहा हो। ये भी सार्वजनिक ही होते थे। कहीं-कहीं पर वृक्षविशेष का नाम इसके पूर्व जोड़ देने से उसी वृक्ष के समूह का ज्ञान होता है, उदाहणार्थ–चूताराम।[२]

इनकी भी रक्षा की आशा राजाओं द्वारा की जाती थी। भीष्म की संरक्षिता में आरामों की भी वृद्धि का उल्लेख है।[3] सार्वजनिक उपभोग्यता के कारण आरामों का भी धार्मिक महत्त्व था और इनकी व्यवस्था करने वाला स्वर्ग का अधिकारी माना गया था।[४]

समस्त लोकनिर्माण कार्यों की निरीक्षण व्यवस्था

सार्वजनिक निर्माण के कार्यों की देखरेख, उनकी सुरक्षा और जीर्णोद्धार करना राजा का प्रमुख कर्तव्य था। भीष्म ने–'केतनानां च जीर्णानामवेक्षा चैव सीदताम्' (शान्ति ५८।९) कह कर राज्य के ऊपर लोकनिर्माण का भार डाल दिया था। पुर, नगर, दुर्ग आदि के निर्माण के समय तथा परचक्राभिघात काल में शिल्पियों की अनिवार्य उपस्थिति, इनसे सम्बद्ध निर्माण कार्यों के विवरण के प्रसंग में दिया जा चुका है। उद्यानों की रक्षा हेतु प्रणिधि तथा अमात्यनियोजन का वर्णन भी प्रसंगानुसार किया जा चुका है। अतः निष्कर्ष ज्ञात होता है कि सार्वजनिक निर्माण, उसकी क्षतिपूर्ति आदि के लिये शिल्पियों तथा स्थपतियों का नियोजन भी होता रहा होगा।

इन सार्वजनिक निर्माण के कार्यों को क्षति पहुँचाने वालों को अधार्मिकता का दोष तो लगता ही था, साथ ही राजा का कर्तव्य था कि वह देशकालानुसार अपराधों की अल्पता तथा अधिकता का ज्ञान कर हिरण्यदण्ड से लेकर वधदण्ड तक दे। अतः युधिष्ठिर को धृतराष्ट्र ने उपदेश दिया था—

> समाविहारभेत्तारो वर्णानां च प्रदूषकाः।
> हिरण्यदण्ड्या वध्याश्च कर्तव्या देशकालतः॥
>
> —आश्रम १०।४॥

---

१. आरण्यक २६७।५२। २. शान्ति ६९।११-१२। ३. द्रोण ४४।२७।
४. आदि १०२।११। ५. अनुशा २३।९९।

इन रूपों में महाभारतकाल के सार्वजनिक निर्माण कार्यों का दर्शन होता है। राजा कभी उन्हें धार्मिकता की भावना से, कभी रक्षा के दृष्टिकोण से, कभी राजा के रूप में और कभी जनमनोरंजक के रूप में इनका निर्माण कराता था, क्षतिपूर्ति की व्यवस्था करता था, रक्षा का भार लेता था और आवश्यकतानुसार दण्ड भी दे सकता था।

———

षष्ठ अध्याय

आर्थिक कल्याण की राजकीय योजनाएँ

[भूमिका, वार्ता का महत्त्व और राजकीय सुरक्षा,

अ—कृषि—राजा द्वारा कृषिरक्षा, सिंचन-व्यवस्था—तड़ाग, कुल्या, यज्ञ, राजकीय प्रोत्साहन, बीज, भक्त और ऋण, कृषि की पड़ताल तथा 'अनुवाद,' आदर्श-राज्यक्षेत्र,

आ—गोरक्ष्य—गोवंश का महत्त्व, राजाओं में गोपालन की रुचि, चारे का प्रबन्ध और गोप, गोरक्षा और रक्षक, स्मारणा, अंकन, नस्लसुधार और गोचिकित्सा, पशुओं के लिये जलव्यवस्था, करमुक्ति तथा गोस्वामी-रक्षा,

इ—वाणिज्य—नगरों में व्यवस्था, विदेशी और सामुद्रिक व्यापार, आपणविपण-व्यवस्था, वणिक्-रक्षा, आपत्ति में सहायता, कर की अल्पता,

ई—शिल्प तथा उद्योग—शिल्पियों की आवास व्यवस्था, शिल्पियों की आवश्यकता, शिल्पियों का राजकीय नियोजन, व्यक्तिगत शिल्पियों को राजकीय सहायता, कच्चेमाल की प्राप्ति, कर से छूट,

उ—वनसम्पत्ति की सुरक्षा,

ऊ—अन्य प्रकार की आर्थिक समस्याओं का समाधान—जनसंख्या, भिक्षु-समस्या, संकटकालीन अर्थव्यवस्था,

ए—तत्कालीन सामान्य अर्थव्यवस्था में राजा का योगदान।]

सामाजिक संस्थानों की स्थापना, विविधकालों में बहुविध सुरक्षा, और देशकालानुसार यथाशक्ति निर्माण कार्यों के विधान मात्र से राजा अनृण नहीं हो सकता था। लोक में हितकारिणी अर्थव्यवस्था को स्थायित्व प्रदान कर लोक का कल्याण करना भी उसका कर्तव्य था, क्योंकि—

> यथैव पूर्णादुदधेः स्यन्दन्त्यापो दिशो दश।
> एवं राजकुलाद् वित्तं पृथिवीं प्रतितिष्ठति॥—शान्ति ८।३२।

किन्तु राजकुल से लोक में वित्तविस्तार का अभिप्राय जन-जन के घर में राजकोष से द्रव्यनिक्षेप नहीं। इसका अर्थ है राजा द्वारा ऐसी परिस्थितियाँ पैदा कर देना जिससे लोक को आर्थिक संकट का सामना न करना पड़े।

विभिन्न देशों में राजाओं द्वारा राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में सक्रिय सहयोग और हस्तक्षेप दृष्टिगोचर होता है। आधुनिक काल में विश्व में राष्ट्रों में कृषि, पशु, उद्योग, वाणिज्यादि के राष्ट्रीयकरण की प्रवृत्ति प्रचलित है। इनकी गुणात्मक एवं संख्यात्मक (Qualitative and Quantitative) प्रगति हेतु राजकीय व्यवस्थाएँ मात्र नहीं, अपितु उनके स्वरूप में यथेष्ट परिवर्तन भी किये जा रहे हैं। आज की भाँति महाभारतकालीन भारत को भी राजकीय सहयोग की अपेक्षा थी। उस समय की समस्याओं का समाधान तत्कालीन सुलभ उपायों से किया गया था। आवश्यकताओं के समान होने पर भी आज की समस्याओं का हल आज की परिस्थितियों के अनुसार किया जा रहा है, क्योंकि अपेक्षित साहाय्य का स्वरूप तत्तत्कालीन विकसित उपयोगी साधनों पर आधृत होता है। उदाहरणार्थ आज सिचाई के लिये सरकार द्वारा नहर, नलकूप आदि की विशेष व्यवस्था मैदानी क्षेत्रों में की जाती है, किन्तु कई शताब्दी पूर्व संभवतः कच्चे कुएँ-तालाव ही इसके लिये उपयुक्त समझे जाते रहे होंगे।

वार्ता का महत्त्व और राजकीय सुरक्षा

कृषि, गोरक्ष्य एवं वाणिज्य को 'वार्ता' कहते हैं। महाभारत में लोक-जीवन का आधार वार्ता ही स्वीकृत हुई थी।[१] अतः सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था को सुचारु रूप से स्थापित करने के लिये इनमें राजा का सहयोग और हस्तक्षेप यथावसर आवश्यक था। वार्ता का कितना भी अधिक महत्त्व क्यों न हो, राजा की रक्षा के अभाव में इनकी स्थिति, विस्तार आदि सब असंभव थे।[२] अतएव महाभारत काल में राजाओं द्वारा कृषि, गोरक्ष्य, वाणिज्य और शिल्प को यथासंभव समस्त आवश्यक सुविधायें प्रदान की जाती थीं।

कृषि

भूमि बहुगुण सम्पन्न मानी गई थी।[3] जीवन की आवश्यकताओं से लेकर विलासिता तक के पदार्थ भूमि से प्राप्त हो सकते हैं। अतः इसे 'कामधुक्' देव और मनुष्य का एकमात्र आश्रय तथा भूतों का माता, पिता, पुत्र, द्यौः आदि सब कुछ स्वीकार किया गया था।[४] भूमि पर ही मानव की वृत्ति मुख्यतः उन दिनों आधृत थी। अतः भूमिदान का विशेष महत्त्व था।[५]

उन दिनों कृषि राजधानी से लेकर काफी दूर तक की जाती थी ऐसा विराट

---

१. आरण्यक १९८।२३; शान्ति ९०।७।
२. शान्ति ६८।३५।
३. भीष्म ५।५।
४. भीष्म १०।७०,७१,७४।
५. अनुशा ६२.२९-३०।

की राजधानी को जाते समय द्रौपदी के शब्दों से ज्ञात होता है।[1] यद्यपि कृषि-सदृश परम लोक-कल्याणकारी तत्त्व की क्षति करने वाले व्यक्ति को समाज में हेय समझा जाता था,[2] तथापि राजा का यह कर्तव्य था कि वह अपने राष्ट्र के कृषितन्त्र का पूर्ण ज्ञान रखे और उसके उपयुक्त साधु पुरुषों द्वारा कृषि-कर्म करावे।[3]

राजा द्वारा कृषि-रक्षा

यद्यपि सम्पूर्ण राष्ट्र-रक्षा का उत्तरदायित्व राजा पर था तथापि एक क्षत्रिय, विशेषकर राजा से, कृषि की विशेष रूप से रक्षा की आशा की जाती थी। महाभारतकार के अनुसार क्षत्र समुदाय की उत्पत्ति ही दस्यु आदि क्षतिकारकों से कृषि, गोरक्ष्य, वाणिज्यादि की रक्षा करने के लिये हुई थी।[4]

कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं लोकानामिह जीवनम्।
ऊर्ध्वं चैव त्रयी विद्या सा भूतान्भावयत्युत॥
तस्यां प्रयतमानायां ये स्युस्तत्परिपन्थिनः।
दस्यवस्तद्वधायेह ब्रह्मा क्षत्रमथासृजत्॥—शान्ति ९०।७-८।

दस्युओं के अतिरिक्त आन्तरिक उपद्रवों से भी कृषि की रक्षा और कृषकों की पुष्टि का ध्यान रखना राजा के लिये अनिवार्य था। नारद ने इन्हीं राजकीय उत्तरदायित्वों पर बल देते हुए युधिष्ठिर से पूछा था—

कच्चिन्न लुब्धैश्चौरैर्वा कुमारैः स्त्रीबलेन वा।
त्वया वा पीड्यते राष्ट्रं कच्चित्पुष्टाः कृषीवलाः॥ सभा—५।६६।

कृषकों की सुख, शान्ति एवं सुव्यवस्था के ज्ञान के लिए, भीष्म के अनुसार, राजा को चाहिए कि वह गुप्तचर नियुक्त करे और यह जानने के लिए सतत प्रयत्नशील रहे कि कहीं करों से कृषकों को पीड़ा तो नहीं पहुँचती, अथवा राज्य द्वारा आरोपित करों से पीड़ित होकर किसान कहीं राष्ट्र-त्याग तो नहीं कर रहे हैं, क्योंकि प्राचीनकाल में कृषि के ऊपर ही राजा और अन्य लोगों के जीवन आधृत थे। मनुष्यों के अतिरिक्त देव, पितृगण, सर्प, राक्षस, पशु, पक्षी आदि सब प्राणी कृषि पर निर्भर थे।[5]

सिंचाई व्यवस्था

कृषि-कर्म के लिए सिंचाई की समुचित व्यवस्था अत्यावश्यक है। दैवी वृष्टि पर आश्रित रहकर संतोषजनक मात्रा में अन्न की उत्पत्ति नहीं हो सकती क्योंकि

---

१. विराट ५।५-६। २. उद्योग ३६।३१। ३. सभा ५।६९।
४. शान्ति ६८।३५। ५. शान्ति ९०।२३-२४।

वर्षा भारत में सर्वदा से अनिश्चित रही है। महाभारत में अनावृष्टि से सम्बद्ध अनेक आख्यान-उपाख्यान हैं। अतः प्राचीन काल में भी राजा से सेचन-व्यवस्था की आशा की जाती थी।

राजा लोग सदा राष्ट्रसमृद्धि के लिए राज्य की कृषि को नदी-मातृक बनाने, और देवमातृक न रहने देने की चेष्टा करते थे। नदी-मातृक का अर्थ नदियों से निकाली गई नहर मात्र नहीं, अपितु अनिश्चित वर्षा की क्षति से कृषि को बचाने के लिए किये गये उपाय थे।

तड़ाग

उन दिनों सिंचाई के साधनों में प्रमुखता तड़ागों की थी। सम्भवतः सिंचाई से ही तड़ागों का विशेष सम्बन्ध था क्योंकि नारद ने—

कच्चिद्राष्ट्रे तडागानि पूर्णानि च महान्ति च।
भागशो विनिविष्टानि न कृषिर्देवमातृका॥—सभा ५।६७।

पूछकर राष्ट्र में तड़ागों की प्रमुखता मात्र नहीं अपितु राज्य के विभिन्न भागों में उनकी सिंचाई के लिए उचित व्यवस्था का राजा पर उत्तरदायित्व भी सिद्ध किया था।

कुल्या

सिन्धु-सभ्यता के युग में लोग सिंचाई के लिए नदियों से कुलिया (कुल्या) बनाकर नालियों से जल ले जाते थे और सिन्धुनद के पानी का प्रयोग करते थे।[1] वैदिकयुग में कूप-जल को रहट द्वारा बाहर निकाल कर नालियों में प्रवाहित कर सेचन-कर्म-सम्पादन होता था।[2] अतः कुल्या एक दिशा-विशेष में जलप्रवाह हेतु नदियों या कूपों से निकाले गये सदाप्रवाही अथवा अल्पकाल-प्रवाही नहरें थीं। महाभारत में भी कुल्याओं का उल्लेख है जो सामान्यतः तर्पणार्थ मृतक के इष्ट जनों द्वारा बनवाई जाती थी। किन्तु वहाँ इनके नदियों या कूपों से निकालने का उल्लेख नहीं। सम्भव है पम्परागत अर्थ और सम्बन्ध नदियों और कूपों से ही होने के कारण महाभारत ने इसकी स्वरूप व्याख्या की कोई आवश्यकता न समझी हो। सर्वथा धार्मिक उद्देश्य से बनाये जाने पर भी इनका सम्बन्ध क्षेत्र से था—

"निपानानीव गोभ्याशे क्षेत्रे कुल्येव भारत।"[3]

धृतराष्ट्र[4] और युधिष्ठिर[5] दोनों ने काफी और बड़ी-बड़ी कुल्याओं का निर्माण कराया था।

---

१. भारतीय सांस्कृतिक निधि, पृष्ठ २०७। २. वही, पृष्ठ २०९।
३. शान्ति २५२।१४। ४. आदि १३७।१२-१३।
५. आश्रम ४७।१४-१५, २२-२३।

यज्ञ

पृथ्वी को अकृष्टपच्या करने का एक प्रमुख साधन यज्ञ भी था। यज्ञों के सम्पादन से वातावरण में रसायनिक परिवर्तन करके वृष्टि करा लेते थे। महाभारत के अनुसार—

अग्नौ प्रास्ताहुतिर्ब्रह्मन्नादित्यमुपतिष्ठति।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥
तस्मात् स्वनुष्ठितात् पूर्वे सर्वान् कामांश्च लेभिरे।
अकृष्टपच्या पृथिवी आशीर्भिर्वीरुधोऽभवन्॥—शान्ति २५५।११-१२।

इसी तथ्य का उल्लेख भीष्म पर्व में भी हुआ है।[1] कालिदास ने भी मेघों को धूम, ज्योति एवं सलिल का संनिपात माना था।[2]

यज्ञों के राजनीतिक, सामाजिक आदि महत्त्वों के साथ यह वैज्ञानिक लाभ भी था। अतः यज्ञों के प्रत्येक दशा में कल्याणकारी होने से राजाओं से इनके अनुष्ठान की आशा की जाती थी।[3]

महाभारतीय राजाओं ने यज्ञ-परम्परा को पूर्णरूपेण स्थित रखा था। तत्कालीन राजाओं के यज्ञ-सम्पादन और तत्सम्बन्धी रुचि का अपेक्षित वर्णन चतुर्थ अध्याय में दैवी-विपत्तियों के प्रतिकार के प्रसंग में किया जा चुका है।

ज्ञात होता है कि अग्नि में डाली गयी ओषधादि हवि से निष्पन्न गन्ध तथा धूम कीटाणुनाशक होते थे। सम्भवतः इसी कारण राजाओं के भोगरत होने से और यज्ञादिक कर्मों से आँख मूँद लेने से—यथा तपती संवरण की कथा—अनावृष्टि का उल्लेख और तज्जन्य अकाल, प्रजा-पीड़ा, रोग आदि भयों का वर्णन मिलता है। धर्म-पर राजाओं के राष्ट्र में सुखद वृष्टि[4] का रहस्य भी सम्भवतः यही है।

राजकीय प्रोत्साहन

कृषि-कर्म करने वालों को विपत्ति में राजा की ओर से करमुक्ति आदि के रूप में सहायता मिलती थी। अनुशासन पर्व के एक श्लोक में आपत्तिकाल में कुआँ, तालाब आदि खोदकर किसी प्रकार अन्न का उत्पादन करके जीविका चलाने वाले व्यक्ति के धन का अपहरण न करने का आदेश है। यथा—

वृद्धबालधनं रक्ष्यमन्धस्य कृपणस्य च।
न खातपूर्वं कुर्वीत न रुदन्तीधनं हरेत्॥—अनुशा० ६१।२५।

में 'खातपूर्व का अर्थ' पानी न बरसने पर सिंचाई के साधनों का निर्माण

१. भीष्म २५।१४। २. मेघदूत पूर्वार्द्ध ५।
३. सभा ५।८९। ४. आदि ५८।१४।

कर किसी प्रकार कुछ अन्न पैदा करना और जीविका चलाना है।[१] सामान्यतः तो राजा अपने निर्धारित बलिभाग के अतिरिक्त राज्य के किसी धार्मिक व्यक्ति के धन का अपहरण नहीं करता। यहाँ सम्भवतः 'धन न लेना चाहिए' अंशबलि भाग को भी न लेने की ओर संकेत करता है। आज के युग में भी अकाल, अतिवृष्टि, अनावृष्टि अथवा करकाघात होने पर राज्य की ओर से लगान में आंशिक अथवा पूर्ण मुक्ति प्रजा को दी जाती है।

बीज, भक्त एवं ऋण व्यवस्था

आपत्ति-काल में अथवा आपत्ति में पड़े हुए कृषक बीज, तकावी (भक्त), तथा ऋण की आशा राज्य से करते थे। राजा भी राष्ट्र की वृत्ति का उत्तरदायित्व अपने ऊपर समझ कर कर्तव्य रूप में कृषकों के इन आशाओं की पूर्ति करता था। नारद द्वारा युधिष्ठिर से पूछा गया प्रश्न इन प्रबन्धों का परिचायक है।[२] बीज और भक्त के विषय में स्पष्ट विवरण नहीं प्राप्त होता, किन्तु अन्य ऋण एक प्रतिशत व्याज पर राजा कृपा-पूर्वक कृषकों को देता था। यह उसी श्लोक से ज्ञात होता है। अथवा 'प्रतिकं च शतं वृद्धया' से बीज और भक्त का भी पृथक्-पृथक् अन्वय करके इनके विषय में भी पूर्वसिद्धान्त ही समझा जा सकता है।

कृषि की पड़ताल तथा अनुवाद

विराट पर्व के एक छन्द—

ये त्वानुवादेयुरवृत्तिकर्शिता ब्रूयांश्च तेषां वचनेन मे सदा।
दास्यामि सर्वं तदहं न संशयो न ते भयं विद्यति संनिधौ मम॥

—विराट ६.५।

के 'अनुवादेयुः' शब्द की व्याख्या—"अनुवादेऽयुः पूर्वं देहीत्युक्त्वा दत्तस्यैव क्षेत्रारामादेः प्रतिवर्षं पुनर्देहीति राजवचनं यदधिकारिणं प्रति तदनुवादस्तन्निमित्तं ये त्वां प्रति अयुः प्राप्नुयुस्तेषां वचनेन सदाऽनवसरेऽपि मां ब्रूयाः"[३] भारतभावदीपकार नीलकण्ठ के अनुसार है। इससे ज्ञात होता है कि राजा कृषकों को क्षेत्रों एवं उद्यानों में काम करने के लिए स्थायी तथा अस्थायी 'आज्ञापत्र' दिया करते थे। इस रीति से दो विशेष लाभ होते थे। प्रथम तो राजकीय क्षेत्रों की पड़ताल स्वयं हो जाया करती थी और दूसरे अवृत्ति के कारण दुःखित व्यक्तियों की जीविका निश्चित हो जाया करती थी।

---

१. महाभारत अनुशा ६१।२५, पर गीताप्रेस का अनुवाद, पृष्ठ ५६६२।
२. सभा ५।६८। ३. महाभारत विराट ७।१७, चित्रशाला प्रेस, पुणे।

आदर्श राज्य-क्षेत्र (Govt. Model Farms)

स्पष्ट उल्लेख न होने पर भी अनुमान से ज्ञात होता है कि उस समय कुछ राजकीय क्षेत्र होते थे। ये क्षेत्र दो प्रकार के हो सकते थे—प्रथम तो वे जिन पर राजा का व्यक्तिगत अधिकार होता था और द्वितीय वे जिन पर राज्य का अधिकार होता था। दूसरे की सम्भावना अधिक थी यद्यपि राजा और उसके परिवार सबका योगदान राष्ट्र-वर्धन में प्रशंसनीय था।

विवाह के उपरान्त द्रुपद ने अनेक पदार्थों के साथ 'कृपिनिमित्त' भी अनेक-अनेक द्रव्य पाण्डवों को दिया था।[1] राजकीय क्षेत्रों के अभाव में कृषि-निमित्तक अप्रयोज्य पदार्थों का दान उचित नहीं होता। सम्भव है आज की सरकार[2] की भाँति उन दिनों भी राजकीय आदर्श क्षेत्रों की व्यवस्था रही हो। अन्यत्र राजाओं द्वारा किये जाने वाले दानों में ग्रामदान, गोदान, हिरण्यदान, दासी-दासदान का प्रसंग युक्तियुक्त प्रतीत[3] होता है क्योंकि इन पर राज्य का प्रभुत्व था, और उनसे प्राप्य राज्यांश का दान मिलने पर ग्रहीता उनका ग्रहण करता था। राजकीय घोषों से गौ, राज्यकोश से धन तथा युद्ध में लाये गये दासी-दास भी राजाधिकृत होने से दिये जा सकते थे। अन्यथा कृपकों से कृषि छीन कर राजाद्वारा दान किया जाना अधिक तर्कसंगत और न्यायसंगत नहीं। लोमपाद द्वारा विभाण्डक[4] तथा धृतराष्ट्र द्वारा ब्राह्मणों एवं अन्य वर्णों को दिये गये क्षेत्रादि के दानों से भी यह निश्चित होता है कि कुछ राजकीय क्षेत्र होते थे, जो प्रजा के साथ राजा का भी हितसाधन करते थे। नारद द्वारा किया गया युधिष्ठिर से कृषितन्त्र, गौ, पुष्प-फलादि से ब्राह्मणों को 'मधुसर्पिस्' दान सम्बन्धी प्रश्न[5] भी राजकीय कृषितन्त्र की ओर संकेत करता है। श्लोक में प्रयुक्त 'ते' पद से उपर्युक्त तथ्य की और अधिक पुष्टि होती है।

ये क्षेत्र चाहे राजा के व्यक्तिगत रहे हों और चाहे राज्य के, दोनों का उद्देश्य अभृतभरण था। वस्तुतः उन दिनों राजा ही राज्य था और उसका सम्पूर्ण व्यक्तित्व राज्य का स्वरूप निर्धारित करता था। राजकीय क्षेत्र सर्वथा राज्यकोष की वृद्धि के उपादान-मात्र न होकर लोक में आर्थिक सामंजस्य, अनाथ-पोषण आदि के साधन भी थे।

अनेकन्यायी राजाओं के शासन काल में पृथिवी की सुखसमृद्धि का परिचय मिलता है। मान्धाता ने यज्ञादि शुभकर्मों द्वारा वसुधा को वसुपूर्ण कर दिया

---

१. आदि १८६।५।
२. Social Service in India, p. 147.
३. आरण्यक ११३।११, १२।
४. आश्रम २०।४।
५. सभा ५।१०६।

था।[१] वैन्य के राज्य में दुर्भिक्ष तथा आधिव्याधि नहीं थे।[२] सत्ययुग में धर्म के कारण ही पृथिवी अकृष्टपच्या थी।[३] मरुत्त के शासनकाल में पृथिवी अकृष्टपच्या होकर अपने वसुमती नाम को चरितार्थ कर रही थी।[४] युधिष्ठिर के ही शासन काल में कृषि का सुन्दर प्रवन्ध था और अवर्षा, अतिवर्षा, व्याधि आदि नहीं थे।[५] युधिष्ठिर के समकालीन अन्य राजाओं द्वारा शासित कुरुप्रदेश के समीपवर्ती पांचाल, चेदि, मत्स्य, शूरसेन, पटच्चर, दशार्ण, नवराष्ट्र, मल्ल, शाल्व, युगन्धर आदि जनपदों के रम्य, सुभिक्ष तथा अन्नादि से पूर्ण होने का उल्लेख है।[६] कौटिल्य ने दण्ड, विष्टि, कर आदि वाधाओं से कृषि की रक्षा करना राजा का कर्तव्य माना था।[७] इन सब निर्देशों से राजा की कृषि के प्रति होने वाली सजगता तथा रुचि का ज्ञान होता है।

गोरक्ष्य

गोरक्ष्य अर्थात् पशुपालन भी कृषि तथा वाणिज्य की भाँति राष्ट्र-वृत्ति था[८], क्योंकि यह भी लोकजीवन के आधार स्तम्भों में अन्यतम था।[९] अतः राजा से 'साधुजनों' की ही नियुक्ति इन कर्मों में कराने की आशा की जाती थी।[१०] साधुजनों के नियोजन की अपेक्षा से, राजा द्वारा लोक के इन कर्मों में हस्तक्षेप करने की छूट का आभास होता है।

पोषणात्मकता तथा सर्वलोक-सैव्यता के कारण गौ को 'लोक-माता' कहा गया था[११] और इनका वध पाप माना गया था। आज के औद्योगिक और अणुयुग में चरण रखने पर भी भारत को गोवंश और पशुपालन की आवश्यकता का अनुभव पदे-पदे हो रहा है, फिर पूर्व युग की आर्थिक नीति में गोवंश का क्या महत्त्व रहा होगा, तत्कालीन आर्थिक जीवन में विशेष योगदान देने के कारण "गोधनं राष्ट्रवर्धनम्"[१२] कहा गया था। यज्ञों में उपयोगी होने के कारण चतुर्दशविध ग्राम्य एवं आरण्य पशुओं को यज्ञ की प्रतिष्ठा-आधार-घोषित किया गया था[१३] पशुओं की उपयोगिता और उनके वध की दारुणता के कारण तत्कालीन राजाओं में यज्ञों में भी पशुवध के निषेध की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है।[१४]

---

१. आरण्यक १२६।३४। २. शान्ति ५९।१२४। ३. शान्ति ७०।१२।
४. शान्ति २९।१८। ५. सभा ५।३०, ३०।३। ६. विराट १।९।
७. अर्थशास्त्र २।१।५०। ८. शान्ति ९०।२५।
९. शान्ति ९०।७; आरण्यक १९८।२३; अनुशा ५१।२६,२८।
१०. सभा ५।६९। ११. शान्ति १४२।१६।
१२. विराट ३३।९। १३. भीष्म ५।१५।
१४. शान्ति ३२४।४-५।

गोमय और गोमूत्र में लक्ष्मी को स्थान मिलने[१] और गोशालाओं में लक्ष्मी के रहने का[२] उल्लेख महाभारत में है। धार्मिक दृष्टिकोण से इन प्रतीकों में चाहे सत्य की प्रतीति कम हो, किन्तु आधुनिक वैज्ञानिक युग में भी भारत जैसे कृषि प्रधान देश के लिए इस कथन में किंचित् भी अतिशयोक्ति नहीं। आज के वैज्ञानिकों ने अमोनियम सल्फेट आदि अंग्रेजी पद्धति से तैयार की गयी रसायनिक खादों को दोषपूर्ण तथा गोमूत्रादि तथा कचरे से निर्मित खादों को लाभप्रद सिद्ध किया है।[3] आधुनिक रसायनिक उर्वरक पृथ्वी की उर्वराशक्ति को उत्तेजित करते हैं, और उपयोगी तत्त्वों को पृथ्वी से यथाशीघ्र निकाल देते हैं। ये उर्वरता की वृद्धि नहीं करते, जब कि गोबर से निर्मित खाद दोनों कामों को एक साथ करके आर्थिक जगत् में महान् उपकार करती हैं।[४] अतः "अन्नं हि सततं गावः" (अनुशा ७७।६) यह महाभारतकार की उक्ति सर्वथा सत्य सिद्ध होती है।

राजाओं में गोपालन की प्रवृत्ति

आर्थिक और धार्मिक महत्त्व के कारण राजाओं ने अपने जनपद में गोधन की वृद्धि को प्रारम्भ करा दिया था। महाभारतकालीन बहु-पशु, गो, धान्यादि से समन्वित देशों में पंचनद भी एक था।[५] मत्स्यराट् विराट के अधीन शतसहस्र संख्या में एक-एक वर्ण की गुणशालिनी गायें थीं।[६] सहदेव ने विराट से युधिष्ठिर की गायों का वर्णन किया था कि उनके यहाँ अष्टशतसहस्र संख्या में गायों के सौ-सौ वर्ग थे।[७] इनके अतिरिक्त भी दश-दश; बीस-बीस सहस्र गायें और थीं।[८] राम के राज्य में गायों की संख्या में ही प्रधान वृद्धि नहीं थी अपितु कोई भी गाय एक-एक द्रोण से कम दूध नहीं देती थी।[९] राजा लोग स्वयं गोपालन में रुचि रखते थे और घोष आदि के निरीक्षण के लिए प्रायः सपरिवार ही परिजन और पुरजनों के साथ जाया करते थे। सहदेव की गोकर्म में विशेष रुचि तथा दुर्योधन को घोषयात्रा दोनों इसके प्रमाण हैं।

चारे का प्रबन्ध और गोप

चारे की विशेष समस्या उन दिनों नहीं थी। गायों को नगर और कृषि-योग्य भूमि से दूर वनों में रखा जाता था। वहीं रमणीय प्रदेशों में 'घोष' बनवा कर गोपों के रहने की व्यवस्था की जाती थी।[१०] यह केवल कुरुप्रदेश की ही नहीं अपितु विराट के गोहरण के प्रसंग से तत्कालीन समस्त उन्नत राष्ट्रों की

१. अनुशा ८२।२४। २. अनुशा ११।१५।
३. The Economy of Cow, pp 42-3, 59. ४. वही पृष्ठ ६५-६६।
५. मौसल ८.४३। ६. विराट ९।१४। ७. विराट ९।८-९।
८. वही। ९. शान्ति २९।५२। १०. आरण्यक २२८।४।

प्रवृत्ति को ज्ञात कराती हैं। शुक ने भी मिथिला जाते समय मार्ग में अनेक गोकुलों से युक्त पल्ली तथा घोष देखे थे।[१]

गोरक्षा और रक्षक

सामान्यतः गायों के रक्षक वल्लव, गोप या गोपाल ही होते थे। इनके ऊपर गवाध्यक्ष या गो-संख्याता होता था।[२] सहदेव विराट के राज्य में गोसंख्याता ही होना चाहते थे।[३] गोसंख्या का कार्यभार लेने पर उनके अधिकार में पशु और गोपाल दोनों हो गये थे।[४] कौटिल्य ने भी राजा द्वारा ही गोऽध्यक्ष नियुक्त करने का विधान किया था। जिसके ऊपर गायों की रक्षा तथा आहार व्यवस्था का भार था।[५] गवाध्यक्ष को वाहन आदि रखने की भी सुविधाएँ थीं।[६]

दूसरे राजाओं के आक्रमण करने पर पशुओं का विशेष ध्यान रखा जाता था। वनों में से घोषों को हटाकर राजमार्ग अथवा प्रमुख मार्गों पर बसाने की योजना थी,[७] जिससे उन्हें आवश्यकतानुसार यथासम्भव सुरक्षा, सैन्य या अन्य प्रकार की सुविधाएँ दी जा सकतीं। केवल गायों को ले जाने के लिए आक्रमण करने पर राज्य की सम्पूर्ण सैनिक शक्ति का प्रयोग किया जाता था। कौरवों द्वारा विराट की गायों का अपहरण करने पर की गयी तैयारियों से यह स्पष्ट होता है।

स्मारणा

एक निश्चित समय पर राजा अथवा कोई आप्त राज-पुरुष[८] घोषों में जाकर गोवंश की गणना कराता था और उनकी संख्या का हिसाब रखता था। गोपों में से कोई व्यक्ति भी नगर में आकर गायों के विषय में बतलाया करता था।[९] दुर्योधन ने कर्णादि के साथ घोषों को जाकर सामान्य, प्रसूता और अन्यविध गायों की गणना की थी।[१०]

अंकन

गायों को तथा गोवत्सों को लाक्षादि तथा अंकों[११] से अंकित किया जाता था जिससे राजा की गायों का ज्ञान होता था। तीन वर्ष तक के बच्चों को लक्षित किया जाता था।[१२]

---

१. शान्ति ३१२।२०। २. विराट ३३।७। ३. विराट ३।६।
४. विराट ९।१४। ५. अर्थशास्त्र २।४६। ६. विराट ३३।७।
७. शान्ति ६९।३३। ८. आरण्यक २२८।६। ९. वही २।
१०. आरण्यक २२९।४-५। ११. वही ४। १२. वही ६।

घोषों तथा पल्लियों में राजा और प्रजा सबके पशु रहा करते थे और उनके चारण, रक्षण, स्थानान्तरण आदि से सम्बद्ध समस्त कार्य भी एक साथ ही हुआ करते थे। यद्यपि प्रत्येक गृहस्थाश्रमी के लिए गोसेवा और गोपालन धर्म्य समझा जाता था तथापि एक बड़ी संख्या में उनके दान और प्रतिग्रह के वर्णनों पर दृष्टिपात करने से सामान्यतः ग्रामों या नगरों में उनको रखना सम्भव नहीं प्रतीत होता। दूसरे पशुचारण कर्म करने के कारण वैश्यों को एक निश्चित संख्या में, पारिश्रमिक के रूप में, गायों के मिलने का विधान था। वे राजा की, अपनी तथा अन्यजनों की गायों को अवश्य ही एक साथ पालन करते रहे होंगे। मत्स्य देश की गायों को जब कौरव लेकर चले थे उस समय नगर में विराट-पुत्र भूमिंजय उत्तर शून्यपाल थे। गोप ने "तस्मै तत्सर्वमाचष्ट राष्ट्रस्य पशुकर्षणम्" (विराट ३३।९) न कि सरकार अथवा राज्य या प्रजा की गायों का। पशुओं की स्मारणा का भी उद्देश्य स्पष्ट था। गोपों के ऊपर ही विश्वास न करके गायों की गणना तथा राजांश में पड़ने वाली गायों का विशेष चिह्नों से चिह्नित करना राजा का कर्तव्य था। अन्यथा केवल राजा की ही गायों के घोष-विशेष में रहने से स्मारणा का तो प्रयोजन उचित था, किन्तु अंकन का कोई प्रश्न ही नहीं उठता था। अतः एक साथ रहने वाले पशुओं में राजा की गायों को पृथकता-ज्ञापन हेतु अंकन किया जाता था। आधुनिक युग की सहकारी खेती तथा सहकारी पशु-शालाओं की व्यवस्था देखकर, तत्कालीन लोक के पशुओं के एक साथ रहने के तथ्य पर अविश्वास नहीं किया जा सकता। एक बात तो निश्चित ही है कि सामान्य जनों की गायों का निरीक्षण तथा चारण वैश्यों के—गोपालों के—आश्रित था जिनका निवास धर्मशास्त्र के अनुसार तत्कालीन समाज ने वन ही निश्चित किया था।[1] वहीं गोचारण के वेतन के रूप में वर्ष में एक निश्चित संख्या के पशुओं के पालन करने पर वैश्यों को निश्चित संख्या में पशु मिलते थे।[2]

नस्ल-सुधार और गोचिकित्सा

राजा लोग ऐसे वैश्यों की तत्काल नियुक्ति करने को तैयार रहते थे जो पशुओं की वंशवृद्धि तथा चिकित्सा में दक्ष होते थे। सहदेव की नियुक्ति विराट ने गोसंख्याता के पद पर इसीलिये कर दिया था, क्योंकि उनको गायों के सुन्दर लक्षण तथा उनके लिये हितकर कर्म ज्ञात थे।[3] उन्हें ऐसे भी शुभ लक्षणों वाले वृषभों का ज्ञान था जिनका मूत्र सुँघाकर वन्ध्या गायों का वन्ध्यापन मिटाया जा सकता था।[4] उन्हें गायों की संख्या-वृद्धि तथा रोग-निवृत्ति के उपाय भी ज्ञात थे।[5]

---

१. शान्ति ५७।४५। २. शान्ति ६०।२४-२५। ३. विराट ३।९।
४. वही १०। ५. वही ९।१२।

सहदेव की गोकर्म में रुचि इस तथ्य का प्रमाण है कि राजागण पशुओं के विषय में जानने के लिए जिज्ञासु थे। अतः अशोक की भाँति पशुओं के लिये चिकित्सा केन्द्र न खुलवाने पर भी महाभारत-कालीन राजा लोग गोचिकित्सा पर ध्यान देने लगे थे। राजकुल के क्षत्रिय स्वयं पशुचिकित्सा में कुशल रहते थे। गोहिंसा अथवा किसी भी प्रकार से गोपीड़न करना अधर्म समझा जाता था।[१] अतः उस समय सोमक और विचरनु सदृश राजाओं ने यज्ञों में भी पशु-वध का निषेध किया था।[२] कौटिल्य ने चारों, व्याल आदि के विषों तथा विविध रोगों से 'पशुव्रजों' की रक्षा का भार राजा पर डाला था।[३]

पशुओं के लिये जल-व्यवस्था

धार्मिक भावना से युक्त होकर राजाओं ने पशुओं के लिए जल-व्यवस्था हेतु निपान बनवाना प्रारम्भ कर दिया था। निपानों का विवरण अध्याय पाँच में दिया जा चुका है।

करमुक्ति तथा गोस्वामी-रक्षा

गोपतियों का हानिलाभ राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था पर प्रभाव डालता था। अतः इनके ऊपर राजा को दया, बुद्धि तथा प्रेमपूर्वक कर का आरोपण करने का विधान था।[४] नगर से दूर अरण्य में वास करने वाले पशुओं के पालक वैश्यों की उपेक्षा से उनका नाश निश्चित सा था। अतः राजा का कर्तव्य था कि वह इनका पालन, सान्त्वन, रक्षण आवश्यक दान आदि से करता।[५]

कर लगाते समय भी राजाओं की ओर से गोस्वामियों का ध्यान रखा जाना आवश्यक था। अतः पशुओं की चारण व्यवस्था, भृत्यों के वेतन, अन्य व्यय, पशुभय तथा इनके योग-क्षेम पर पड़ने वाले व्यय को निकाल कर लाभांश पर कर लगाने की परिपाटी चली आ रही थी।[६] किसी भी उद्योग को प्रोत्साहित अथवा निरुत्साहित करने के लिए करमुक्ति और करवृद्धि का सहारा लिया जाता है। अतः तत्कालीन राजाओं ने कम से कम कर लगाने की योजना बनाई थी।

गोधन की वृद्धि हो, यज्ञ सम्पन्न हों और जन-जन में गो-सेवा से सुख स्वास्थ्य की वृद्धि हो, इन उद्देश्यों से राजाओं ने गोदान रूप पुण्य कर्म अनेकशः किये थे। उशीनर, नृग, यौवनाश्व, मुचुकुन्द, भूरिद्युम्न, निषधराज, सोमक, पुरूरवा, चक्रवर्ती भरत, राम, दिलीप आदि राजा गोदान करके स्वर्ग गये थे।[७] मान्धाता के दशपद्म सहस्र गायों के दान देने का उल्लेख है।[८] गोधन, गोरक्ष्य आदि शब्द

---

१. शान्ति १४२।१६; अनुशा २२।३०; २४।७। २. शान्ति २५७।
३. अर्थशास्त्र २।१।५०। ४. शान्ति ८८।२६-२७। ५. वही ३४-३५।
६. वही ३३। ७. अनुशा ७६।२५-२७। ८. आरण्यक १२६।३८।

पशुधन और पशुपालन के उपलक्षण हैं। पशुओं में गोवंश की प्रधानता तथा विशेष उपादेयता के कारण ही सम्भवतः यह नाम प्रचलित हुआ था। द्रौपदी के गोपाल, आविपाल आदि के निरीक्षण के प्रसंग (आरण्यक २२२।५०) तथा धृतराष्ट्र के दान के प्रसंग में केवल गोका ही नही अपितु भेड़, बकरी आदि के भी दिये जाने का वर्णन है (आश्रम २०।४)। अतः पृथक् इनकी व्यवस्था का वर्णन न होने से, सहज अनुमान किया जा सकता है कि इन पशुओं की भी व्यवस्था गोवंश की भाँति की जाती होगी।

वाणिज्य

कृषि तथा पशुपालन की भाँति वाणिज्य भी लोकजीवन का प्रमुख तत्त्व था।[1] महाभारत कालीन राजा वाणिज्य एवं वणिकों का समुचित ध्यान रखते थे तथा उनके व्यापार की रक्षा, वृद्धि और साहाय्य हेतु प्रयत्नशील रहते थे।

नगरों में व्यवस्था

नगरों में वणिकों के आवास की समुचित व्यवस्था की जाती थी। वाराणसी में तुलाधार वैश्य का समृद्ध घर था जिससे सिद्ध होता है कि नगरों में अन्य वर्णों की भाँति इनको भी सम्मानपूर्वक बसाया जाता था। इन्द्रप्रस्थ बसाते समय, युधिष्ठिर ने वणिकों को भी बसाया था।[2] दिवोदास द्वारा बसाई गई वाराणसी वैश्यादि से व्याप्त थी।[3] वणिकों के समुदाय का सामाजिक महत्त्व था। जब कभी विहार आदि के लिये भी राजे-महाराजे जाते थे, उनके साथ वणिग्वर्ग भी रहता था।[4]

विदेशी और सामुद्रिक व्यापार

वणिकों द्वारा समुद्र से धन प्राप्त करने का वर्णन मिलता है।[5] अनेक स्थलों पर समुद्र में नावों के डूबने, टूटने या वात्याचक्र में पड जाने से वणिकों के दुःखी होने के भी उल्लेख हैं।[6] सामुद्रव्यापार में सबसे अधिक राजकीय सहयोग यही था कि वे वणिकों की नावों का प्रयोग निजी कार्यों के लिए नहीं करते थे और व्यापारियों को व्यापार की स्वतन्त्रता दिये थे। समुद्र पार करने के समय राम ने वणिकों की नावों का प्रयोग न करने का ही सुझाव दिया था।[7] राजा यथासम्भव व्यापारियों की तथा उनके माल की रक्षा करता था और कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करता था।

---

१. शान्ति ६८।३५। २. आदि १९९।
३. अनुशा ३०।१७। ४. आरण्यक २२८।२७।
५. शान्ति २८७।२६। ६. शल्य १८ २; सौप्तिक १०.२२-३।
७. आरण्यक २६७।२८।

पर-राज्य में व्यापार का भी कई स्थानों पर अच्छा उल्लेख मिलता है। एक स्थान के व्यापारी दूसरे देश को लाभ के लिए निर्भयता पूर्वक जाया करते थे। ये अपनी रक्षा के लिए समूहों में चलते थे जिन्हें 'सार्थ' कहते थे और नेता को सार्थवाह। सामान ढोने के लिए हाथी, रथ और घोड़े होते थे। वन में नल से परित्यक्ता दमयन्ति को ऐसा ही एक महासार्थ मिला था जो सत्यवादी चेदिराज सुबाहु के जनपद को लाभ के लिए जा रहा था।[१] ये रात्रि में सुविधानुसार मार्ग में डेरा डाल देते थे।[२]

आपण-विपण-व्यवस्था

नगर रचना में राजा का प्रधान हाथ होता था। अतः भीष्म के अनुसार राजा को ऐसे नगर बसाने चाहिए जहाँ पर सुन्दर-सुन्दर चत्वर तथा दूकाने भी हों।[३] दिवोदास की नगरी वाराणसी में अनेक प्रकार के विक्रेय द्रव्यों का संचय था और उसमें सामान से भरी हुई दूकाने थी।[४] संकटकाल में भी राजमार्ग के साथ ही उचित स्थानों पर दोनों ओर विपणि-व्यवस्था की राजा से आशा की जाती थी।[५]

वणिक् रक्षा

कुशल कारीगरों की रक्षा में ही वाणिज्य-रक्षा के भी निहित होने से राजाओं पर इनकी रक्षा का विशेष उत्तरदायित्व था। अतः शूरों, सभ्यों तथा विद्वानों के साथ समान रूप से धनी, गोमान् वणिकों की रक्षा राजा को करनी चाहिए थी।[६] संकटकाल में भी धनिकों तथा बलमुख्यों को बारम्बार सान्त्वना देकर दुर्ग के गुप्ततम भाग में इनको रखकर रक्षा करने का उल्लेख महाभारत में है।[७]

आपत्ति में सहायता

किसी कारणविशेष से आपत्तिग्रस्त वणिकों की सहायता तथा वाणिज्योद्धार के लिए ज्ञातिजन, गुरु, वृद्ध तथा आश्रित शिल्पियों की भाँति इनके ऊपर भी धनधान्य देकर अत्यन्त अनुग्रह करने के लिए नारद ने युधिष्ठिर से कहा था।[८] इससे सिद्ध होता है कि व्यापारियों को राजकीय सहायता विपन्नावस्था में अवश्य मिलती रही होगी।

कर की अल्पता

वणिकों पर बहुत अधिक कर का भार अनुचित समझा जाता था। अतः

---

१. आरण्यक ६१।१२५। २. आरण्यक ६२।२-५; ६१।१२३-२४।
३. शान्ति ८७।८। ४. अनुशा ३०।१७। ५. शान्ति ६९।५१।
६. शान्ति ८८।३७। ७. शान्ति ६९।३४। ८. सभा ५।६१।

राजधर्म के अनुसार राजा को गुप्तचरों द्वारा व्यापारकर्म करने वालों का यह समाचार ज्ञात करना चाहिए कि कहीं वे कर भार से पीड़ित होकर राज्य छोड़ वन का आश्रय तो नहीं ले रहे, अथवा किसी अन्य देश को तो प्रवास नहीं कर रहे थे।[1]

स्वच्छन्दतापूर्वक कर लगाने की सम्मति महाभारतकार ने कहीं नहीं दी थी। व्यापार पर कर का विशेप असर पड़ता है। अतः विक्रय तथा क्रय का पारिश्रमिक, मार्गव्यय, कर्मकारों का वेतन, उनकी बचत, खर्च तथा योगक्षेम इन सबको ध्यान में रख कर लाभांश पर ही राजा को कर लगाना चाहिए।[2] व्यापारियों के साथ उदार व्यवहार करना चाहिए क्योंकि लाभ के बिना कोई भी व्यक्ति किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता।

विदेशी व्यापारियों का भी पूर्ण ध्यान रखा जाता था। लाभ की आकांक्षा से दूर-दूर से आने वाले व्यापारियों का उचित प्रबन्ध करना, रक्षा करना तथा शुल्क एकत्र करने वाले राजपुरुषों से उचित तथा निश्चित कर ही ग्रहण कराना आदि राजा का प्रमुख कर्तव्य था। नारद के प्रश्न—

> कच्चिदभ्यागता दूराद् वणिजो लाभकारणात्।
> यथोक्तमवहार्यन्ते शुल्कं शुल्कोपजीविभिः ॥—सभा ५।१०३।

से यह तथ्य पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है।

एक ओर राजा से स्वपुरुषों को निष्पक्ष तथा न्यायी रखने की आशा की जाती थी, दूसरी ओर उस पर विक्रेताओं के निरीक्षण का भी भार था। उसे देखना पड़ता था कि कहीं राजपुरुषों के साथ व्यापारीगण विक्रेय वस्तुओं को देते समय छल-कपट पूर्ण व्यवहार तो नहीं करते। तुलाधार वैश्य धर्मतः कूटमानों का प्रयोग नहीं करता था।[4] अश्वपति केकयराज को गर्व था कि उसके राज्य में स्तेनों और कदर्यों का अभाव था तथा वैश्य शुद्धता पूर्वक बिना 'मायाचार' के ही कृषि, गोरक्ष्य तथा वाणिज्य में रत थे।[5]

कौटिल्य ने लोक को व्यापारियों के कपटाचरण से बचाने के लिए राजा पर महान् उत्तरदायित्व आक्षेपित किये थे। उनके अनुसार राजा की ओर से पण्याध्यक्ष की नियुक्ति होनी चाहिए जो व्यापारियों की बाटों का निरीक्षण करता, शुल्क-ग्रहण करता और अन्य तत्सम्बद्ध कार्य करता।[6] सम्भवतः महाभारत का 'शुल्कोपजीवी' (सभा ५।१०३) ही नामान्तर मात्र से कौटिल्य के अर्थशास्त्र में 'पण्याध्यक्ष' हो गया।

---

१. शान्ति ९०।२२। २. शान्ति ८८।११। ३. सभा ५।१०४।
४. शान्ति २५५।१२। ५. शान्ति ७८।८, १५। ६. अर्थशास्त्र २।१६।

शिल्प तथा उद्योग

महाभारत-काल में विविध शिल्पों तथा उद्योगों की वृद्धि हुई थी। शिल्पियों को राजकीय नियोजन, संरक्षण तथा समयानुसार सहायता भी प्राप्त होती थी जिससे वे व्यक्तिगत उद्योग चला सकें। समाज में शिल्प, कारु, वार्ता, नाट्यादि समस्त कलात्मक एवं सांस्कृतिक कर्मों का अधिकार शूद्रों का था।[1]

आवास-व्यवस्था

सामाजिक कार्यों तथा नगरादि निर्माण के समय शिल्पियों से भवनों का निर्माणमात्र नहीं कराया जाता था अपितु उनके लिये नगर में आवास-व्यवस्था राजा की ओर से कराई जाती थी। पुरनिर्माण के अवसर पर विद्वान् शिल्पियों तथा वीर स्थपतियों को भी बसाने का विधान था।[2] खाण्डवप्रस्थ में सर्वशिल्पविद् कारीगर भी बसाये गये थे।[3] शान्तिकाल तथा संकटकाल दोनों में शिल्पियों की दुर्ग में उपस्थिति अनिवार्य थी।[4] अतः नारद ने युधिष्ठिर से पूछा था—

> कच्चिद्दुर्गाणि सर्वाणि धनधान्यायुधोदकैः।
> यन्त्रैश्च परिपूर्णानि तथा शिल्पिधनुर्धरैः॥—सभा ५।२५।

युद्ध समाप्ति पर कुलवधुओं के साथ धृतराष्ट्र जब अपने लोगों का तर्पण करने निकले थे, नगर के शिल्पी भी उनके साथ थे।[5] इससे नगरवास के अतिरिक्त उनके प्रति सद्भावना, समान व्यवहार तथा सुखदुःख में परस्पर समान सहयोग का भी ज्ञान होता है।

शिल्पियों की आवश्यकता

तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक परिस्थितियों ने शिल्पियों की आवश्यकता बढ़ा दिया था। जितने भी प्रमुख राजा थे, प्रायः सबने यज्ञ किये। यज्ञ के अवसर पर आवश्यकतानुसार यज्ञायतन तथा आये हुए अतिथियों के लिये आवसथ निर्माण कराना पड़ता था। निर्माण कार्य शिल्पियों से ही सम्भव था। राजसूय यज्ञ के पूर्व सहस्रों की संख्या में शिल्पियों ने ब्राह्मणों तथा अतिथियों के निवासार्थ सर्वर्तुगुण सम्पन्न आवसथों का निर्माण किया था।[6] अश्वमेध में भी स्थपतियों तथा शिल्पियों ने निर्माण कार्य किया था।[7] जनमेजय के नागयज्ञ के लिये यज्ञायतन-निर्माण हेतु स्थपतियों की भी सम्मति ली गई थी।[8]

यज्ञों में दान एवं भोजन के पात्र धातुओं के बनवाये जाते थे। रन्तिदेव के

---

१. अनुशा १४१.५९; श्लोक के आगे दाक्षिणात्यपाठ, पृ० ५९२१ (गी०प्रे०)।
२. शान्ति ८७।१६। ३ आदि १९९।३८। ४. शान्ति ८७।७,१६।
५. स्त्री ९।१८। ६. सभा ३०।४७। ७. आश्वमे ८७।२५।
८. आदि ४७।१४।

यज्ञ में घट, स्थाली, कटाह, पिठर आदि सब पात्र स्वर्णघटित थे।[1] कारंधम-पुत्र की आज्ञा से उनके भी यज्ञ में शिल्पियों ने स्वर्णभाण्ड ही तैयार किये थे।[2] मरुत्त ने स्वर्णराशि प्राप्त कर हजारों शुभ्र स्वर्णपात्र बनवाया था। कुण्ड, पात्री, पिठर तथा आसन बनाने वाले स्वर्णकारों की संख्या अगणित थी।[3]

युद्धों की बहुलता के कारण सैनिकों के त्राणार्थ कवचों के निर्माण की आवश्यकता होती थी। प्रत्येक राजा अपने देश के सैनिकों के लिये कवच, बाण आदि शिल्पियों से बनवाते रहे होंगे। अर्जुन द्वारा कर्ण के ऐसे सुन्दर कवच को बाणों से क्षण में काट डालने का उल्लेख है जिसे बड़े प्रयत्न से बहुत समय में अनेक शिल्पिश्रेष्ठों ने बनाया था—

महाधनं शिल्पिवरैः प्रयत्नतः कृतं यदस्योत्तम वर्मभास्वरम्।
सुदीर्घकालेन तदस्य पाण्डवः क्षणेन बाणैर्बहुधा व्यशातयत्॥—कर्ण ६६।३३।

रणक्षेत्रों में युद्धारम्भ के पूर्व उपयुक्त स्थानों पर शिविर-निर्माण होता था। इनमें शिल्पियों की आवश्यकता होती थी। राजाओं की ओर से शिल्पियों को उनकी देखरेख के लिये वहाँ रखा जाता था। महाभारतयुद्ध के समय कृष्ण ने सैकड़ों दक्ष शिल्पियों को राजाओं के शिविर निर्माण में लगाया था।[4]

युद्धकर्म और यज्ञकर्म के अतिरिक्त अनेक अवसर आते थे जब नगरनिर्माण और उसकी अपेक्षा समाजवाट, रंगमंच, सभा, विहार, वापी, निपान आदि के निमित्त भी शिल्पियों की आवश्यकता अहर्निश रहती थी। इन कर्मों के सम्पादन हेतु सर्वत्र कुशल कारीगरों की अपेक्षा होती थी।

शिल्पियों का राजकीय नियोजन

अतः लोक-कल्याण के लिए निर्माण कर्मों को सम्पन्न करने हेतु अमात्यों की भाँति शिल्पियों को भी राजकीय नियोजन मिलता होगा। आजकल भी सार्वजनिक शालाओं, राजकीय भवनों, नहरों, कुओं, सड़कों, पुलों तथा इसी प्रकार अपेक्षित अन्य कार्यों के लिए सरकार द्वारा सार्वजनिक निर्माण विभाग खोला गया है जिसमें स्थायी और अस्थायी रूप से श्रमिकों को नियुक्त किया जाता है। महाभारत में इस प्रकार के कई उल्लेख भी हैं। कृष्ण ने पाण्डवों के सहायक राजाओं के शिविरों में उन शिल्पियों को लगाया था जिनको वेतन दिया जाता था।[5] दुर्योधन की सभा को बनाने के लिए वे शिल्पी हजारों की संख्या में निर्माण की सामग्री लाकर लगा रहे थे जिनको पहले से ही नियुक्त कर दिया गया था।[6]

---

१. शान्ति २९।११८। २. आश्वमे ८।३२। ३. आश्वमे ४।२४,२६।
४. उद्योग १४९।७८। ५. उद्योग १४९।७८। ६. सभा ५१।१८।

व्यक्तिगत शिल्पियों को राजकीय सहायता

जिन शिल्पियों को राजकीय नियुक्ति नहीं मिलती थी और जो स्वतन्त्र रूप से लघु स्तर पर उद्योगों को स्थापित कर राष्ट्रीय आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे, उन्हें भी राजा की ओर से सहायता मिलती थी।

कच्चे माल की प्राप्ति

राष्ट्रीय उद्योगों को क्षति तथा कारीगरों को बेकारी और कष्ट से बचाने के लिए राजा की ओर से कच्चे माल का प्रबन्ध किया जाता था। शिल्पियों को एक बार में ही राज्य की ओर से इतनी सामग्री प्रदान की जाती थी जो उनके लिए कम से कम एक चतुर्मास तक चल सके। नारद द्वारा युधिष्ठिर से पूछे गये प्रश्न—

द्रव्योपकरण कच्चित्सर्वदा सर्वशिल्पिनाम्।
चातुर्मास्यावरं सम्यङ्नियतं संप्रयच्छसि ॥—सभा ५।१०७।

से केवल चारमास के लिए प्रर्याप्त द्रव्य ही नहीं अपितु उद्योग से सम्बद्ध उपकरणों के भी उचित समय पर नियमित रूप से मिलने का ज्ञान होता है।

कर में छूट

उद्योगों को प्रोत्साहन देने के लिए राजाओं की ओर से अधिक कर न लगाने की योजना थी। भीष्म के मतानुसार उत्पाद्य पदार्थ की उत्पत्ति, खपत तथा उद्योग के स्वरूप को ध्यान में रखकर कर लगाना चाहिए।[1] राजा का कर्तव्य था कि वह उद्योग के कर्म, कर्मकर तथा उसके उचितानुचित फल को भी देखकर कर लगावे।[2] यदि किसी उद्योग की वृद्धि से आय तो हो, किन्तु राष्ट्र को क्षति हो रही हो तो उसे कर्म का अनुचित फल समझकर अधिक कर लगाकर उस व्यवसाय की समाप्ति की जा सकती है और साहसियों तथा कर्मियों को हतोत्साह भी किया जा सकता है। इसी हेतु सम्भवतः उद्योगों के फल का विचार आवश्यक समझा गया था।[3] केवल राजकीय कोष की वृद्धि पर ही ध्यान देने वाला राजा 'अतिरवादिन्' कह कर तिरस्कृत किया जाता था। ऐसी दशा में प्रजा उससे द्वेष करने लगती थी।[4] अतः राजा को चारों ओर देखकर ही अर्थ-व्यवस्था में हाथ डालना उचित था।

वन-सम्पत्ति की सुरक्षा

वनों और वृक्षों का भी आर्थिक महत्त्व था क्योंकि इनसे ब्राह्मणों और आरण्यकों को क्षुधापूर्ति के लिए फल-फूल और कन्दमूल प्राप्त होते थे।[5] हाथियों

१. शान्ति ८८।१२। २. वही १३। ३. वही १४।
४. शान्ति ८८।१५-१९। ५. शान्ति ९०।१।

के पालने के लिए 'नागवन' होते थे जहाँ निरीक्षण के लिए विश्वासपात्र अमात्य नियुक्त किये जाते थे।[१] वन को किसी प्रकार की क्षति पहुँचाना अधर्म माना जाता था। इस दुष्कर्म को करने वाले व्यक्ति को तीन रात तक अन्नपान छोड़ कर वायुभक्ष रहना चाहिए था।[२]

वृक्षों में भी प्राणप्रतिष्ठा की गयी थी।[३] अतः वनदाह करने वाले के लिए प्रायश्चित्त अनिवार्य था।[४] शुक्र ने स्पष्ट रूप से 'ग्रामे ग्राम्यान् वने वन्यान् वृक्षान् संरोपयेन्नृपः'[५] कह कर राजाओं पर वृक्षारोपण का भार डाला था। किन्तु महाभारतकार ने फलों, पुष्पों तथा छाया से देव, पितर, किन्नर, सर्प, राक्षस, गन्धर्व, मानव और ऋषिगण सबकी तृप्ति करने के कारण, इनको आरोपित करना धर्म कहा था[६] और इनके आरोपण से उभयलोक की सिद्धि प्राप्ति भी निश्चित की थी।[७] राजाओं ने वृक्षारोपण उद्यान, आराम आदि के रूप में प्रारम्भ किया था और प्रोत्साहन भी लोक को दिया था। इनके लिए पंचम अध्याय द्रष्टव्य है।

अन्य प्रकार की आर्थिक समस्याओं का समाधान

आर्थिक कल्याण से साक्षात् सम्बद्ध कृषि, पशुपाल्य, वाणिज्य और शिल्प के अतिरिक्त कुछ ऐसी भी आर्थिक समस्याएँ उप-उत्पत्ति (by-product) के रूप में आज दृष्टिगोचर होती हैं, जिनका समाज पर प्रभाव पड़ता है और उनका समाधान आवश्यक हो जाता है।

जनसंख्या की समस्या

आज विश्व के समक्ष जन-संख्या की विकट समस्या प्रस्तुत हो रही है। उन दिनों भी जन-संख्या की समस्या थी, किन्तु वह आज से सर्वथा विपरीत थी। आज जन-संख्यावृद्धि की समस्या है और सम्भवतः उन दिनों जनसंख्या-वर्धन करने की समस्या थी। अतः धर्मशास्त्रों में, वे चाहे इतिहास हों या पुराण अथवा स्मृतिग्रन्थ, सर्वत्र स्त्री के ऋतु की अव्यर्थता पर ही जोर दिया गया था। पितृ-ऋण की कल्पना, पुरुषार्थ में काम की योजना और नियोग-प्रथा की मान्यता तत्कालीन जनसंख्या वृद्धि के उपाय थे।

निर्बन्ध भोग-प्रवृत्ति से रोग और सहसा जन-संख्यावृद्धि की आशंका से संयम, ब्रह्मचर्य आदि सात्त्विक गुणों को प्रधानता दी गयी थी। आश्रम-व्यवस्था द्वारा जीवन के केवल चतुर्थांश भाग-गृहस्थाश्रम-में ही यौनसम्बन्ध की अनुमति थी।

---

१. शान्ति ६९।२८। २. शान्ति ३६।३०। ३. शान्ति १७७।१७।
४. शान्ति ३५।७। ५. शुक्र ४।४।५९। ६. अनुशा ५९।२८-३१।
७. वही ५८।२५,२७,३१।

अतः तत्कालीन मनीषियों ने जनसंख्या का उचित वर्धन तथा अतिवृद्धि का नियन्त्रण दोनों आवश्यकताओं की पूर्ति बुद्धिमानी और दूरदर्शिता के साथ, जीवन को एक नियमित स्वरूप देकर, करने का प्रयास किया था। जनसंख्या के घनत्व के एक ही स्थान पर न बढ़ने देने और उससे उत्पन्न होने वाली समस्याओं को दूर करने में तीर्थों ने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योग दिया था। विभिन्न क्षेत्र के निवासियों को भोजन मिल सके इसलिये भी दान देने और भोजन देने का विशेष महत्त्व तीर्थों में था।

राजाओं ने स्वयं इन नियमों का पालन किया था। विचित्रवीर्य और चित्रांगद की पत्नियों,[१] कुन्ती[२] और माद्री का वियोग, क्षत्राणियों की लोकहितार्थ प्रजोत्पत्ति,[३] ययाति का गालव को अपनी पुत्री माधवी का दान,[४] भीम और अर्जुन का विभिन्न कुल, जाति और देश की कन्याओं से परिणय आदि राजाओं के जनसंख्यावृद्धि के प्रयास हैं। साथ ही वनगमनोत्सुक धृतराष्ट्र को देख विमनायित युधिष्ठिर से ऋषि के शब्द—

राजर्षीणां पुराणानामनुयातु गतिं नृपः।
राजर्षीणां हि सर्वेषामन्ते वनमुपाश्रयः॥
एष एव परो धर्मो राजर्षीणां युधिष्ठिर।
समरे वा भवेन्मृत्युर्वने वा विधिपूर्वकम्॥—आश्रम ८।५,१२।

से आश्रम व्यवस्था का पालन तत्कालीन राजाओं का नियम वन गया था। विशेष कर धृतराष्ट्र के शब्दों—

उचितं नः कुले तात सर्वेषां भरतर्षभ।
पुत्रेष्वैश्वर्यमाधाय वयसोऽन्ते वनं नृप॥—आश्रम ५।२१।

से ज्ञात होता है आश्रमानुसार जीवन व्यतीत करना कौरववंश की परम्परा थी। अतः ये स्वयं लोक के समक्ष आत्म-चरित के आदर्श चातुर्वर्ण्य के रक्षण से उपर्युक्त उदेश्यों की पूर्ति कराते थे। इसी प्रकार, अर्जुन[५] कृष्ण को दो वार—आदिपर्वगत[६] तथा मौसलपर्वगत[७]—द्रौपदी, भीमादि के साथ युधिष्ठिर[८] और आश्रमवास में धृतराष्ट्र[९] की तीर्थयात्राओं से भी उपरिकथित समस्या के समाधान में सहयोग मिला होगा।

---

१. आदि १००।३०।
२. आदि ११४;११५।१६,१७।
३. आदि ५८।५,८।
४. उद्योग ११३।१२।
५. आदि २०९।२३;२१०।२।
६. आदि २१०।४,८।
७. मौसल ३।२२।
८. आरण्यक ९१।१-६,२५।
९. आश्रम २५।

भिक्षु-समस्या

आज के युग में सभी उन्नत और अवनत देशों में भिक्षु-समस्या असाध्य रोग और जघन्यतम पाप समझी जा रही है। महाभारतकाल में भी भिक्षा मांगना अत्यन्त गर्हित समझा जाता था।[1] प्रत्येक राजा अपने राष्ट्र में इनके न होने की ही कामना करता था।[2] ब्राह्मण धर्मभिक्षु थे, अर्थात् इनका जीवन-दर्शन विशेष प्रकार का होने के कारण लोक-हित-सम्पादन ही करने के लिये भिक्षा इनके लिये गर्हित नहीं थी।[3] किन्तु आपत्ति में अन्य कोई भी व्यक्ति मांग सकता था, अनापत्ति में नहीं।[4] अतः अनापत्ति में भिक्षा दोष थी।

अनुत्पादक कर्म से लोक-विनाश की आशंका होती है क्योंकि अकर्मण्यता की वृद्धि होती है।[5] अतः भिक्षा मांगने वाले, पानागार, वेश्यायें, विट्, कुशीलव, धूर्त तथा इनके समकोटिक लोगों को राष्ट्रोपघातक कहकर इनका नियमन करना राजा का कर्तव्य निरूपित किया गया था। राजा ही इनके नियन्त्रण में समर्थ था। अतः ऐसा न करने पर वह पाप का भागी माना गया था।[6] भीष्म ने तो यहाँ तक आदेश दिया था कि आपत्तिकाल में—

> भिक्षुकांश्चक्रिकांश्चैव क्ष्वीबोन्मत्तान्कुशीलवान्।
> बाह्यान् कुर्यान्नरश्रेष्ठ दोषाय स्युर्हितेऽन्यथा ॥—शान्ति ६९।४९।

अतः उस समय भी भिक्षुओं की समस्या राष्ट्रों में थी और राजागण उसको दूर करने में लगे भी थे। जिन उपायों का ग्रहण उन लोगों ने किया था, इस समस्या के समाधान हेतु उसका वर्णन अगले अध्याय में किया जायेगा।

संकटकालीन आय-व्यवस्था

संकटकाल में धन की सहसा आवश्यकता होने के कारण अर्थसंग्रह-हेतु राजा को विशेष रूप से सचेष्ट रहना पड़ता था। सामान्यतः कर और बलि ऐसे दो साधन थे जिनसे राजा साक्षात् रूप से प्रजा से धन ग्रहण कर सकता था। कर और बलि का प्रयोजन सर्वथा लोकहित हुआ करता था। अतः राजाओं को केवल उतनी ही मात्रा में इन्हें उपार्जित करने का नियमनिर्देश था, जितनी की आवश्यकता राष्ट्रीय कर्म के लिये थी। शत्रु द्वारा आक्रमण होने अथवा स्वयं आक्रमण की तैयारी करते समय अपेक्षित धन की पूर्ति के लिये राजा को लोक में डिंडिम (डुग्गी) पिटवा कर और लोक को परिस्थिति से अवगत कराकर ही यथेष्ट धन का उपार्जन करना विहित था—

---

१. शान्ति ८९।१५। २. वही ८९।२०। ३. शान्ति १५९।२।
४. शान्ति ८९।१९। ५. वही १६। ६. ८९।१३-१४,१७,२२।

अस्यामापदि घोरायां संप्राप्ते दारुणे भये।
परित्राणाय भवतां प्रार्थयिष्ये धनानि वः॥
नन्दामि वः प्रभावेन पुत्राणामिव चोदये।
यथाशक्त्यनुगृह्णामि राष्ट्रस्यापीडया च वः॥—शान्ति ८८।२७,३०।

साधारण परिस्थिति में भ्रमरन्याय[1] अथवा गोदोहन्याय (शान्ति ८८।१८) से कर ग्रहण करना राजा और प्रजा दोनों के लिये हितकर माना जाता था। धन एकत्र करके प्रजा का पालन न करना गर्हा का विषय था (शान्ति ८८।१७)।

तत्कालीन सामान्य अर्थनीति में राजा का योगदान

महाभारत में किसी भी वर्ण या व्यक्ति के पास धनसंचय प्रशस्त नहीं समझा जाता था। अर्थ का प्रयोजन आवश्यकता की पूर्तिमात्र था। जिसके पास जो कुछ भी हो उससे समाज को लाभान्वित करना ही तत्कालीन आदर्श था। अतः सर्वप्रथम धन के आगमसूत्र के ही शुद्ध होने पर बल दिया गया था। धर्मप्रधान धन इष्ट था अन्य नहीं।[2]

धर्मतः भी धन का संचय हो जाने पर उसका विसर्जन उचित माना गया था। अपने पास एकत्र धनराशि का वितरण उन्हीं लोगों में करने का विधान था जो उसके पात्र थे। अन्यथा जिसे धन की आवश्यकता नहीं थी उन्हें धन देने से पाप माना गया था।[3] किसी व्यक्ति के पास धन पहुँचाने के दो साधन थे—यज्ञ और दान।

उस समय किसी भी वर्ण के पास धन का संचय अभीष्ट नहीं था। अतः राजा सर्वप्रथम आत्मभोग का त्याग कर लोक-हेतु ही धन-संचय का आदर्श उपस्थित करता था। उसका धन लोक के लिए वितरित किया जाता था। ययाति के गालव से कहे गये शब्द—

पौरजानपदार्थं तु ममार्थो नात्मभोगतः॥
कामतो हि धनं राजा पारक्यं यः प्रयच्छति।
न स धर्मेण धर्मात्मन्युज्यते यशसा न च॥—उद्योग ११६।१३,१४।

उपर्युक्त आदर्श की सिद्धि करते हैं। सामान्यतः राजा को कर भी उसी समय एकत्र करने का विधान था जब राष्ट्रहित के लिए उसकी विशेष आवश्यकता होती।[4] बलि अथवा कर का एकमात्र प्रयोजन राष्ट्र का योगक्षेम-विधान था।[5] अगस्त्य श्रुत्वों, वध्यश्व तथा त्रसदस्यु के पास वित्त की कामना से गये थे किन्तु उनका आय-व्यय पूर्ण था। उसमें से किंचित् भी धन देने से प्रजा-पीड़ा की

१. शान्ति ८९।४-५; उद्योग ३४।१७-१९। २. शान्ति २१।१२।
३. शान्ति २०।८,९। ४. शान्ति ६९।२४। ५. शान्ति ७२।११।

आशंका थी। अतः न वे धन दे ही सके और न अगस्त्य ने लिया ही था।[1] उन्हें धन केवल दानवराज इल्वल से मिला था। इससे राजाओं का आर्थिक-आदर्श ज्ञात होता है। अपने पास प्रजा से सम्भावित व्यय की अपेक्षा कर द्वारा अधिक धन एकत्र करना दानवता है, इल्वल के पास धन मिलने से यह निष्कर्ष निकलता है।

राजा धन के समान-वितरण की कामना करता हुआ यही चेष्टा करता था कि सबकी आवश्यकताओं की पूर्ति सम्भव हो और न कोई धनी रहे, न कोई निर्धन। वह दान के सात्त्विक नियमों का ध्यान रखते हुए उचित देश और काल में उचित व्यक्ति को दान करता था।

राजा विशेषकर यज्ञों के माध्यम से लोक में धन का समान-वितरण करता था। लोक के लिए भी धन संचित हो जाने पर यज्ञ करना अनिवार्य था। सामान्यतः ब्राह्मण के लिए धनसंग्रह उचित नहीं था,[2] तथापि, कभी धर्म्य धन एकत्र होने पर भी यह आशा की जाती थी कि वह उसे निधि के रूप में न छिपा कर अपने पुत्रों के जीवनार्थ थोड़ा सा छोड़कर शेष दान कर दे—

तं चेद्वित्तमुपागच्छेद् वर्तमानं स्वकर्मणि।
अकुर्वाण विकर्माणि शान्तं प्रज्ञानतर्पितम्॥
कुर्वीतापत्यसंतानमथो दद्यात् यजेत च।
संविभज्य हि भोक्तव्यं धनं सद्भिरितीष्यते॥—शान्ति ६०।१०-११।

इसी प्रकार वैश्य को भी धन रखने का अधिकार नहीं था। वृत्ति के निमित्त कुछ भाग तत्तत्कर्मों से ग्रहण करना उसके लिए विहित था।[3] शूद्रों का धन संचय पाप था। उसके पास धन एकत्र होने पर राजा की आज्ञा लेकर उसे शास्त्रसंमत धार्मिक कृत्य करके उसे वितरित कर देना था।[4] राजा के पास भृत्यों को देने के लिए कम से कम तीन वर्षों का वेतन एकत्र हो जाने पर यज्ञ करना विहित था।[5] धन यज्ञ के ही लिए था, अतः उसका सबका व्यय यज्ञ में करना चाहिए था।[6] किन्तु सभी वर्णों के अधर्मी हो जाने पर अर्थात् स्वधर्मानुसार त्याग का आचरण न करने पर राजा का कर्तव्य हो जाता था कि न तो उन्हें सर्वथा स्वार्थ-रत होने दे और न प्रजा को धनसंचय का दुष्परिणाम भोगने दे। सार्वजनिक कार्यों का अनुष्ठान न करने पर राजा को स्वतन्त्रता थी कि वह उनके धन का अपहरण करके उसका उपयोग यज्ञ में करता। यथा—

१. आरण्यक ९६।१२-१६।
२. अनुशा ६१।१८-२०।
३. शान्ति ६०।२४-२५।
४. शान्ति ६०।२९-३०।
५. सभा ३०।१८-१९।
६. शान्ति २०।१०।

यो वैश्यः स्याद् बहुपशुर्हीनक्रतुरसोमपः ।
कुटुम्बात्तस्य तद्द्रव्यं यज्ञार्थं पार्थिवो हरेत् ॥
आहरेद्वेश्मतः किंचित्कामं शूद्रस्य द्रव्यतः ।
न हि वेश्म न शूद्रस्य कश्चिदस्ति परिग्रहः ॥
योऽनाहिताग्निः शतगुरयज्वा च सहस्रगुः ।
तयोरपि कुटुम्बाभ्यामाहरेदविचारयन् ॥
अदातृभ्यो हरेन्नित्यं व्याख्याप्य नृपतिः प्रभो ।
तथा ह्याचरतो धर्मो नृपतेः स्यादथाखिलः ॥—शान्ति १५९।७-१० ।

कहीं से जीत में प्राप्त धन का राजा अकेले ही भोग नहीं कर सकता था। उसे भृत्यों और सहायकों को भी देना उचित था।[१] युधिष्ठिर को नारद ने भी यही उपदेश दिया था।[२] कभी भी प्रजा को पीड़ित कर, प्राप्त अधर्म्यधन से राजा को यज्ञ करना विहित नहीं था।[३] दूसरे देशों से लूट कर लाये गये धन का वितरण पाण्डु ने अपने इष्टजन एवं परिजनों में किया था और धृतराष्ट्र ने पाण्डु के विजित धन से सहस्रों अश्वमेध किये थे।[४] धर्म्यधन से कोश की वृद्धि हो जाने पर ही युधिष्ठिर ने राजसूय करने का विचार किया था।[५]

यज्ञों में केवल ब्राह्मणों अथवा द्विजातियों की ही तृप्ति नहीं होती थी अपितु आवश्यकतानुसार शूद्रादि भी धन ले जाते थे। युधिष्ठिर के अश्वमेध में ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों एवं शूद्रों के संघों तथा म्लेच्छों द्वारा भी यथेष्ट धन ले जाने का उल्लेख है।[६]

इसी प्रकार मरुत्त के अश्वमेध में त्रैवाणिक,[७] युधिष्ठिर के राजसूय[८] और दुर्योधन के विष्णुयज्ञ[९] में भी सार्ववार्णिक तृप्ति ही दृष्टिगोचर होती है। दक्षिणा के विना कोई यज्ञ अभीष्ट नहीं था।[१०] उसका कारण था कि उसके अभाव में आगन्तुक दानपात्रों की तात्कालिक तृप्ति तो हो जाती थी, किन्तु भविष्यत्कालीन आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो सकती थी। दी गयी दक्षिणाओं में ग्राम, अग्रहार से लेकर हस्ति, अश्व, रथ आदि वाहन, गौ, अजा आदि पशु स्वर्णपात्र आदि धन तथा दासी-दास तक होते थे।[११] जिसे जिसकी आवश्यकता होती वह उसे ले सकता था, और उसी को वस्तुतः आवश्यकतानुसार चीजें दी जाती थीं।

इस प्रकार महाभारत में चित्रित समाज वर्णहीन न होते हुए भी वर्ग-विहीन मानवता-पूर्ण संघटना की ओर प्रवृत्त हो रहा था जिसमें ब्राह्मण सदृश

१ उद्योग ३८।२४। २. सभा ५ ४९। ३. अनुशा ६१।२१-२२।
४. आदि १०६।५। ५. सभा ३०।७८। ६. आश्वमे ९१।२५।
७. आश्वमे १०।३६। ८. सभा ३२।१८। ९. आरण्यक २४१-२४३।
१०. शान्ति १५९।२२-३२। ११. आश्रम २०।३-१५।

आध्यात्मिक और शूद्र सदृश शारीरिक तथा कलात्मक सेवाएँ करने वाले भी धन लिप्सा को, अपने मार्ग में अवरोधक होने के कारण, छोड़ सम्मान के पात्र बनते थे। उच्चता का कारण, राजाओं ने भी कुल, धन और जन्म को छोड़ कर, वृत्त-सदाचारण-को ही स्वीकार करना प्रारम्भ कर दिया था।[1] राजाओं ने अपने संचित कोश का यथायोग्य वितरण, आवश्यकता में ही प्रजा से धन-संकलन, कृषि, गोरक्ष्य, वाणिज्य तथा शिल्प में प्रोत्साहन, उपघातक तत्त्वों के निरोध और नियन्त्रण, तथा किसी भी वर्ण के पास आवश्यकता से अधिक धन का संचय निषिद्ध कर लोक में आर्थिक महाक्रान्ति करने की ठान ली थी। राजाओं के आर्थिक समता-स्थापना के आदर्श तथा कर्म दोनों महान् और प्रशस्य थे। आर्थिक विषमता को दूर कर वह लोक का कल्याण करता था।

———

१. उद्योग ८८।५२।

सप्तम अध्याय

जन-नियोजन तथा लोकपोषण-हेतु राजकीय योजनाएँ

[राजा पर लोकवृत्ति का उत्तरदायित्व, जीविका के साधन, यथायोग्य नियोजन, यथायोग्य नियोजन का आधार, बेकारी की समाप्ति, श्रमविभाजन,

अ—लोकपोषण-हेतु राजा का क्रियात्मक योगदान—स्त्रियों की रक्षा तथा भरणपोषण, हतवीरा, विधवा आदि का पोषण, व्यावसायिक स्त्रियों की जीविका का प्रबन्ध, दासियाँ, वेश्याएँ, वृद्धपालन, अनाथ, कृपण, आतुर, बाल, जड़, अन्ध, मूक, पंगु, व्यंग का पालन, इनकी सहायता का स्वरूप, इनसे रचनात्मक कार्य की योजना, नपुंसक, वानप्रस्थ और प्रव्रजितपालन, ब्राह्मण-पालन, भिक्षुकों को वृत्तिदान, नटनर्तक आदि की वृत्ति और नियोजन,

आ—जनजातियों का आर्यीकरण और वृत्ति-विधान,

इ—परिगणित जातियों का उद्धार,

ई—नियोजन सम्बन्धी कतिपय राजकीय मान्यताएँ—यथायोग्य वेतन, यथाकाल वेतन, पारितोषिक तथा विशेष सम्मान।]

लोक में आर्थिक-वैषम्य मिटाने के लिए जितना अधिक राजकीय सहयोग अपेक्षित था, उतना ही प्रत्येक व्यक्ति के यथायोग्य नियोजन हेतु भी। अतः तत्कालीन राजा से यह आशा की जाती थी कि वह अभृतों—वृत्तिहीनों—का पोषक होने के साथ ही वृत्ति-वानों का निरीक्षक भी होगा।[1] डा० वन्द्योपाध्याय के अनुसार भी प्राचीन भारतीय राजाओं से समस्त साधनहीनों, वृत्तिहीनों, दुर्बलों, अनाथों और विधवादि का पालन-पोषण अपेक्षित था।[2]

आर्थिक व्यवस्था उचित न होने पर लोक में अपकर्म फैलने से और आर्थिक अव्यवस्था का राजा ही कारण माने जाने से दुष्कर्मजन्य पापों का उत्तरदायी भी राजा ही था। महाभारतकार के अनुसार—

यस्य स्म विषये राज्ञः स्तेनो भवति वै द्विजः।
राज्ञ एवापराधं तं मन्यन्ते तद्विदो जनाः॥—शान्ति ७७।१२।

---

१. शान्ति ५७।१९। २. Hindu Polity and Political Theories.

अतः राजा का कर्तव्य था कि—

अवृत्त्या यो सवेत्स्तेनो वेदविस्स्नातकस्तथा।
राजन् स राज्ञा मतव्यः इति धर्मविदो विदुः॥
स चेन्नो परिवर्तेत कृतवृत्तिः परंतप।
ततो निर्वासनीयः स्यात् तस्माद्देशात् सबान्धवः॥—शान्ति ७७।१३-१४।

अतः लोकवृत्ति का सम्यक् विधान करना राजा का परम कर्तव्य था। कुछ राजाओं के विषय में किंवदन्तियाँ प्रसिद्ध हैं कि उनके राज्य में लोग घर में ताले नहीं लगाते थे। अश्वपति केकयराज[१] के शासन काल में चोर, कदर्य आदि का सर्वथा अभाव उपनिषदों[२] में भी चित्रित है। इस तथ्य से तत्कालीन सुचारु दण्डव्यवस्था के साथ ही आर्थिक समृद्धि का विशेष परिचय मिलता है।

सामान्यतः भी लोक को यथासम्भव वृत्तिप्रदान करना राजा का प्रमुख धर्म था, और महाभारतकार के अनुसार परवृत्तिविधान से श्रेष्ठ और पुण्यकर्म लोक में थे ही नहीं।[३] अतः किसी की जीविका पर आघात करने वाला पापी और निरयगामी समझा जाता था।[४]

जीविका के साधन

विद्या अर्थात् अध्यापन, वार्ता (कृषि, गोरक्ष्य और वाणिज्य), सेवा-कर्म, उद्योग-धन्धे, नाट्य, रूपोपजीवन आदि जीविका के साधन स्वीकृत हुए थे।[५] इनमें से किसी का भी आश्रय लेकर मनुष्य जीविकार्जन करने को स्वतन्त्र था।[६] वार्ता से जीवन व्यतीत करने वालों के लिये अच्छा यह था कि वह जलयुक्त स्थान पर कृषि करे, और यथाकाल मूल्य, प्रयोजन, प्रयास आदि व्यय तथा आय के साधनों का विवेचन करके वाणिज्य और पशुपालन में हाथ लगाये। कोई भी सेवाकर्म का इच्छुक सेवा तथा नाट्यादि कर्मों के अनुष्ठान से जीविका-लाभ कर सकता था, तथापि ये प्रायः शूद्र के लिये ही विहित थे।[७]

यथायोग्य नियोजन

लोक में साधारणतः अपनी रुचि तथा योग्यता के अनुसार कर्मों का ग्रहण भी सुविधा पूर्वक नहीं किया जा सकता। इसी स्थान पर राजा की आवश्यकता

---

१. शान्ति ७८।८। २. छान्दोग्य ५।११।५।
३. उद्योग १३०।२६; शान्ति ७६।३२। ४. अनुशा २३।६५।
५. अनुशा० गीता प्रेस से मुद्रित महाभा० षष्ठ खण्ड, पृ० ५९५५।
६. वही, पृ० ५९५६।
७. अनुशा० गीताप्रेस से मुद्रित महाभा० षष्ठ खण्ड—पृ० ५९५६।

होती थी। अतः उससे एक ओर अभृतों की भृति की आशा की जाती थी और दूसरी ओर जो जिसके योग्य हो उसे तदनुकूल ही कार्य देने की भी।

आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने भी समस्त सशक्त और कार्यक्षम व्यक्तियों को योग्यतानुसार कार्य मिलने पर अत्यन्त बल दिया है।[1] जो व्यक्ति जिस कार्य के सम्पादन में जितना समर्थ है उसका उपयोग उस कार्यविशेष के लिये सर्वदा न करना (Un-employment) अथवा उसे ऐसा कार्य न देना जिसमें वह अपनी समस्त कला-चातुरी को लगा सके (Underemployment) ये दोनों ही चीजें व्यष्टि और समष्टि के लिये अहितकर तथा घातक हैं। एकतः व्यक्ति में समाहित प्रतिभा और क्षमता का पूर्ण सदुपयोग न होने से ह्रास होता है और उसका विकास नहीं होता, दूसरे राष्ट्रीय उत्पत्ति तथा आय को भी क्षति पहुँचती है।

इस तथ्य की गम्भीरता को महाभारतीय मनीषियों ने समझा था। अतः योग्यतानुसार ही काम देने के लिये अनेकशः उल्लेख किये गये थे। सर्वप्रथम नारद ने युधिष्ठिर से उत्तम, मध्यम तथा अधम प्रकृति के या क्षमता के मनुष्यों के यथायोग्य नियोजन से सम्बद्ध प्रश्न किया था[2] और कुछ अन्य प्रश्नों के पूर्व ही उन्होंने—

कच्चिन्मुख्या महत्स्वेव मध्यमेषु च मध्यमाः।
जघन्यांश्च जघन्येषु भृत्याः कर्मणियोजिताः ॥—सभा ५.३२।

प्रश्न पूछा था। एक ही व्यक्ति के द्वारा एक ही स्थान पर किसी विषय के एकाधिक वार पूछे जाने से उस विषय का महत्त्व द्योतित होता है। विदुर ने भी धृतराष्ट्र को उपदेश दिया था कि उत्तम, मध्यम और अधम पुरुषों का नियोजन उत्तम, मध्यम और अधम कर्मों में क्रमशः करना राजा को उचित था। राजा का कर्तव्य था कि वह उनका नियोजन उनकी योग्यता के अनुसार ही करता।[3] लगभग इसी प्रकार का कर्म के स्वरूप को देखकर काम देने का उपदेश धृतराष्ट्र ने भी युधिष्ठिर को आश्रम-प्रस्थान करते समय दिया था।[4] धृतराष्ट्र ने कर्म के स्वरूप को ध्यान में रखकर ही नियोजित करने का आदेश दिया था, जो अत्यन्त उचित तथा वैज्ञानिक भी है वस्तुतः नियोजन के समय कर्म का ही स्वरूप सामने होता है, श्रमिकों का नहीं। कर्म की कठिनता और सरलता का ज्ञान करने के पश्चात् ही सशक्त या अशक्त श्रमिक के नियोजन की अपेक्षा होती है। ऐसा कभी नहीं होता की व्यक्ति सशक्त है अतः कर्म भी कठिन होना चाहिए। तीर्थयात्रा के अवसर पर प्रसंगतः राजनीति का वर्णन करते समय हनुमान् ने भीम को

१. R. B. Gregg : A Philosophy of Indian Economic Development, pp. 17-29. २. सभा ५।६४।
३. उद्योग ३३।५६। ४. आश्रम १०।११।

यथायोग्य नियोजन की व्यवस्था सी वताई थी। उनके मतानुसार धर्मकार्य में धार्मिक जनों को, अर्थकार्य में पण्डितों को, स्त्रियों में पण्डों को तथा क्रूर कर्मों में क्रूरों को लगाना उचित था।[1] भीष्म ने भी आसक्ति तथा अव्यवस्था के भय से लुब्धों तथा मूर्खों को काम तथा अर्थ के कार्यों में कभी भी न नियुक्त कर सदसद्विवेचन में सक्षम पण्डितों के ही समस्त कर्मों में नियोजन का उपदेश दिया था।[2]

अतः योग्यतानुसार नियोजन तत्कालीन अर्थवेत्ता राजाओं का प्रमुख विवेच्य विषय था और संभवतः उसके प्रवर्तन और निवर्तन से सम्भाव्य लाभों और हानियों का प्रत्यक्ष दर्शन भी उन्होंने कर लिया था। नारद, विदुर, हनुमान् और भीष्म जिन्होंने प्रधानतः अथवा प्रसंगतः भी राजनीतिक विषयों का उपदेश दिया, यथायोग्य नियोजन का उल्लेख अवश्य किया, इस महत्त्वपूर्ण विषय को छोड़ न सके।

महाभारत में जहाँ कहीं भी किसी राजा की सद्व्यवस्था या नियोजन से सम्वद्ध वर्णन उपलब्ध होता है, सर्वत्र उपर्युक्त आदर्श प्रायः कार्यरूप में परिणत दृष्टिगोचर होता है। युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव तथा द्रौपदी ने विराट को आत्म-परिचय क्रमशः द्यूतकर्म,[3] पाक तथा मल्लकर्म, नृत्य-नर्तन, गायन-वादन, अश्वकर्म गोकर्म तथा सैरन्ध्रीकर्म में दक्षता का उल्लेख करते हुए दिया था। अतः विराट ने उनको उन्हीं कर्मों में नियुक्त भी किया था। नल ने ऋतुपर्ण को अपने को अश्वकोविद बताया था और दमयन्ती ने चेदिराज माता को अपने को सैरन्ध्री।[4] अतः उनकी भी नियुक्ति उन्हीं कार्यों में हुई।[5] युद्ध में निरन्तर पराजय ही सुनकर धृतराष्ट्र के हृदय से महाकष्ट के साथ निकले हुए—

अकारणभृतस्तात मम सैन्ये न विद्यते ॥—द्रोण ८९।२२।

तथा— भृताश्च बहवो योधाः परीक्ष्यैव महारथाः। द्रोण ८९।२१।

शब्दों से भी यथायोग्य नियोजन का ही ज्ञान होता है। युद्ध के अनन्तर राज्य प्राप्ति पर अभिषिक्त युधिष्ठिर ने शासन-कर्मों का विभाग कर नियुक्तियाँ की थीं जिसमें महाबली भीम को युवराजकर्म में, प्राज्ञतम धर्मावतार विदुर को मन्त्रणा, निश्चय तथा षड्गुणचिन्तन में, दीर्घदर्शी संजय को कृताकृत परिज्ञान और आय-व्यय चिन्तन में, बलपरिमाण, भक्त, वेतन, श्रमिक निरीक्षण आदि में नकुल को, परचक्रोपघात हेतु अर्जुन को तथा आचार्य धौम्य को वेद तथा धर्मकार्यों के

१. आरण्यक १४९।४६। २. शान्ति ७२।८। ३. विराट ६-११।
४. आरण्यक ६४।२-७। ५. आरण्यक ६२।२६,४३।

अनुष्ठान में नियुक्त कर सहदेव को राजरक्षा का भार दिया था।[१] इसके अतिरिक्त भी—

यान्यानमन्यद्‌ योग्यांश्च येषु येष्विह कर्मसु।
तांस्तांस्तेष्वेव युयुजे प्रीयमाणो महीपतिः॥ शान्ति ४१।१५।

ये हैं महाभारतकालीन यथायोग्य नियोजन के आदर्श निदर्शन।

यथायोग्य नियोजन का आधार

महाभारतीय राजाओं को यथायोग्य नियोजन के लिये वर्णाश्रम व्यवस्था आधार के रूप में प्राप्त थी। अतः उनकी रक्षा और स्वधर्म नियोजन से किसी व्यक्ति को उसके सहज गुणों और योग्यताओं के अनुसार काम न मिलने की संभावना रहती थी।

वर्ण-व्यवस्था का आधार उन दिनों जन्मगत ही था। अतः जो व्यक्ति जिस किसी वर्ण या जाति में उत्पन्न होता था उस जाति के परम्परागत कर्म निर्धारित होते थे और उसको प्रायः उसी वर्ण और जाति के निर्धारित कर्मों के योग्य समझा जाता था। इस व्यवस्था के कारण राजा को 'किसे किस कार्य में लगाया जाये?' इस प्रश्न के समाधान में पर्याप्त सहायता मिलती थी।

किन्तु किसी वर्ण अथवा जाति-विशेष में उत्पन्न होने पर भी, यदि किसी व्यक्ति में तद्वर्णभिन्न गुण और प्रवृत्तियाँ विद्यमान होती थीं, तो राजा उनको भी परीक्षण के अनन्तर ही विकसित होने का अवसर देता था। इस पक्ष का समर्थन कर्म, गुण और स्वभाव पर आधृत वर्ण-व्यवस्था से किया गया था। जन्मगत वर्ण-व्यवस्था में विद्यमान दोषों को दूर करने के लिए महाभारतकाल में गुण, कर्म और स्वभाव पर आधारित वर्ण-व्यवस्था की ओर प्रयाण प्रारम्भ हो गया था और उसके प्रवर्तक प्रायः राजा ही थे। जन्मगत वर्ण-व्यवस्था की भाँति कर्मगत वर्ण-व्यवस्था भी व्यक्ति के यथायोग्य नियोजन में अत्यन्त सहायक थी।

लोक में मिथ्याचार और मिथ्याप्रदर्शन को रोकने के लिए राजाओं ने परीक्षण प्रारम्भ कर दिया था, अन्यथा कोई भी व्यक्ति अपने को स्वकर्म से भिन्न किसी दूसरे वर्ण के कर्मों को करने में समर्थ कहकर वर्ण परिवर्तन किया करता। द्रोण, कृप और अश्वत्थामा का ब्राह्मण होते हुए भी शस्त्रग्रहण, कर्ण और कीचक का जात्यासूत होने पर भी राजा और महामात्य का कार्यसंचालन, संजय सदृश सूतपुत्र और विदुर सदृश शूद्रा के गर्भजात का कृताकृतपरिज्ञान आदि तथा मन्त्र, षड्गुणचिन्तन आदि में नियोजन महाभारतकाल में दृष्टिगोचर

१. शान्ति ४१।८-१४।

होता है। निःसन्देह ये कर्म इनके वर्णगत नहीं थे। किन्तु द्रोण की वीरता भीष्म को ज्ञात थी। कृप और अश्वत्थामा हस्तिनापुर में बढ़े थे और उनका शस्त्रकौशल विख्यात था। कर्ण की शस्त्रनिपुणता समाज में देख कर ही दुर्योधन ने उसे अपनी ओर मिलाया था और कीचक का पराक्रम कुरुदेश तक में प्रसिद्ध था जिसके मरने पर ही कौरवों को विराट पर आक्रमण करने का साहस हुआ था। संजय और विदुर सदृश ज्ञानियों को अनेक वार धृतराष्ट्र की सभा में आत्म-ज्ञान-प्रदर्शन का अवसर मिल चुका था।

इस प्रकार राजाओं ने यद्यपि प्रायः जन्मगत वर्ण-व्यवस्था को ही प्रोत्साहन दिया था, और इससे लोगों को न हटने देने की ही चेष्टा की थी तथापि कभी वहुत ही अधिक गुणशाली और प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति को वर्णान्तर के कर्म करने की छूट उसकी परीक्षा के वाद दी थी।

बेकारी की समाप्ति

इस प्रकार वर्ण-व्यवस्था में गुणानुरूप कर्मों के विचार करने की क्वचित् आवश्यकता होती थी, तथापि वर्ण प्रायः जन्म से ही निश्चित थे और वर्ण से जीविका का भी सम्वन्ध था। अतः इससे बेकारी दूर करने में भी सहायता मिलती होगी। प्रायः जो व्यक्ति जिस वर्ण, जाति या कुल में उत्पन्न हुआ था, उसके परम्परागत कर्मों के अनुष्ठान मात्र से उसको जीविका मिल जाती थी।

ब्राह्मणों के षट्कर्मों में से याजन, अध्यापन तथा परिग्रह उनकी जीविका के साधन थे।[१] ये कर्म केवल ब्राह्मणों को विहित थे और आपत्ति काल को छोड़कर, कोई भी अन्यवर्ण का व्यक्ति इन्हें नहीं स्वीकार कर सकता था।[२] क्षत्रियों के लिए भी शस्त्रनिर्जित[३] द्रव्य, युद्धकर्म[४] तथा सैन्यभृति[५] से प्राप्य धन जीविका हेतु निश्चित किया गया था और वर्णान्तर के लिए आपद्धर्म के अतिरिक्त प्रायः निषिद्ध ही था।[६] वैश्यों को कृषि, गोरक्ष्य और वाणिज्य के वदले में एक निश्चित भाग मिलता था[७] तथा उसी से उनका जीवन-निर्वाह सम्भव था। शूद्रों का भरण-पोषण तो अनिवार्यतः उनके स्वामी द्विजातियों को करना ही पड़ता था।[८] इसके अतिरिक्त रंगावतरण, रूपोपजीवन, मद्यमांसादि के सेवन तथा लौह-चर्म से सम्वन्ध कर्मों में शूद्रों का विशेषाधिकार था।[९] वर्णसंकट जातियों के

१. आरण्यक १४९।३५-३६; उद्योग २९।२१; आश्वमे ४५।२२।
२. उद्योग ७०।४७; १३०।२८; शान्ति २८३।१; ३२९।७।
३. शान्ति २८३।११।
४. उद्योग ७०।४७; १३०।७; द्रोण ५०।६२; आश्वमे २।१६।
५. आरण्यक २३८।४१। ६. आरण्यक ३८।२१। ७. शान्ति ६०।२४-२५।
८. उद्योग १३०।२८। ९. शान्ति २८३।४।

लिए भी एक-एक उद्योग निश्चित कर दिया गया था।[1] इस प्रकार किसके लिए कौन सी जीविका का साधन निर्धारित किया जाये, इस समस्या का परम्परागत सुचिन्तित समाधान राजाओं को मिल गया था।

वर्णव्यवस्था के साथ आश्रम-व्यवस्था के भी सम्बद्ध होने से अवस्था विशेष में कर्तव्य कर्मों का अनुष्ठान कर जीविकोपार्जन करना भी सम्भव था। जीवन के एक निश्चित भाग में ही आर्थिक जीवन में प्रविष्ट होने के कारण एक ओर शेष तीन आश्रमवालों को जीविका मिल जाती थी, और दूसरी ओर वन-प्रस्थान करने वाले वृद्ध गृहस्थ तरुणों को भविष्य के कर्णधार बनने के लिए अवसर भी देते जाते थे। इस प्रकार वर्णानुसार कर्म करने से जीविका हेतु संभाव्य परस्पर संघर्ष और घोर प्रतियोगिता के लिए स्थान कम होता होगा और आश्रम-व्यवस्था के कारण सक्षम जनों को कार्य करने का अवसर मिलता होगा। दोनों रूपों में बेकारी को समाप्त करने में सहायता मिलती होगी।

वर्णाश्रम धर्म की रक्षा करता हुआ राजा लोकपोषण में अधिक समर्थ होता था। जीविका का प्रश्न होने से ही—

न संकरेण द्रविणं विचिन्वीत विचक्षणः।
धर्मार्थं न्ययामुत्सृज्य न तत्कल्याणमुच्यते॥—शान्ति २८३।२४।

कहा गया था। कर्म-संकरता से रक्षा करना राजा का कर्तव्य था।[2] राजा के ऊपर वर्णाश्रमधर्म की रक्षा का भार था। इस विषय पर तृतीय अध्याय में अपेक्षित प्रकाश डाला गया है।

श्रमविभाजन

श्रमविभाजन आज के औद्योगिक युग का प्रमुख विषय बन गया है। उत्पादन-वृद्धि की आवश्यकता और औद्योगीकरण (Industrialisation) ने इसका महत्त्व बढ़ा दिया है। प्राचीन भारत में श्रमविभाजन की समस्या भी वर्ण-व्यवस्था से दूर हुई थी।

प्राचीन भारतीय मनीषियों ने समाज में अपेक्षित समस्त कर्मों या सेवाओं को ध्यान में रख कर कार्य-विभाग किया था और उन्हें एक-एक वर्ण को सौंप दिया था। महाभारतकार के अनुसार—

कर्म शूद्रे कृषिर्वैश्ये संग्रामः क्षत्रिये स्मृतः।
ब्रह्मचर्यं तपो मन्त्राः सत्यं च ब्राह्मणे सदा॥—आरण्यक १९८।२४।

स्वाभाविक रूप से विद्यमान रहते हैं। इस प्रकार शूद्र को औद्योगिक, वैश्य को आर्थिक, क्षत्रिय को रक्षात्मक और ब्राह्मण को आध्यात्मिक उत्थान का कार्यभार

१. अनुशा ४८।५-२९। २. शान्ति ५७।१५।

सौंपा गया था। पुनः एक-एक वर्ण के विभाग-उपविभाग अथवा जाति-उपजाति पर एक-एक कर्म और उपकर्म का भार था। अनुलोम-प्रतिलोम विवाह से उत्पन्न संकर सन्ततियाँ विशिष्ट कर्म की अधिकारी थीं। शिल्पबल के प्रतीक शूद्रों में भी भिन्न-भिन्न शिल्पों के लिए भिन्न-भिन्न जातियों का विभाग कर दिया गया था। किसी जाति को वस्त्र बनाने का व्यवसाय, किसी को सीने का, किसी को लकड़ी का, किसी को लोहे का, किसी जाति को सोने का, इस प्रकार से भिन्न-भिन्न शिल्प बाँट दिये गये थे जो आज भी चले आ रहे हैं।[1] महाभारत में इस प्रकार शिल्प-विभाजन का पूर्ण वर्णन महाभारत में अनुशासन पर्व में है।[2]

लोक-पोषण हेतु राजा का क्रियात्मक सहयोग

ये समस्त सामाजिक और धार्मिक मान्यताएँ लोक के लिए अत्यन्त उपादेय थी। राजा इनको स्थायित्व प्रदान करता था और स्वयं भी उनके अनुसार आचरण करता था। तत्कालीन राजाओं ने प्रायः मान्यताओं के आधार पर लोकपोषण की चेष्टा की थी। युधिष्ठिर से कहे गये विराट के—

ये त्वानुवादेयुरवृत्तिकर्शिता ब्रूयाश्च तेषां वचनेन मे सदा।
दास्यामि सर्वं तदहं न संशयो न ते भयं विद्यति संनिधौ मम॥

शब्दों से ज्ञात होता है कि उस समय शासकगण प्रजा की वृत्ति हेतु वास्तव में चिन्तित रहते थे और आवश्यकतानुसार अवृत्तिकर्शितों को अपने कृषि, शिल्प आदि में नियोजित करके, जीविका देते होंगे।

राजकीय पोषण का स्वरूप दो प्रकार का था। जो व्यक्ति असहाय अथवा कार्य-सम्पादन में सर्वथा असमर्थ थे, उनके लिए राजा की ओर से प्रबन्ध किया जाता था और जो लोग कुछ काम कर सकते थे उनको उनकी योग्यता के अनुसार काम देकर वृत्तिविधान करते थे।

स्त्रियों की रक्षा तथा भरण-पोषण

राज्य की उन स्त्रियों का भरण-पोषण करना भी राजा का कर्तव्य था जो या तो असहाय थीं अथवा सामान्यतः लोक में जिनके लिए जीविका का साधन दुर्लभ था। राज्य की रक्षणीय और पोषणीय स्त्रियों को दो प्रधान श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है—प्रथम तो वे जिनके पति, पुत्र, पिता अथवा भाई राज्य-रक्षा में मर मिटे और जो फलतः अनाथ, विधवा आदि हो गयीं अथवा जो निसर्गतः कृपण और वृद्धा थीं, दूसरी वे जो दासी अथवा वेश्यागणिका आदि के रूप में राज्य की ओर से नियोजित की जाती थीं।

---

१. गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी : वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति, पृष्ठ १०६।
२. अनुशा ४८।५-२९। ३. विराट ६।१५।

हतवीरा, विधवा आदि का पोषण

राजसेवा करते हुए जीवनोत्सर्ग करने वाले व्यक्तियों की अनाथ और वृत्तिकर्शित स्त्रियों का विशेष पोषण करना राजा का नैतिक कर्तव्य था। अतः नारद ने युधिष्ठिर से—

> कच्चिद् दारान्मनुष्याणां तवार्थे मृत्युमेयुषाम्।
> व्यसनं चाभ्युपेतानां बिभर्षि भरतर्षभ ॥—सभा ५।४४।

पूछा था। राजा की रक्ष्य स्त्रियों में केवल हतवीराएँ ही नहीं, अपितु राज्य की समस्त कृपण, अनाथ, वृद्धा एवं अन्य विधवा स्त्रियाँ भी थीं। भीष्म ने राजा की ओर से इन सबका नित्य ही योग-क्षेम किया जाना आवश्यक बताया था।[1] नारद के स्त्रीरक्षा सम्बन्धी प्रश्न दूसरे बार[2] भी किये जाने से, इस कर्म की गम्भीरता व्यक्त होती है। इसी प्रकार राष्ट्र की स्त्रियों की सुव्यवस्था-विषयक प्रश्न धृतराष्ट्र ने भी युधिष्ठिर से किया था।[3]

महाभारत में अनेक राजाओं का उल्लेख है जिन्होंने सम्यक् रूप से अनाथ स्त्रियों का पालन-पोषण किया था। शंतनु के शासनकाल में स्त्रियों के अतिरिक्त अनेक अनाथ और तिर्यक्योनि वालों का भी पोषण होता था।[4] जनक का लोक-पोषण प्रसिद्ध था।[5] राज्य-प्राप्ति के अनन्तर युधिष्ठिर ने युद्ध में काम आये वीरों की पत्नियों, बहनों और माताओं का यथायोग्य वृत्ति-विधान किया था।[6] परिक्षित् ने भी अपने पितामह की परम्परा को निभाया और विधवा, अनाथ आदि का भरण-पोषण किया था।[7]

अतः असहाय अबलाओं का पालन करना राजा का परम्परागत धर्म-सा बन गया था। धार्मिक दृष्टि से भी अनाथ, प्रमत्त, बाल्यावस्था में विद्यमान, वृद्धा, भयभीत और सच्चरित्र स्त्रियों के साथ प्रवंचना करने वाले को निरय का विधान था।[8]

आधुनिक काल में जिस प्रकार राजकार्य के कारण मृत व्यक्तियों के परिवार को कुछ आर्थिक साहाय्य दिया जाता है, सम्भव है, उस समय भी दिया जाता हो। कौटिल्य ने विधवाओं को रुई बाँटने का विधान किया था।[9] उत्तंक के मुख से कुछ स्त्रियों के सूत कातने का उल्लेख मिलता है।[10] अनुमान किया जा सकता है कि इनसे कुछ रचनात्मक कार्य राजा लोग कराते होंगे।

---

१. शान्ति ८७।२४। २. सभा ५।७३। ३. आश्रम ३३।८।
४. आदि ९४।१६। ५. आरण्यक १९८।३६। ६. शान्ति ४२।१०।
७. आदि ४५।१०। ८. अनुशा २३।६४। ९. अर्थशास्त्र २।२३।
१०. आदि ३।१४७-४८।

व्यावसायिक स्त्रियों की जीविका का प्रबन्ध

कुछ स्त्रियाँ ऐसी भी होतीं थीं, जिनका पेशा पूर्वनिश्चित होता था और राजा उनको नियोजित कर कतिपय राजकीय सेवाएँ कराते थे। ऐसी स्त्रियाँ थी दासियाँ और वेश्याएँ।

दासियाँ

युधिष्ठिर की एक लाख,[१] भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव आदि के अनेक[२] तथा सुभद्रा, दमयन्ती, लोपामुद्रा, उत्तरा,[३] देवयानी और शर्मिष्ठा[४] सदृश राज-पुरुषों और राजमहिषियों तथा कन्याओं की शत-शत दासियों के होने के उल्लेख हैं। कहीं विवाह में, कहीं उपहार के रूप में, कहीं पारितोषिक, प्रलोभन, दान-दक्षिणा अथवा द्यूत-पण्य और युद्ध में हार्यधन या क्रीत-विक्रीत धन के रूप में दासियाँ प्राप्त की जाती थीं।[५]

ये राजगृहों में धात्री, परिचारिका, प्रेष्या, महानसी आदि के रूप में नियुक्त की जाती थी।[६] इनके भरणपोषण का भार भी राजा अथवा स्वामियों पर होता था।[७]

इनके केवल भोजन अथवा जीवन रक्षक आवश्यकताओं की ही पूर्ति नहीं की जाती थी, अपितु इनको शृंगार के भी पदार्थ उपलब्ध कराये जाते थे। युधिष्ठिर की दासियाँ—

कम्बुकेयूरधारिण्यो निष्ककण्ठ्यः स्वलंकृताः ॥
महार्हमाल्याभरणाः सुवस्त्राश्चन्दनोक्षिताः ।
मणीन्हेम च बिभ्रत्यः सर्वा वै सूक्ष्मवाससः[८] ॥

थीं। पाण्डवों को विवाह में उपहार में मिली दासियाँ 'स्वलंकृताः'[९] थी और सुभद्रा के विवाह में कृष्ण द्वारा दी गयी परिचारिकाएँ भी 'सुवेषा' सुवर्चा, सुवर्णशतकण्ठी तथा 'सुवासा' थीं।[१०] इनसे दासियों को भोजन और वस्त्र के अतिरिक्त सुख-वैभव की भी सामग्री के मिलने का ज्ञान होता है। आपद्ग्रस्त कुलस्त्रियाँ सैरन्ध्री अथवा अन्य आत्मानुरूप कर्म में नियुक्ति पाती थीं और उन्हें राजपरिवार का आश्रय मिलता था। वहाँ उनकी शीलरक्षा और भरणपोषण का पूर्ण प्रयास किया जाता था। विराट की पत्नी ने सैरन्ध्री द्रौपदी को विश्वास

---

१. सभा ५४।१२। २. शान्ति ४४।६-९,१२-१३।
३. आरण्यक ५०।११;९४।२३; विराट १०।१२। ४. आदि ७६।२।
५. श्रीमती डा० मवालकर : महाभारत में नारी, पृष्ठ २९०-२९३।
६. वही पृ० २९३-२९९। ७. आरण्यक २।५८; आदि ७७।२-३।
८. सभा ५४।१२-१३;' आरण्यक २२२।४४-४६। ९. आदि १९१।१६।
१०. आदि २१३।४४-४५।

दिलाया था कि उसे परपुरुष की सेवा, पादप्रक्षालन और उच्छिष्ट भोजन का सेवन नहीं करने दिया जायेगा। कीचक द्वारा पीड़ित होने पर उचित दण्ड देने का उसे आश्वासन मिला था। जिसके अभाव में वह भरी सभा में विराट को धिक्कार सकी थी। दमयन्ती का रुदन सुन कर चेदिराज माता स्वयं आयी थी (आरण्यक ६५।३३)। इन उदाहरणों से कुलस्त्रियों के प्रति राजा की व्यवस्था और आस्था दृष्टिगोचर होती है।

वेश्याएँ

दासियों के अतिरिक्त राजाश्रय-प्राप्त और राज्यकर्म में नियुक्त की जाने वाली स्त्रियों में वेश्याएँ भी होती थीं। कौटिल्य ने तो गणिकाओं के निर्धारण के लिए 'गणिकाध्यक्ष' की नियुक्ति और इनकी ललितकला की शिक्षा का भी विधान किया था।[१]

युधिष्ठिर द्वारा संजय से पूछे गये कुशल प्रश्न से वेशस्त्रियों के रूपगुणवती तथा वाक्पटु होने के साथ उनके अलंकार, वस्त्र, सुगन्ध और सुखभोगसमन्वित होने का भी परिचय मिलता है।[२] राजगृहों में भी वेश्याओं का प्रवेश विहित था। ऐसी ही परिचारिकाओं में से एक से धृतराष्ट्र से युयुत्सु नामक पुत्र उत्पन्न हुआ था। ऐसे राजकीय कार्य जिन्हें सामान्य लोक सिद्ध नहीं कर सकता था, वेशस्त्रियों ने सम्पन्न किया था। लोमपाद ने वेश्याओं के द्वारा ही ऋष्यश्रृंग को अपने राज्य में लाने में सफलता प्राप्त की थी।[३] इससे इनकी प्रवीणता, चातुर्य और नीति-कौशल का ज्ञान होता है। किंवदन्तियों के अनुसार राजकुमारों को नीति-ज्ञान के लिए वेश्याओं के ही पास भेजा जाता था। कदाचित् राजकीय अतिथियों के आगमन पर अथवा अन्य किसी उत्सव-समारोह में उनका स्वागत और उनकी सेवा शुश्रूषा यही करती थीं। इन कर्मों के लिए राजा इन्हें नियुक्त करते थे। कृष्ण के दौत्यकर्म हेतु आगमन के समय सभाओं में इनकी उपस्थिति,[४] गोहरण होने पर शत्रुवर्ग को पराजित कर नगर प्रवेश के अवसर पर वेश्याओं द्वारा उत्तर का स्वागत,[५] शुकदेव के मिथिला पहुँचने पर जनक द्वारा सेवार्थ नियुक्ति की गयी रूप, लावण्य, वेषभूषा, अलंकार आदि से सुसज्जित, संलाप पटु, नृत्य-गीतविशारद, भावज्ञ, सर्वकला कोविद, कामोपचारप्रवीण वेश्याओं के वृत्तान्तों से प्रायः समस्त जनपदों में इनकी उपस्थिति मात्र का नहीं अपितु राजा द्वारा इनके भरणपोषण करने और लोकसुखकर कर्म कराने की प्रवृत्ति का भी ज्ञान होता है।

---

१. अर्थशा २।२७। २. उद्योग ३०।६६। ३. आरण्यक ११०।३३-३६।
४. उद्योग ८३।१४; ८४।१५। ५. विराट ६३।२४।

वृद्ध-पालन

कृपण, अनाथ और वृद्धों का अश्रुपरिमार्जन करना राजा का धर्म था।[1] करुणा और दयावश इनका पालन तो धर्मसंगत था ही, साथ ही इनके पालन का एक अन्य प्रमुख कारण भी था। राजा में निसर्गतः राजसगुणों के प्राधान्य के कारण सन्तुलन के लिये सात्त्विक गुणों की व्यवहार, शास्त्रों के रहस्य ज्ञान और जीवन की अनुभूतियों की आवश्यकता होने से राजा को ऐसे व्यक्तियों की नितान्त आवश्यकता होती थी जिनमें इन गुणों का विकास था। वृद्धगण आयु, अनुभूति और शास्त्रज्ञान के कारण ही 'वृद्ध' कहे जाने से राजा की दुर्वृत्तियों की निवृत्ति तथा सत्प्रवृत्तियों की प्रवृत्ति में समर्थ होते थे। अतः नारद ने वृद्धों के उपदेशों को श्रद्धापूर्वक सुनने का उपदेश युधिष्ठिर को दिया था।[2] व्यास की घोषणा थी कि वृद्धों की सेवा किये बिना धर्म का रहस्य तो बृहस्पति भी नहीं जान सकते थे।[3] मानसज्वर को दूर करने के लिये वृद्धवचन सर्वश्रेष्ठ उपाय थे।[4] नित्यप्रति प्रातः वृद्धों की आज्ञानुसार ही कर्म प्रारम्भ करने का विधान था।[5] धृतराष्ट्र ने वृद्धसेवा और पालन पर विशेष बल दिया था।[6] ऋषि आर्ष्टिषेण ने भी वृद्धसेवा के विषय में युधिष्ठिर से पूछा था।[7] कुन्ती ने द्रौपदी को आशीर्वाद दिया था कि उसके दिन वृद्धादि के सेवा में ही व्यतीत हों।[8] व्यवहार कर्म हेतु तो चतुर्वर्ण के वृद्धों का ही नियोजन अभीष्ट था।

वृद्धपालन की धारणामात्र ही रही हो, ऐसी बात नहीं। जनक वृद्ध ब्राह्मणों के पालक थे।[9] दशरथ निरन्तर वृद्धसेवा में रत रहते थे।[10] पाण्डु के राज्य में पुष्ट होकर अनेक 'पौरवृद्ध' रहते थे।[11] कर्ण की वृद्धादि को अभय देने की प्रतिज्ञा थी।[12] द्रौपदी ने युधिष्ठिर को वृद्ध, अन्ध और दुःखितों का पालक कहा था।[13]

सद्ज्ञान-प्राप्ति के अतिरिक्त अन्तःपुर रक्षा का कार्य भी वृद्धों को सौंपा जाता था। धृतराष्ट्र ने युधिष्ठिर को उपदेश दिया था कि—

> विहाराहारकालेषु माल्यशय्यासनेषु च।
> स्त्रियश्च ते सुगुप्ताः स्युर्वृद्धैराप्तैरधिष्ठिताः।
> शीलवद्भिः कुलीनैश्च विद्वद्भिश्च युधिष्ठिर॥—आश्रम ९।१९।

---

१. शान्ति ९२।३४। २. सभा ५।१०५।
३. आरण्यक १४९।२६; शान्ति १९।८। ४. सभा ५।७९।
५. सौप्तिक २।२१-२३। ६. आरण्यक ९०।२३; आश्रम ९।१०-१२।
७. आरण्यक १५६। ८. आदि १९१।८। ९. शान्ति १८।११।
१०. आरण्यक २६१।३। ११. आदि ११०।२४। १२. आरण्यक २८४।३७।
१३. विराट १७।२१।

दुर्योधन ने वृद्धों को स्त्री रक्षा के लिये नियुक्त भी किया था। उसके युद्ध से पलायन करते ही स्त्रियों के साथ स्त्रीरक्षकों ने भी नगर की ओर शिविर की ओर से प्रस्थान किया था।[1] इन रक्षकों में कुछ स्त्री-अध्यक्ष भी हुआ करते थे।[2] राजाओं के कहीं आने-जाने के समय साथ चलने के लिए स्त्रियों को तैयार कराने का कार्य स्त्री-अध्यक्षों का था।[3]

अनाथ, कृपण, आतुर, बाल, जड़, अन्ध, मूक, पंगु, व्यंग पालन

पूर्वजन्म के कर्मानुसार[4] विभिन्न प्रकार के शारीरिक, मानसिक अथवा आर्थिक व्यथाओं से चीत्कार करते हुए प्राणियों को देखकर राजा के हृदय में पतित-पावनी करुणा शतशतधाराओं में प्रवाहित हो पड़ी होगी। अतः उनकी सुरक्षा एवं पालन-पोषण का भार समर्थों के ऊपर डाला गया होगा। राजा ही सर्वसमर्थ था अतः कृपण, अनाथ आदि का पालन उसका धर्म घोषित किया गया था।[5] इन अनाथों, असहायों और विकलांगों के पालन-पोषण की राजकीय व्यवस्था का प्रधान कारण समर्थ की असमर्थों पर दया ही थी। स्पष्ट रूप से एक स्थान पर निर्देश है कि—

> आनृशंस्यं परोधर्मः सर्वप्राणभृतां यतः।
> तस्माद्राजानृशंस्येन पालयेत् कृपणं जनम्॥

महाभारतकार ने वृद्ध, बाल, अन्ध, कृपण आदि के धन की रक्षा करना भी राजा का कर्तव्य निश्चित किया था।[6] लोकपालक होने पर भी राष्ट्र के किसी व्यक्ति के दुःखी होने से राजा धिक्कार का पात्र होता था।[7] शारीरिक अक्षमताओं के कारण अपराध को विवशता समझकर वृद्ध, बाल और आतुरों पर राजा को क्रोध न करने का विधान था।[8] इन पर शस्त्र उठाना और इनको दण्ड देना, पाप माना गया था।[9]

करुणाभाव के अतिरिक्त भी इनके पालन का एक प्रमुख रहस्य था। भारतकार के शब्दों में—

> व्यभिचारान्नरेन्द्राणां धर्मः संकीर्यते महान्।
> अधर्मो वर्धते चापि संकीर्यन्ते तथा प्रजाः॥
> उरुण्डा वामनाः कुब्जाः स्थूलशीर्षास्तथैव च।
> क्लीबाश्चान्धाश्च जायन्ते बधिरा लम्बचूचुकाः।
> पार्थिवानामधर्मत्वात् प्रजानामभवः सदा॥—आरण्यक १९८।३४-३५।

---

१. शल्य २८।६३। २. शल्य २८ ६९।८८। ३. आश्रम २९।२०-२१।
४. उद्योग ३०।४०। ५. शान्ति ९२।३४। ६. अनुशा ६।२५।
७. अनुशा ६१।२९। ८. उद्योग ३८।२७। ९. सौप्तिक ६।२१।

अतः अपने अधर्म का फल स्वयं भोगने के लिये मानवीयनैतिकता राजा को बाध्य कर देती थी कि वह इनका पालन करे।

जन्मजात शारीरिक व्यंगता वाले अथवा अनाथ, असहायों के राजकीय संरक्षण का एक और कारण दृष्टिगोचर होता है। सम्पूर्ण महाभारत में कौरव-पाण्डव के महाभारतयुद्ध को छोड़कर, अन्यत्र भी युद्धों का वातावरण बना हुआ है। कभी अर्जुनादि पाण्डव, कभी कौरवपक्षीय लोग दिग्विजय के लिये निकलते थे और चातुर्दिक् संहार का भीषण दृश्य उपस्थित हो जाता था। सर्वत्र युद्धों की प्रचुरता थी और दूसरे राजा की दुर्बलता को जानकर परराष्ट्राभिघात तत्कालीन राजाओं का धर्म बन चुका था।[१] इन युद्धों में सहस्रों की संख्या में सैनिक-खेत रहते थे, और असंख्य घायल तथा पंगु-व्यंग होते रहे होंगे। अतः अपने-अपने पक्ष में राज्य की सेवा में रत रहने वाले और राष्ट्र हेतु ही अयोग्य और अक्षम हो गये लोगों का पालन करना भी राजा का नैतिक कर्तव्य होता होगा। बहुत कुछ संभव है, इनके ही पालन-पोषण के आधार पर सर्वप्रथम विकलांगों की देख-रेख प्रारम्भ हुई हो, और कालान्तर में राष्ट्र के समस्त जीविकार्जन में अक्षम-व्यक्तियों के लिये राजकीय साहाय्य प्राप्त होने लगा हो।

महाभारत में अनेक राजाओं का उल्लेख है जिन्होंने कृपणसमुदाय का सम्यक् पालन किया था। शंतनु तो कृपण अनाथ आदि से लेकर तिर्यग्योनि तक के पालन के लिए विख्यात थे।[२] नारद ने इनका पालन, राजधर्म समझकर, युधिष्ठिर से इसके विषय में प्रश्न किया था।[३] युधिष्ठिर ने धर्मपूर्वक पिता की भाँति करुणापूर्वक इनका पालन भी किया था।[४] इनके पालन से सम्बद्ध युधिष्ठिर की प्रशंसा विराट से अर्जुन ने भी की थी।[५] राजसूय के अवसर पर इनके भोजन न कर लेने तक द्रौपदी भोजन न करती थी।[६] युधिष्ठिर की इनके प्रति दया का भाव संजययान पर्व में ज्ञात होती है जब वे संजय के आते ही कुब्ज, खंजादि के विषय में पूछते हैं,[७] और उनके प्रस्थान करने पर उनके लिए आश्वासन के वचन भेजते हैं।[८] धृतराष्ट्र ने भी इन सबका पालन किया था।[९] युद्ध के पश्चात् सबकी व्यवस्था के साथ ही दीन, अन्ध, कृपणों की भी सुख-सुविधा का पूर्ण प्रबन्ध किया था।[१०] परिक्षित् ने भी अनाथ, कृपण, विकल आदि का पालन किया था।[११]

---

१. सभा ५।४७,५२; शान्ति ६९।१९-२०। २. आदि ९५।१६।
३. सभा ५।११३। ४. विराट १७।२१। ५. विराट ६५।१७।
६. सभा ४८।४१। ७. उद्योग ३०।२७। ८. उद्योग ३०।३९।
९. उद्योग ३०।२८। १०. शान्ति ४२।११। ११. आदि ४५।१०।

सहायता का स्वरूप

विकलांगों को राजा की ओर से कम से कम इतनी सहायता अवश्य ही मिलती रही होगी कि उनकी आवश्यकताएँ अवश्य ही पूर्ण हो जाएँ। जीवन रक्षक आवश्यकताओं में अन्न, वस्त्र तथा गृह आते हैं। वनस्थ युधिष्ठिर ने संजय द्वारा नगर के विकलों को सन्देश दिया था कि वे विजय के बाद उनका वस्त्रों तथा अन्न से भरण-पोषण करेंगे।[१] युद्ध के अनन्तर राजा युधिष्ठिर ने गृह, आच्छादन तथा भोजन की व्यवस्था इनके लिए की थी।[२] धार्मिक उत्सवों पर इनके अन्न, पानादि से तृप्त होने का विशेष उल्लेख है। अश्वमेध में युधिष्ठिर ने इनको धन-दान, भोजन और सुखों से युक्त किया था।[३] कार्तिकी महादान के समय धृतराष्ट्र ने भी इनकी सुख सुविधा का विशेष प्रबन्ध किया था।[४] वसिष्ठ[५] तथा आपस्तम्ब[६] दोनों ने अनाथ, अन्ध, मूक आदि को करमुक्त करने का विधान किया था।

इनसे रचनात्मक कर्म की योजना

राष्ट्र के समस्त विकलांगों और व्यंगों के ऊपर ही राष्ट्रीय आय के अधिक अंश के व्यय से या तो लोक के अन्य रचनात्मक कार्यों को क्षति पहुँचती अथवा जनता पर करभार बढ़ता। साथ ही इन लोगों में भी दयापात्र मात्र बने रहने से आत्मग्लानि और लज्जा की भावनाएँ भी सम्भवतः जगतीं और इनका जीवन स्वयं भी भार बन जाता। अथवा सम्पूर्ण नगर और जनपद ही विकलों, व्यंगों अनाथों या असहायों के रूप में परिवर्तित हो जाता। इन समस्त आशंकाओं से बचने के लिए राजाओं ने इनसे भी योग्यतानुसार कुछ रचनात्मक कार्य कराना प्रारम्भ कर दिया था।

महाभारतकार ने इन रूपों में गुप्तचरों की नियुक्ति का विधान किया था। उनके अनुसार—

प्रणिधींश्च ततः कुर्याज्जडान्धबधिराकृतीन्।
पुंसः परीक्षितान् प्राज्ञान् क्षुत्पिपासातपक्षमान् ॥—शान्ति ६९।८।

इन आकृतियों में गुप्तचरों की नियुक्ति से निःसन्देह कुब्जों, वामनों, जड़ों, अन्धों, बधिरों आदि की किसी न किसी सेवा-कर्म में नियुक्ति का ज्ञान होता है। अन्यथा इन रूपों में अन्तःपुर आदि स्थलों पर इनकी पहुँच ही असम्भव थी। मन्त्रणा के स्थल पर भीष्म[७] तथा धृतराष्ट्र[८] दोनों ने वामन, कुब्ज, कृश, खंज,

१. उद्योग ३०।४०। २. शान्ति ४२।११। ३. आश्वमे ९०।२२।
४. आश्रम २०।१२। ५. वा० ध० सू० राजधर्म २४-२५।
६. आप० ध० सू० २।१०।२६।१६। ७. शान्ति ८४।५३। ८. आश्रम ९।२३।

अन्ध, जड़ आदि को न रहने देने का उपदेश दिया था। इससे भी इस तथ्य की सिद्धि होती है कि तत्कालीन राजाओं ने इनके रूपों में गुप्तचर-नियुक्ति करना प्रारम्भ कर दिया था। कौटिल्य ने भी इस परम्परा का पालन सा करते हुए जानपदों, ग्रामवासियों और अध्यक्षों के शौचाशौच-परिज्ञान के लिए इनकी आकृति वालों की प्रणिधि का विधान किया था (अर्थशा ४।४)। जयशंकर प्रसाद की "ध्रुवस्वामिनी" में खड्ग-धारिणी का रूप इसी प्रकार का है। अतः सकलांग लोगों की अपेक्षा प्राकृतिक रूप से विकलांगों की नियुक्ति यथायोग्य कर्मों में अधिक तर्कसंगत, स्वाभाविक और उचित प्रतीत होती है।

यदा कदा कृत्रिम युद्ध अथवा प्रहसन उपस्थित कर ये राजपुरुषों के समक्ष अथवा अन्तःपुर में कौतूहल भी करते थे।

ज्ञात होता है कि जो व्यक्ति जिस अंग से जो कुछ भी कार्य करने में समर्थ होता था उससे क्षमतानुसार कार्य अवश्य कराया जाता था। युधिष्ठिर ने अपने राज्याश्रित असमर्थ अथवा अयोग्यता-प्राप्त लोगों को 'हस्ताजीवाः' (उद्योग ३०।३९) कह कर सम्बोधित किया था जिससे अन्य अंगों से असमर्थ होने पर भी हस्तकर्मक्षम लोगों से जीविकार्जन तथा राष्ट्रीय आय में वृद्धि कराने की योजना दृष्टिगोचर होती है। सम्भव है इनसे तक्षण कला, सिलाई, बुनाई, कताई आदि अथवा अन्य सांस्कृतिक कर्म कराये जाते रहे हों।

नपुंसक

नपुंसक भी राज्य के वासी होने के कारण राजा के परिपाल्य थे। नपुंसक का एकमात्र वर्णन अर्जुन के बृहन्नडा रूप का मिलता है। इसी से इनके भी नियोजन तथा पालन का ज्ञान होता भी है।

यद्यपि शिखण्डी तथा बृहन्नडा दोनों महाभारत युद्ध तथा गोहरण-रक्षा के समय शस्त्र-ग्रहण करते हुए चित्रित किये गये हैं तथापि 'स्त्रीषु क्लीबान्नियुञ्जीत' (आरण्यक १४९।४६) के अनुसार इनकी नियुक्ति वयोवृद्धों की भाँति अन्तःपुर के कर्मों के लिए ही होती थी। स्त्रियों के मध्य में दिन-रात रहने के कारण इनसे संगीत, नृत्य, गान आदि के भी ज्ञान की अपेक्षा की जाती थी। विराट-नगर में बृहन्नडा ने अन्तःपुर की कन्याओं को नृत्य, गायन आदि की शिक्षा देकर जीविका कमाया था। मुख्यतः नपुंसकों की अपेक्षा अन्तःपुर से सम्बद्ध कर्मों के लिए होती थी। सम्यक् परीक्षण के बाद बृहन्नडा की नियुक्ति की गयी थी और अन्त में उनके अर्जुन के रूप में प्रकट होने पर विराट को लोकापवाद का भय हुआ था।

वानप्रस्थ तथा प्रव्रजित पालन

लोक के सांस्कृतिक और आध्यात्मिक उत्थान में सहायक होने के कारण इनका पालन धर्मतः भी राजा का कर्तव्य था।[१] व्यास ने युधिष्ठिर को प्रेरणा दी थी—

काषायैरजिनैश्चीरैर्नग्नान् मुण्डाञ्जटाधरान्।
बिभ्रत्साधून् महाराज जय लोकाञ्जितेन्द्रियः ॥—शान्ति १८ ३४।

अतः तत्कालीन राजाओं द्वारा इनका पालन कर्तव्य था। युधिष्ठिर के घर से दस सहस्र ऊर्ध्वरेता यतियों को स्वर्णपात्रों में भोजन मिलने का उल्लेख है।[२] संन्यासियों के लिए यद्यपि नगरों में शून्यागारों का निर्माण होता था तथापि भीष्म,[३] जनक,[४] संजय[५] आदि राजाओं के भवनों में ऋषियों-संन्यासियों के वर्षाकाल-पर्यन्त रहने का वर्णन मिलता है।

आश्रमों में रहने वाले वानप्रस्थ-तपस्वियों को भी समग्र आवश्यकता की सामग्रियों को प्राप्त कराने का उत्तरदायित्व भी राजा पर था। आश्रमस्थ धृतराष्ट्र के दर्शनार्थ जाने पर धर्मराज अपने साथ पर्याप्त मात्रा में तापस-योग्य वस्तुओं को भी ले गये थे। वहाँ उन्होंने कलश, अजिन, स्रुक्स्रुवा, कमण्डलु, स्थाली, पिठर आदि तथा अन्य लौह-विनिर्मित बरतन वितरित कराया था जिन्हें आवश्यकतानुसार सभी तपस्वियों ने ग्रहण किया था।[६]

ब्राह्मण पालन

सब वर्णों का गुरु होने से ब्राह्मण सबके सम्मान तथा श्रद्धा के पात्र थे।[७] 'ब्राह्मणेभ्यः परं नास्ति प्रेत्य चेह च भूतये' (शान्ति ३२९।११) की धारणा जोर पकड़ रही थी। इनकी श्रेष्ठता का एकमात्र कारण उनका 'ज्ञानविद्' होना था।[८] ज्ञानी होने के कारण 'ब्राह्मणः सर्वभूतानां योगक्षेमसमर्पिता' (अनुशा २९।९) था। सब कुछ होते हुए भी इन्हें धनसंचय का अधिकार नहीं था।[९] अतः ये भी सम्मान, ज्ञानज्येष्ठता तथा निर्धनता के कारण लोक और राजा दोनों के पाल्य थे।[१०]

यद्यपि वर्णाश्रम व्यवस्था के कारण ब्राह्मणों की जीविका का प्रश्न नहीं था और तदनुसार इनके षट्कर्मों में से तीन का प्रधान प्रयोजन जीविका-सिद्धि ही थी, तथापि उस समय भी ब्राह्मणों की कृषि, गोरक्ष्य, भैक्ष्य, चौरकर्म, असत्यवादिता तथा नाट्य-नृत्य में प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है।[११] अन्यों को

---

१. सभा ५।११३। २. सभा ४८।४०। ३. शान्ति ३८।१५। ४. शान्ति ३०८।२४-२७। ५. शान्ति ३१।६। ६. आश्रम ३४।१२-१५। ७. उद्योग ८०।१७। ८. शान्ति ३०७।३-५। ९. अनुशा ६१।१९-२०। १०. अनुशा ३३।,-४। ११. अनुशा ३३ १२।

सत्कर्म या स्वधर्म में प्रवृत्त कर अथवा आपत्तिकाल में वेश्यादि के कर्मों द्वारा जीविकार्जन की छूट देकर, राजा के लिए तपस्वी ब्राह्मणों का पालन करने का विधान था। भीष्म के अनुसार—

अजुगुप्सांश्च विज्ञाय ब्राह्मणान् वृत्तिकर्शितान्।
उपच्छन्नं प्रकाशं वा वृत्त्या तान् प्रतिपादय ॥—अनुशा ६१।१४,१५।

धर्मयोनि विप्रों[१] को वृत्तिकष्ट के कारण अपने राष्ट्र से नहीं ही जाने देना चाहिए। उसे वृत्ति तथा सम्मान देकर किसी भी मूल्य पर रोकने का उपदेश महाभारतकार ने दिया था।[२] ब्राह्मणों का वृत्तिहीन होना समस्त लोक के लिए कष्टकारक था, क्योंकि—

नैषांमुक्षा वर्धते नोत वाहा न गर्गरो मथ्यते संप्रदाने।
अपध्वस्ता दस्युभूता भवन्ति येषां राष्ट्रे ब्राह्मणा वृत्तिहीनाः ॥
—शान्ति ३२९।१२।

ब्राह्मण की वृत्ति का भार सर्वथा राजा पर ही था। उसे वृत्ति न मिलने से पाप का भागी राजा ही होता था। अतः ब्राह्मणों को औरस पुत्र की भाँति पालने का विधान था।[३]

यही कारण था कि राजा के निरीक्षण में ब्राह्मणों को भोजन दान के विषय में नारद ने पूछा था।[४] जरासंध सदृश सम्राट् ब्राह्मण स्नातकों का स्वागत करने के लिए अर्धरात्रि में भी तैयार रहते थे।[५] जनक सहस्रों त्रिवेदी ब्राह्मणों का पालक था।[६] दुर्योधन को यही सबसे बड़ा दुःख था कि युधिष्ठिर के घर पर अट्ठासी-अट्ठासी हजार ब्राह्मणों को भोजन कराया जाता था और सेवा के लिए एक-एक को तीस-तीस दासियाँ भी दी गई थीं।[७] वन में भी युधिष्ठिर की प्रशंसा सहस्रों ब्राह्मणों और तपस्वियों के भरण-पोषण के विषय में होती थी।[८] इसी प्रकार का वर्णन युधिष्ठिर[९] तथा सत्यभामा[१०] से ब्राह्मणों के विषय में द्रौपदी ने किया था। पांचालनरेश द्रुपद के पुर में भी ब्राह्मणों को वृत्तिदान देने का अनुमान किया जा सकता है।[११]

सामान्यतः ब्राह्मणों को राजा पुरोहित अथवा गृहमेधी के रूप में नियुक्त करते थे, तथापि उनके चारकर्म का भी उल्लेख है।[१२] राजा भीम ने नल को खोजने के लिए ब्राह्मण-दूतों को भेजा था।[१३] इसी प्रकार दमयन्ती ने भी नल

---

१. शान्ति ९१।१९। २. शान्ति ९०।३-४। ३. शान्ति १५९।१३।
४. सभा ५।८८। ५. सभा १९।३१। ६. शान्ति १८।११।
७. सभा ४५।१७-१८। ८. आरण्यक ४७।६। ९. आरण्यक २८।१५-१६।
१०. वही २२२।४०-४५। ११. आरण्यक ९०।२१। १२. विराट २६।१०।
१३. आरण्यक ६५।१।

के अन्वेषण में रत ब्राह्मणों के दर्शन की लालसा प्रकट की थी।[१] द्रुपद ने भी अपने ब्राह्मण पुरोहित को संदेश-वाहक के रूप में हस्तिनापुर भेजा था।[२]

भिक्षुकों को वृत्तिदान

भिक्षुकों का समुदाय निःसंदेह लोक का अनपेक्षित तत्त्व था। इन्हें भिक्षा-कर्म से तो रोका जा सकता था, किन्तु पुनः समस्या उपस्थित होती थी इनको वृत्ति देने की। अन्यथा एक ओर से जीविका का साधन छीन लेने पर दूसरी ओर घोरतर अपकर्मों की सम्भावना थी। अतः तत्कालीन मनीषियों ने युगोचित समाधान भी खोज निकाला था।

उन दिनों कृषि पर आज की भाँति जनसंख्या का भार नहीं था। अतः किसी भी व्यक्ति से एक कर्म को छुड़ा कर कृषिकर्म में नियोजित कर देना सरल था। फलस्वरूप राजाओं के लिए उन दिनों उचित था कि वे इन्हें हानिकर कर्मों से निवृत्त करते और कृषि, गोरक्ष्य, वाणिज्य अथवा इनके सदृश अन्य कोई कार्य कराते[३] जिससे शक्ति का सदुपयोग होता और राष्ट्र की आर्थिक वृद्धि होती। इन कर्मों से अज्ञात होने के कारण इन्हें अनेक अन्यकार्यकर्ताओं के साथ ही राजा को नियुक्त करना था,[४] जिससे कार्यविधि का दर्शन कर ये उन्हें सम्पन्न कर सकते। इन कर्मों में नियुक्त करने के पश्चात् इनके सफलता पूर्वक कार्य करने पर भी कार्य से हटाने वाला राजा निन्दा का पात्र समझा जाता था।[५] अतः उचित यह था कि वह एक बार जीविका देकर उन्हें उससे पृथक् न करे। विराट के राज्य में वृत्तिकर्षितों को राजकीय क्षेत्रों में काम करने के लिये आज्ञापत्र दिये जाते थे, जिनका एक काल-विशेष के व्यतीत हो जाने पर पुनर्नवीकरण होता था।[६]

नटनर्तक आदि की वृत्ति और नियोजन

भिक्षुकों की भाँति फेरीवाले, क्षीब, उन्मत्त और कुशीलवों को सबको संकटकाल में पुर से बहिष्कृत कर देने का विधान था।[७] किन्तु नगर से बाहर होकर ये जाते कहाँ? अतः कुशीलव आदि नट-नर्तकों में कुछ को नगर में रहकर मनोरंजन करने का विधान कर दिया गया था।[८] जो बहिष्कृत कर दिये जाते थे, वे नगर से बाहर होकर परसेना को किसी न किसी भाँति या तो हानि पहुँचाते रहे होंगे, या उन्हीं से जीविका प्राप्त कर सन्तुष्ट रहते रहे होंगे।

कौटिल्य के नट-नर्तकों से गुप्तचर का कार्य कराने का आदेश दिया था, क्योंकि देशदेशान्तर में भ्रमण करने के कारण इनको और इनकी पत्नियों को देश-विदेश

१. आरण्यक ६२।३९। २. उद्योग ५।१८;६।१६,१८। ३. शान्ति ८९।२२। ४. वही २३। ५. शान्ति २४। ६. विराट ६।१५। ७. शान्ति ६९।४९। ८. वही ५८।

की विविध भाषाओं का ज्ञान हो जाता था, जो इस कर्म में सहायता देता था।[१] शान्तिकाल में इनकी आवश्यकता लोक को मनोरंजन के लिये होती थी। अतः लोक स्वयं प्रसन्न होकर इन्हें जीविकार्थ पर्याप्त धन प्रदान करता था। सूत, मागध, चारण, वन्दी आदि को भी जो प्रत्येक शुभ अवसर पर उपस्थित होकर राजाओं तथा अन्य लोगों का मनोरंजन किया करते थे, राजकीय सहायता मिलती होगी।

जन-जातियों का आर्यीकरण और वृत्ति-विधान

महाभारत में अनेक आदिवासी जन-जातियों का उल्लेख है। इनमें प्रधान पह्लव, शवर, यवन, किरात, द्रामिड, सिंहल, वर्वर, दरद, म्लेच्छ,[२] तलवर, अन्धक, उत्स, पुलिन्द, चूचुप, मण्डप, काम्बोज, गांधार, कालिंग, औशीनर, कोलिसर्प, माहिषक,[४] मेकल, द्राविड, लाट, शौण्डिक, कान्वशिरस, दार्व,[५] काश,[६] औणिक, आभीर,[७] चीन, तुषार, कह्व, रमठ, काच[८] आदि थे। डा० अग्रवाल ने भी कुछ को 'महावली कबाइली जातियों'[९] के नाम से अभिहित किया है। उस समय ये गणों के रूप में विद्यमान थे जो एक राजा से पराजित होकर उनके राज्य के अंग वन जाते थे और इनका पालन राजा का प्रमुख कर्तव्य था।[१०] आचार-विचार में सर्वथा भिन्नता होने के कारण इनके लालन-पालन तथा वृत्ति-विषयक वड़ी समस्यायें रही होगीं जिनका विवेचन करते हुए राजा दृष्टिगोचर होते हैं।[११]

इनके वासस्थान

इन जन-जातियों में से कुछ समुद्र के तटवर्ती प्रदेशों में[१२] कुछ पर्वतीय भागों में,[१३] कुछ पत्तनों[१४] और नदियों के किनारे[१५] रहा करते थे। आधुनिक भारत में भी वनों, कन्दराओं और दुर्गम स्थलों पर रहने वाली आदिम जातियों को सम्य वनाने का प्रयास शासन द्वारा किया जा रहा है।

आचार और व्यवहार

इन जातियों की अपनी संस्कृति और अपनी सभ्यता थी जो आर्यों से भिन्न थी। ये आदिवासी पापकृत् थे जो कुत्ते, काक, वड तथा गृध्रों के समान पर-

---

१. अर्थशास्त्र २।२७।१०८। २. आदि १६५।३४-३७।
३. शान्ति २००।३८-४१। ४. अनुशा ३३।२१-२३।
५. अनुशा ३५।१७-१८। ६. आश्वमे २९।१६।
७. आरण्यक १८६।२९-३०। ८. शान्ति ६५।१३-१५।
९. डा० वासुदेवशरण : भारतसावित्री, पृष्ठ १४३। १०. सभा ५।४५।
११. शान्ति ६५।१३-२२। १२. सभा ११।१०; आश्वमे ८३।२९।
१३. सभा ३१।१०। १४. आरण्यक ४८।१९। १५. सभा २९।८।

वित्तहरण द्वारा अपना जीवन यापन करते थे।[1] इनके शासक मिथ्यानुसार करने वाले, पापी तथा असत्यवादी[2] होते थे जो आर्य आदर्शों के प्रतिकूल थे। वैदिक कालीन दस्युधर्म के अनुयायी होने से ये 'दस्यु' भी कहे जाते थे।[3] ब्राह्मणों में इस प्रकार से जीवन व्यतीत करने वाले लोगों को 'व्रात' अथवा 'व्रात्य' कहा गया था जिनकी विभिन्न जातियाँ थीं, जिनके जीविका के साधन नियत नहीं थे, जो सेंध लगाकर अथवा लूटकर जीविका कमाते थे और संघ बनाकर रहते थे।[4] वहीं पर इन्हें निन्दित, हीन, यायावर, ब्रह्मचर्य-विहीन और कृषि-वाणिज्यादि से अनभिज्ञ भी कहा गया है।

आर्यीकरण

अतः तत्कालीन राजाओं ने इन्हें वश में करके सद्वृत्ति में प्रवृत्त करना अपना धर्म समझा था। इनमें माता-पिता की शुश्रूषा, आचार्य, गुरु तथा अन्य आश्रमस्थों की सेवा, राजा की दासता तथा लोक-कल्याणकारी वैदिक क्रियाएँ प्रचलित नहीं थीं। अतः इनसे राजा को अहिंसा, सत्य, अक्रोध, वृत्तिदायानुपालन, पुत्र, स्त्री आदि का पोषण, शौच, अद्रोह, यज्ञदक्षिणा, पाकयज्ञ आदि का अभ्यास कराकर आर्य बनाना चाहिए था।[5]

रचनात्मक कार्य और जीविका

पहले से इनकी कोई सभ्यजीविका निश्चित न होने से राजा को इन्हें ऐसी जीविका देनी थी जिससे लोक का अहित भी न होता और जिन्हें करने में ये सक्षम भी होते। कृषि, गोरक्ष्य और वाणिज्य पर अत्यधिक भार न बढ़े इसलिए राजाओं द्वारा इनसे ऐसे कर्म कराने की आशा की जाती थी जो इन आपत्तियों से बचा सकते। ऐसी स्थिति में राजाओं के कर्तव्य का उपदेश इन्द्र ने मान्धाता को दिया था। उनके अनुसार इनसे कूप, प्रपा, आसन आदि सार्वजनिक कार्य राजा को सम्पन्न कराना था जिससे प्रजा को सुख मात्र न मिलता अपितु उनकी निजी वृत्ति पर कोई असर भी न पड़ता और उसके लिए परस्पर घोर प्रतिद्वन्द्व न बढ़ता। साथ ही इनसे परस्वहरण की वृत्ति का परित्याग कराकर दान की ओर अभिमुख करना भी राजा का कर्तव्य था।[6]

परिगणित जातियों का उद्धार और वृत्ति

महाभारत में उन लोगों के भी साथ मानवतापूर्ण व्यवहार और सुविधादान का ध्यान रखा गया था, जिन्हें किसी कारणवश महाभारत-पूर्व काल में हेयदृष्टि

१. शान्ति २००।४१। २. आरण्यक १८६।२९। ३. शान्ति १३३।३,२२।
४. N. C. Bandyopadhyaya : Hindu Polity and Political Theories, p. 40.
५. शान्ति ६५।१७-१८,२०-२१। ६. वही ६५।१७-१८।

से देखा जाता था और जिनको प्रायः समस्त सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक अधिकारों से वंचित किया गया था। इन जातियों को शूद्र कहा जाता था। योरोपीय[१] विद्वानों की भाँति कुछ भारतीय विद्वानों[२] ने आर्यों द्वारा पराजित और बाद में दास बना लिए गये आदिवासियों को शूद्र की कोटि में रखा है।[३] किन्तु वन्द्योपाध्याय महोदय ने शूद्रों और दासों को सर्वथा भिन्न माना था। प्रो० राजू ने आदिवासी पराजित दासों को ही शूद्र न मानकर कुछ आर्यपरिवार की शाखाओं को भी शूद्र माना था।[४] शूद्र कोई भी रहे हों, और कारण जो कुछ भी रहे हों, इनको महाभारत से पहले द्विजों की समता नहीं मिली थी, और उनके लिए समस्त मार्ग प्रायः वन्द थे। महाभारत में राजाओं ने इन्हें सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, शैक्षणिक और आर्थिक सभी क्षेत्रों में आगे बढ़ाया।

आवास-व्यवस्था और नगर में स्थान

राजाओं ने इन्हें अन्य वर्णों की भाँति नगर में स्थान देना प्रारम्भ कर दिया था। नारद[५] तथा भीष्म[६] दोनों ने नगर और दुर्ग में स्थपति और शिल्पियों के रखने पर बल दिया था और शिल्पी तथा स्थपति प्रायः शूद्र होते थे। दिवोदास की वाराणसी,[७] वसाने के पूर्व के इन्द्रप्रस्थ,[८] कौरवों के हस्तिनापुर,[९] जनक की मिथिला,[१०] जरासंध के गिरिव्रज[११] आदि नगरों में शूद्रों के लिए भी स्थान था। इन्द्रप्रस्थ वसाते समय निवास हेतु वणिक्‌गण और शूद्र शिल्पी भी आये थे।[१२]

आर्यवस्तियों की अपेक्षा शूद्रवस्तियाँ गन्दी होती थीं।[१३] सम्भवतः इसीलिए इसके पूर्व आर्य न उनके ग्रामों में रहते होंगे और न अपने वासस्थलों पर इन्हें आने ही देते होंगे। किन्तु महाभारत में उनका भी आर्यीकरण हो रहा था और उन्हें सभ्य बनाकर नगरों में वसाने की प्रवृत्ति चल पड़ी थी। नगर या दुर्ग निर्माण तथा आवास-व्यवस्था का प्रधान उत्तरदायित्व राजा का होने के कारण शूद्रों को नगरों में स्थान देने और वसाने का श्रेय भी उनको ही था।

१. N. C. Bandyopadhyaya : Hindu Polity and Political Theories, p. 51.
२. C. V. Vaidya : Malviya Com. Vol. p. 653.
३. Bandyopadhyaya, of cit., p. 51.
४. The Concept of Man, p. 213.
५. सभा ५।२५। ६. शान्ति ८७।७,१६। ७. अनुशा ३०।१७।
८. आदि ११।७।१२। ९. आदि १२४।१५; स्त्री ९।१८।
१०. आरण्यक १९८।९-१०। ११. सभा १९।१३। १२. आदि १९९।३८।
१३ C.V. Vaidya : Malviya Com. Vol., p. 654.

सामाजिक उत्सवों में भाग लेने की स्वतन्त्रता

राजाओं द्वारा समाजों और उत्सवों का आयोजन किये जाने पर शूद्रों को भी उनमें आने और भाग लेने की स्वतन्त्रता थी। ऋषियों द्वारा पाण्डुपुत्रों के हस्तिनापुर लाये जाने पर उन्हें देखने की उत्कण्ठा से वैश्यों और शूद्रों का भी संघ ब्राह्मणों के साथ घर से दौड़ पड़ा था।[१] किसी पर भी राजा के दर्शन का प्रतिबन्ध न था। राजकुमारों की कृतास्त्रता देखने की अभिलाषा से चातुर्वर्ण्य पुर से चल पड़ा था।[२] पाण्डवों के वन जाते समय सब वर्णों के लोग उनके पीछे चले थे।[३] राजकुलों से शूद्रों का पारिवारिक सम्बन्ध सा हो गया था जो परस्पर सुख और दुःख में सुखी और दुःखी हुआ करते थे। पाण्डु की मृत्यु का समाचार सुनकर और्ध्वदेहिक कर्मों के लिए चतुर्वर्ण शोक संतप्त होकर राजा के पीछे चल पड़ा था।[४] राज्यप्राप्ति के अनन्तर युधिष्ठिर[५] और परिक्षित्[६] दोनों ने सम्यक् प्रकार से उनका पालन कर लोकप्रियता प्राप्त की थी। पुरुषों की तो बात ही क्या धृतराष्ट्र के आश्रम-प्रस्थान के अवसर पर द्विजों की स्त्रियों के साथ शूद्रों की भी स्त्रियाँ घर से उन्हें देखने निकली थीं[७]। इस प्रकार राजाओं ने उनको केवल सार्वजनिक समारोहों में जाने की स्वतन्त्रतामात्र नहीं, अपितु प्रोत्साहन भी दिया था।

अस्पृश्यतानिवारण

आधुनिक युग में रंगभेद तथा वर्णभेद—वर्गों के सशक्त-अशक्त होने, अथवा धन-विद्या आदि के मिथ्या अभिमान से—अधिक बढ़ गया है। आदिवासियों अथवा शूद्रों की अपवित्रता के कारण सूत्र-साहित्य में भी इन्हें श्वान तथा श्मशान[८] के सदृश समझा गया था और इनसे उच्चवर्णों को वार्तालाप तक न करने का विधान था।[९] किन्तु ज्यों-ज्यों उनको सभ्य समाज का सम्पर्क मिलता गया, उनमें सभ्यता और पवित्रता आती गयी। फलतः मनु ने भी घनिष्ट सम्पर्क में आने वाले शूद्रों के साथ भोजन[१०] तथा उनकी गुणवती कन्याओं से यौन-सम्बन्ध की भी अनुमति दी थी।[११]

महाभारत में शूद्रों के साथ अधिक घनिष्ट तथा मानवतापूर्ण व्यवहार दृष्टिगोचर होता है। विदुर की द्विजातियों द्वारा पूजा-अर्चा,[१२] उनकी प्राज्ञता

१. आदि ११७।१२। २. आदि १२४।१५। ३. आरण्यक २४।१५।
४. आदि ११८।१४। ५. आश्रम ३।११। ६. आदि ४५।९।
७. आश्रम २१।११। ८. आप० ध० सू० ११३।९।९।
९. बौ० ध० सू० ११९।१७-१९। १०. मनु ४।२२३, २५३।
११. मनु ३।२३७; शान्ति १५९।२९-३०। १२. सभा ५२।१२।

और दीर्घदर्शिता,[१] महात्मा गौतम द्वारा शूद्रा औशीनरी से काक्षीवान् पुत्रों की उत्पत्ति,[२] मिथिलावासी व्याध के घर में प्रविष्ट होकर ब्राह्मण द्वारा उसके वृद्ध माता-पिता का देखा जाना और उससे पादोदक लेना[३] व्याध की धर्मवक्तृता,[४] गौतम ब्राह्मण द्वारा दस्युओं के ग्राम में निवास,[५] मातंग का रूप धर कर ही इन्द्र द्वारा उत्तंक को अमृतदान,[६] महर्षि पराशर द्वारा निषादकन्या से समागम आदि अनेक आख्यान शूद्रों के प्रति तत्कालीन समाज की उदारता तथा परस्पर व्यवहार का बोध कराते हैं। साथ ही राजा लोग भी उनके उत्थान हेतु सतत प्रयत्नशील रहते थे।

विदुर तथा संजय सदृश धर्मात्माओं को छोड़कर अन्यत्र भी शूद्रों के साथ राजाओं के वास, स्पर्श और यौन-सम्बन्धों के उल्लेख हैं। राजसूय में शूद्र भी आमन्त्रित[७] किये गये थे और उनके द्वारा लाये गये उपहार राजा ने स्वीकार किया था।[८] पांचाल के राज्य में पाण्डवबन्धु कुम्भकार के घर में रहे।[९] सैरन्ध्रियों एवं दासियों के द्वारा राजमहिषियों का शृंगार तथा ब्राह्मणों की सेवा और भोजन कराना भी इस तथ्य की ओर संकेत करता है। दमयन्ती और द्रौपदी दोनों ने सैरन्ध्रीकर्म से राजकुल में सेवाएँ की थीं। वारणावत में पहुँचकर पाण्डवों द्वारा वैश्य-शूद्रों के भी घर जाना,[१०] शान्तनु का निषादपुत्री से विवाह आदि भी राजाओं द्वारा शूद्रों की सामाजिक प्रतिष्ठा-वर्धन में सहयोग की सूचना देते हैं।

राजनीति के क्षेत्र में स्थान

व्यवहार आदि कर्मों में राजाओं ने शूद्रों तथा वर्णसंकरों को भी स्थान देना प्रारम्भ कर दिया था।[११] यहाँ आठ व्यक्तियों की सभा में लगभग आधे शूद्रों की नियुक्ति होना राजनीति तथा न्याय क्षेत्र में उनके हितों और अधिकारों की रक्षा तथा प्रोत्साहन के लिए था। चुनाव कर्म राजा ही करता था। इसी प्रकार वनगमन के अवसर पर धृतराष्ट्र का केवल द्विजों को ही नहीं अपितु शूद्रों को भी सम्बोधित करने से[१२] शूद्रों की राजनीतिक चेतना और राजाओं द्वारा उनके अधिकारों की रक्षा का ज्ञान होता है।

सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण विषय तो यह था कि महाभारतकार ने जहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य के लिए क्रमशः वाग्दण्ड, हस्तदण्ड और धनदण्ड का

१. सभा ४५।४१-४२। २. सभा १९।५।
३. आरण्यक २०४।४-६; १९७।४१; १९८।१७। ४. वही ४१।
५. शान्ति १६२।२९-३२। ६. आश्वमे ५४।२९-३१। ७. सभा ३०।४१।
८. सभा ४८।३२। ९. आदि १७६।६। १०. आदि १३४।७।
११. शान्ति ८६।७-८। १२. आश्रम १३।१३।

विधान किया था, वहीं शूद्रों को निर्दण्ड घोषित किया था।[१] शरणार्थी शूद्रों की सम्यक् रक्षा से भी राजाओं को यश, कीर्ति, धन तथा सम्मानित कुल में जन्म मिलने[२] का उल्लेख है।

धार्मिक क्षेत्र में स्वतन्त्रता

पूर्वकाल में शूद्रों के लिए बन्द धर्म का द्वार महाभारत में खुल गया था और राजा कृष्ण के द्वारा ऐसा धर्म फैलाया जा रहा था जिससे स्त्री, शूद्र और वैश्य सदृश पापयोनियाँ भी परागति प्राप्त कर सकती थीं।[३] साथ ही भगवान् ब्रह्मा,[४] महाक्रौंच[५] आदि की पूजा चारों वर्णों के लोग करते थे। तीर्थों में जाने, आने और पूजा अर्चा,[६] दान, धर्म और स्वर्ग गमन[७] और श्राद्ध शूद्र भी कर सकते थे[८] और अतिथि के रूप में जाने पर ब्राह्मण के भी सम्मान के पात्र थे।[९] यज्ञ सदृश पुण्यतम[१०] और परमकल्याणकारी धर्म-कर्म चोर, महापापी आदि सब यथायोग्य रूप में कर सकते थे।[११] राजाओं के यज्ञों में शिल्पी और स्थपति यज्ञायतन का निर्माण करते थे।[१२] वास्तव में तो विधाता ने चारों ही वर्णों को यज्ञ के लिए बनाया था।[१३] धर्मराज के राजसूय में शूद्रों के साथ म्लेच्छगणों के अध्यक्ष भी आये थे[१४] सबकी तृप्ति अन्न-पान तथा धन से की गई थी।[१५] इन तथ्यों से सिद्ध होता है कि परिगणित जातियों का भी राजाओं ने अपना सक्रिय सहयोग देकर उद्धार करना प्रारम्भ कर दिया था और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उन्हें प्रोत्साहन दिया जाने लगा था। विभिन्न धार्मिक क्षेत्रों में शूद्रों को दी जाने वाली स्वतन्त्रता और अधिकार का उल्लेख द्वितीय अध्याय में किया जा चुका है।

नियोजन सम्बन्धी कतिपय राजकीय मान्यताएँ

राजा राज्यकर्म में नियुक्त व्यक्तियों को कुछ विशेष सुविधाएँ भी देता था। इससे एक परम्परा का ज्ञान होता है जिसे सम्भवतः न्यूनाधिक मात्रा में देश कालानुसार सभी राजे-महाराजे करते रहे होंगे।

यथायोग्य वेतन

सैन्य-कर्मों में नियोजित व्यक्तियों की परीक्षा करके यथायोग्य वेतन देने का विधान था। भीष्म का निधन सुनकर संजय से धृतराष्ट्र ने आश्चर्य प्रकट किया था—

---

१. शान्ति १५।९। २. आदि १५०।२४। ३. भीष्म ३१।३२; आश्वमे १९।५६।
४. भीष्म ६२।३९। ५. भीष्म १३।७। ६. आरण्यक ८०।५१।
७. शान्ति २८५।३९; आश्वमे ९४।३४। ८. अनुशा २३।३६।
९. अनुशा १४३।४१। १०. शान्ति ६०।५०-५१। ११. वही।
१२. आदि ४७।१४; आश्वमे ८६।२५। १३. अनुशा ४८।३।
१४. सभा ३१।९-१२। १५. आश्वमे ९१।२५; सभा ३२।१८।४८;३८।

नागाश्वरथयानेषु बहुशः सुपरीक्षितम् ।
परीक्ष्य च यथान्यायं वेतनेनोपपादितम् ॥—भीष्म ७२।९ ।

फिर पराजय नहीं होनी थी । यही बात द्रोण की मृत्यु के अनन्तर धृतराष्ट्र ने पुनः संजय से कही थी जिससे सैनिकों को यथान्याय वेतन देने का ही नहीं अपितु उनके प्रति समुचित स्नेह-भाव तथा नियोजन की निष्पक्षता भी झलकती है ।

भृताश्च बहवो योधाः परीक्ष्यैव महारथाः ।
वेतनेन यथायोग्यं प्रियवादेन चापरे ॥
अकारणभृतस्तात मम सैन्ये न विद्यते ।
कर्मणा ह्यनुरूपेण लभ्यते भक्तवेतनम् ॥
न च योधोऽभवत्कश्चिन्मम सैन्ये तु संजय ।
अल्पदानभृतस्तात न कुप्यभृतको नरः ॥
पूजिता हि यथाशक्त्या दानमानासनैर्मया ।
तथा पुत्रैश्च मे तात ज्ञातिभिश्च सबान्धवैः ॥—द्रोण ८९।२१-२४ ।

यथाकाल वेतन

कर्मचारियों को निश्चित समय पर वेतन देना उचित समझा जाता था । लोभ, मोह, विश्वास अथवा प्रेम के कारण कौतूहलवश भी कभी किसी का वेतन न रोकने के लिये नारद ने युधिष्ठिर से कहा था ।[1] सेवकों की आर्थिक स्थिति ठीक न होने से विपक्षीय राजाओं द्वारा धन पाकर इनके उनकी ओर मिलकर रहस्योद्घाटन का भय बना रहता था । किसी विपक्षी की कूटनीति में न फँसने पर भी यथाकाल वेतन न मिलने पर सेवकों के कोप का भय रहता ही है । अतः नारद ने इस विषय को भी लेकर युधिष्ठिर से प्रश्न किया था ।[2] विदुर ने भी धृतराष्ट्र को दूसरे शब्दों में इसी तथ्य का उपदेश दिया था ।[3] अकारण ही किसी सेवक को सेवामुक्त करना राजा के लिये अनुचित समझा जाता था ।[4]

पारितोषिक तथा विशेष सम्मान

राजस कर्मों में नियुक्त व्यक्तियों के लिये सम्मान, पारितोषिक और पदोन्नति का विशेष महत्त्व होता है । इससे उनकी रुचि-वृद्धि के साथ अन्य सेवकों की भी उत्साहवृद्धि होती है जिससे राष्ट्र का हित होता है । आधुनिक सम्मानपत्रों, उपाधियों, पदकों और पदोन्नति की भाँति उस समय भी विशेष सम्मान, पुरस्कार एवं पदोन्नति द्वारा कर्मचारियों की मानवृद्धि की जाती थी । किसी कर्मचारी के साहसपूर्ण, सुन्दर और हितकर कार्य सम्पादन पर राजाओं की ओर से उसके

---

१. सभा ५।८२ । २. सभा ५।३८,३९ । ३. उद्योग ३७।२१ ।
४. अनुशा २३।७८ ।

सम्मान और भक्त-वेतन को अधिक करने की योजना थी। भीष्म ने स्पष्टरूप से यह निर्देश दिया था कि जो शत्रु-सेना को छिन्न-भिन्न कर दे अथवा अपनी तितर-बितर सेना को सँभाल ले उसे राजा को अपने समान अशन-पान की व्यवस्था करनी चाहिए और उनका वेतन दूना कर देना चाहिए।[1] साथ ही—

दशाधिपतयः कार्याः शताधिपतयस्तथा।

तेषां सहस्राधिपतिं कुर्याच्छूरमतन्द्रितम्॥—शान्ति १०१।२८।

यथान्याय, यथाकाल वेतन तथा पारितोषिक और विशेष सम्मान केवल सैन्यकर्म में ही नहीं अपितु नियोजन के समस्त क्षेत्रों में समझना चाहिए। उस समय सेना की महती आवश्यकता तथा सैन्यकर्म में विशेष नियोजन होने के कारण निदर्शन-रूपेण इन्हीं का वर्णन उपलब्ध होता है। पारितोषिक और दान व्यक्ति के वर्ण के अनुसार भी हो सकता था। क्षत्रियों को रक्षाकर्म में पदोन्नति और सम्मान, वैश्यों को धन-दान अथवा गोपालों में पदोन्नति द्वारा और शूद्रों को भोजन, वस्त्र तथा गृह द्वारा सन्तुष्ट किया जाता होगा। दमयन्ती के पिता भीम ने ब्राह्मणों को नल-दमयन्ती का पता लेकर आने पर पारितोषिक रूप में—

गवां सहस्रं दास्यामि यो वस्तावानयिष्यति।

अग्रहारं च दास्यामि ग्रामं नगरसंमितम्॥—आरण्यक ६५।३।

कहा था। ये वस्तुएँ केवल ब्राह्मणों को ही दी जाती थीं।

इस प्रकार महाभारतकालीन राजाओं ने उस युग की प्रचलित सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक समस्त मान्यताओं को अपनाकर यथा-संभव लोक-पोषण करने की चेष्टा की थी और आवश्यकतानुसार उनमें अपना योग दिया था। प्रजा में कोई भी भूखा-प्यासा न रहे, सब सबको समान दृष्टि से देखें और सब परस्पर भरणपोषण में समर्थ हों, इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु राजाओं का सतत प्रयास दृष्टिगोचर होता है।

———

१. शान्ति १०१।२७।

अष्टम अध्याय

शिक्षा-हेतु राजकीय योजनाएँ

[भूमिका, शिक्षा के केन्द्र—

अ—आश्रम, इनकी रक्षा,

आ—नगरों में शिक्षा-व्यवस्था-शस्त्रास्त्र की शिक्षा, स्त्रीशिक्षा और ललित-कला के केन्द्र, शिक्षकों की आवास-व्यवस्था,

इ—ग्रामों में शिक्षा का प्रवन्ध,

ई—शिक्षा के क्षेत्र में राजाओं का आर्थिक योगदान—दान, गुरुदक्षिणा, करमुक्ति, नियोजन,

उ—ज्ञानप्रसार में राजा का योगदान—लोक की जिज्ञासा, राजाओं की ज्ञानपिपासा, सभा में कथाओं का आयोजन, यज्ञवाट में अवसर, शिक्षा और ज्ञान प्रसार-हेतु स्वधर्म-प्रवर्तन]

प्राचीन भारत में प्रायः वैदिक शिक्षा को शिक्षा और ब्राह्मणों को शिक्षक स्वीकार किया गया था। अध्यापन ब्राह्मणों का विशेष धर्म—स्वधर्म था। महाभारत काल में भी इस परम्परा का दर्शन होता है। ब्राह्मणलोग आश्रमों, नगरों और ग्रामों में रहा करते थे। अतः इन स्थानों पर शिक्षा-दीक्षा का कार्य स्वतः प्रारम्भ हो जाया करता था। अतः इन स्थानों की अपेक्षित व्यवस्था कुछ शिष्य और शिक्षकवर्ग स्वयं कर लेते थे, कुछ समाज करता था और उस पर भी आवश्यकता होने पर राजा अपना महत्त्वपूर्ण योग-दान देता था।

शिक्षा के केन्द्र

जिस प्रकार वर्तमान काल में दैशिक और कालिक परिस्थितियों के अनुसार विभिन्न विषयों के शिक्षा-केन्द्र भिन्न-भिन्न स्थानों पर स्थापित किये जाते हैं, उसी प्रकार सुविधानुसार महाभारत काल में भी आश्रमों, नगरों और ग्रामों में शिक्षा के केन्द्र थे।

आश्रमों में शिक्षा

वानप्रस्थ तपस्वी और सामान्य गृहस्थ ब्राह्मण भी, जिन्हें अध्ययन-अध्यापन से विशेष रुचि थी, आश्रमों में जन-कोलाहल से दूर, रहा करते थे। उनके पास उपनयन संस्कार के पश्चात् ब्रह्मचारी शिक्षा ग्रहण करने के निमित्त जाते थे। वे गुरु के आश्रम में उनके कुल और परिवार के एक सदस्य की भाँति रहते

थे, तथा गुरु भी उन्हें पुत्र सा स्नेह देते थे।[1] अपना घर छोड़ कर शिक्षा के निमित्त एकत्र हुए बालक 'गुरुकुल' के बन जाते थे। आज भी दूर-दूर से विद्याकामी छात्र शिक्षा-केन्द्रों में एकत्र होकर पढ़ते-लिखते हैं।

महाभारतकालीन शिक्षा-केन्दों में कण्व का आश्रम अत्यन्त प्रसिद्ध था। उस स्थान की प्राकृतिक छटा अत्यन्त मनोरम थी। वहाँ पर चतुर्वेद, शिक्षा, न्याय, व्याकरण आदि का अभ्यास होता था।[2] आयोदधौम्य के आश्रम में आरुणि, उपमन्यु और वेद नामक तीन प्रमुख शिष्यों[3] ने तथा गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने पर वेद के भी तीन शिष्यों ने शिक्षा पाई थी,[4] जिनमें उत्तंक वृद्धावस्था तक वहीं रहे और अन्त में गुरु की कृपा से ज्ञान और नव-वय दोनों पाया था।

विश्वामित्र, वसिष्ठ, परशुराम, व्यास आदि गुरुओं के भी आश्रमों में शिक्षा-ग्रहण करने की लालसा से ब्रह्मचारी जाया करते थे। द्रोण भी अपने पुत्र अश्वत्थामा के साथ पहले आश्रम में ही रहते होंगे, किन्तु बाद में द्रुपद से धन न मिलने पर अर्थकष्ट के कारण हस्तिनापुर आये थे। द्रोण[5] और कर्ण ने[6] परशुराम के साथ रहकर शस्त्रशिक्षा ली थी। राजर्षि भीष्म ने देवर्षियों को सन्तुष्ट करके राजनीति, च्यवन और वसिष्ठ से वेद-वेदांग, कुमार से अध्यात्म-शास्त्र, मार्कण्डेय से यतिधर्म और परशुराम तथा इन्द्र से शस्त्र का ज्ञान प्राप्त किया था।[7] विश्वामित्र का परमप्रिय शिष्य गालव था, जिसने उनके आश्रम में रहकर शिक्षा प्राप्त की थी।[8] महर्षि व्यास के पाँच शिष्यों ने उनके आश्रम में महाभारत पढ़ा था।[9]

आश्रमों में ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि के पुत्र प्रधानतः वेद, वेदांग और शास्त्र तथा रुचि के अनुसार शस्त्रविद्या समान रूप से सीखते थे। ये आश्रम शिक्षा के केन्द्र थे जहाँ पर शिष्यों की संख्या दो तीन अथवा दशाधिक न होने पर भी शिक्षा दी जाती थी। गुरु जो कुछ भी जानते थे, शिष्य में संक्रान्त कर देने की चेष्टा करते थे। जो आचार्य कुछ विशेष विषयों के अधिकारी होते थे—जैसे परशुराम शस्त्रविद्या के और च्यवन तथा वसिष्ठ वेद-वेदांग के—उनके पास केवल वही शास्त्र पढ़ने के लिए विद्यार्थी जाते थे। किन्तु सामान्यतः आश्रमों को अध्यात्म विद्या अथवा वेदशास्त्र आदि की शिक्षा का केन्द्र माना जाता था।

सामान्य द्विजवर्ग की भाँति राजपुत्र भी गुरुकुल में रहकर शास्त्र और

---

१. द्रोण १६६।६। २. आदि ६४।१५-४१। ३. आदि ३।१९।
४. वही ८३,८४। ५. आदि १२१।२१-२२। ६. शान्ति २।१९;३।२।
७. शान्ति ३८।९-१३। ८. उद्योग १०४।९,१४,१९। ९. शान्ति ३३७।९-१२।

शस्त्र की विद्या गुरुशुश्रूषापूर्वक ग्रहण करते थे। द्रोण और यज्ञसेन द्रुपद दोनों ने एक साथ ही महर्षि अग्निवेश्य से शस्त्र और शास्त्र की शिक्षा पाई थी।[१]

अतः इन अध्ययन केन्द्रों से राजकुलों का निकट का सम्बन्ध स्थापित हो जाता था। फलस्वरूप उनकी रक्षा और वहाँ पर सुखसुविधा का प्रबन्ध करते समय राजा को आत्मीयता की अनुभूति होती होगी और उनका प्रबन्ध तन-मन-धन से करने को सर्वदा तैयार रहते होंगे।

आश्रमों की रक्षा

गुरुकुल जो वनों में होते थे, लोकबाधा से दूर होते थे। तपोधन ऋषियों और ज्ञानधन ब्राह्मणों को लोक श्रद्धा की दृष्टि से देखता था। ब्राह्मणों की अवध्यता की व्यापक मान्यता लोक में थी।[२] सामान्य विपत्तियों से कुलपति ऋषि आश्रम की रक्षा स्वयं करते थे। कण्व के आश्रमों को 'काश्यपतपोगुप्तम्'[३] कहा गया है।

किन्तु बाह्य और आभ्यन्तर उपद्रवों से राजा इनकी रक्षा करता था। वे स्वयं आश्रमों के शान्त, शुद्ध और मनोरम वातावरण को भंग करने से सदा डरते थे। जब कभी वे आश्रमों का निरीक्षण करने जाते थे, उस समय यह ध्यान रखते थे कि किसी भी प्रकार उन क्षेत्रों में भय का संचार न हो। दुःपन्त कण्व ऋषि के आश्रम में पहुँचने पर अपने सैनिकों और साथियों को छोड़कर साधारणवेश में प्रविष्ट हुए थे। आश्रमों में प्रवेश करते समय सैनिकों को दूर ही रोक देना राजाओं के लिए परम्परा सा बन गया था जिसका दर्शन अभिज्ञानशाकुन्तलम् में भी होता है।[५]

नगरों में शिक्षा-व्यवस्था

द्विजगण आश्रमों में जाकर शिक्षा ग्रहण कर सकते थे। किन्तु महाभारत में नगरों में भी शिक्षा की व्यवस्था थी। जिस प्रकार आश्रमों में विशेषतः वेद, वेदांग और धर्म से सम्बद्ध विषय पढ़ाये जाते थे, उसी प्रकार, आश्रमों में भयसंचार न हो, इस दृष्टिकोण से नगरों में अस्त्र-शस्त्र की तथा स्त्रियों के जीवनोपयोगी शिक्षा की व्यवस्था थी।

शस्त्रास्त्र-शिक्षण

उस समय परराष्ट्रावमर्दन प्रत्येक राजा का धर्म बन गया था। अतः आक्रमण करने और उन से बचने के लिए रणशिक्षा, राजनीति आदि की विशेष आवश्यकता थी। राजा ऐसी शिक्षा का प्रबन्ध स्वयं अपने नगर में अपनी

---

१. आदि १२२।२४,२६,२७। २. आरण्यक १८९।१८।
३. आदि ६४।४१। ४. आदि ६४।२६-२७। ५. अभिशा० प्रथम अंक।

देख-रेख में कराता था। अतः नारद ने युधिष्ठिर से पूछा था कि—

कच्चिदभ्यस्यते शश्वद् गृहे ते भरतर्षभ।
धनुर्वेदस्य सूत्रं च यन्त्रसूत्रं च नागरम् ॥—सभा ५।११०

हस्तिनापुर तत्कालीन शस्त्रशिक्षा का सर्वप्रमुख केन्द्र वन गया था। भीष्म, द्रोण, कृप, अश्वत्थामा, अर्जुन आदि महाधनुर्धर और रणविद्याकोविद वीर वहाँ रहते थे। कृप राजा शंतनु की संरक्षकता में पले थे और अस्त्रविद्या सीख कर आचार्य वन गये थे। प्रारम्भ में कौरवों और पाण्डवों ने इनसे धनुर्वेद की शिक्षा ली थी और कीर्ति फैलने पर वृष्णि आदि सम्बन्धित जनपदों के अतिरिक्त अन्य देशों के भी राजपुत्र शस्त्रास्त्र सीखने आते थे।[1] द्रोण से भी रणविद्या सीखने के लिए अनेक देशीय और विदेशीय राजा तथा राजपुत्र जाया करते थे।[2] द्रोण की भाँति वीर अश्वत्थामा से रणकौशल और यथायोग्य शिक्षा के लिए ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य आते थे।[3] धृष्टद्युम्न,[4] उनके पुत्रों ने[5] भीष्म से और उत्तर भूमिंजय आदि ने[6] भी 'तीर्थों' से शिक्षा प्राप्त की थी। ऐसे शिक्षाकेन्द्रों पर अर्जुन सदृश वीरों से भी राजपुत्र शिक्षा ग्रहण करते थे।[7]

बलराम से दुर्योधन और भीम दोनों के गदा[8] तथा द्वारका में अभिमन्यु तथा द्रौपदी के पुत्रों के रणविद्या सीखने[9] के उल्लेखों से द्वारका में भी क्षत्रविद्या के केन्द्र होने का अनुमान होता है। सामान्यतः तो प्रत्येक जनपद की राजधानी युद्धविद्या का केन्द्र हुआ करती थी, क्योंकि वहाँ पर मूर्धन्य वीर एकत्र रहते थे और आधुनिक सैनिकों की भाँति सम्भव है उन दिनों भी प्रत्येक रणविद्याविशारद अपने-अपने गुप्त-प्रयोगों का अभ्यास कराते रहे हों।

स्त्री-शिक्षा और ललितकला-केन्द्र

उस समय नारी को 'गृहदीप्ति'[10] और उनके जीवन की सफलता रति और पुत्रोत्पादनमात्र[11] स्वीकृत कर उनका कार्यक्षेत्र गृह ही माना गया था। अतः न तो उनको ब्राह्मणों की भाँति वेदमन्त्रों को कण्ठाग्र करने की आवश्यकता थी और न क्षत्रियों की भाँति शस्त्रविद्या के ज्ञान की ही। फलस्वरूप उन्हें गुरुओं के आश्रमों में जाकर रहने की विवशता नहीं थी। "उत्तररामचरितम्" की तापसी की भाँति आश्रम से आश्रम और गुरु से गुरु के पास भटकती हुई नारियों का उल्लेख नहीं। उनका ज्ञानवर्धन प्रायः समागत अतिथियों, ऋषियों, मुनियों अथवा

---

१. आदि १२०।२०-२१। २. आदि १२३।९;१२२।४६।
३. द्रोण ८।११;६१।१२। ४. भीष्म २३।३। ५. द्रोण ९।४८।
६. विराट ४०।१६-१७। ७. सभा ४।२८-३०। ८. शल्य ३३।२,३,५।
९. आरण्यक १८०।२३-३०। १०. उद्योग ३८।११। ११. सभा ५।१०१।

कुटुम्ब के वृद्धवृद्धाओं से होता था। इन रीतियों से ही विदुला,[१] गान्धारी,[२] कुन्ती,[३] द्रौपदी[४] आदि राजमहिषियों को इतना ज्ञान मिल गया था कि आवश्यकता पड़ने पर वे अपने पति-पुत्रों तथा सखियों को कर्तव्य का निर्देश शास्त्रीय आख्यानों और वैदिक ऋचायों के उद्धरणों से दे सकती थीं। द्रौपदी के सत्यभामा[५] और शकुन्तला के दुःपन्त[६] से हुए वार्तालाप से इनके स्त्रीधर्म तथा वेदमन्त्रज्ञान की झलक मिलती है। आश्रम कन्याओं को, पुरुषछात्रों की भाँति बैठाकर अलग-अलग या सहशिक्षा के रूप में पढ़ाने का स्पष्ट उल्लेख नहीं है।

गृह में रहने, पतिप्रसादन तथा रतिसम्पादन प्रधान उद्देश्य होने से ललितकलाओं में स्त्रियों का विशेष अधिकार था और उनके लिये स्वतन्त्रता भी थी। राजाओं ने इस प्रकार की शिक्षा का प्रबन्ध अपने-अपने नगरों में कराना प्रारम्भ कर दिया था।

पुरस्त्रियों को ललितकलाओं की शिक्षा देने के लिये नर्तनागार आदि बनवाने का एकमात्र निदर्शन मत्स्यराट् विराट की राजधानी में मिलता है। विराट ने जो नर्तनागार बनवाया था, उसमें दिन में पुरकन्यायें नृत्य-गान सीखती थीं और रात्रि में घर चली जाती थीं।[७] नपुंसक तथा वेश्याएँ नृत्यगीत सिखाने का काम करती थीं। जनक के अन्तःपुर की वेश्यायें 'नृत्यगीतविशारदा' थीं।[८] युधिष्ठिर के पोष्य ब्राह्मणों की सेविकाएँ दासियाँ भी ललितकलाओं में निपुण थीं।[९]

इन सन्दर्भों और विराट नगरी में प्रवेश के पूर्व ही वहाँ की पुरस्त्रियों को नृत्य, गीत आदि सिखाने की अर्जुन की योजना[१०] से ज्ञात होता है कि प्रत्येक राजधानी में ललितकलाओं की शिक्षा का प्रबन्ध था और वह स्त्रियों के लिये ही था। अन्यथा अर्जुन उतने पूर्णविश्वास के साथ परम्परा को जाने बिना, नृत्यगीत-शिक्षा के लिये अपने भाव प्रकट न करते।

शिक्षकों की आवास-व्यवस्था

नगरों में शिक्षा देने वाले शिक्षकों, आचार्यों के निवास की विशेष व्यवस्था की जाती थी। कुशल आचार्यों की तत्कालीन शासक एक-दो दिन, अथवा कुछ मास पर्यन्त ही नहीं अपितु सपरिवार आजीवन रहने की व्यवस्था कर देते थे। पुरनिर्माण के समय ब्राह्मणों के रहने का प्रबन्ध राजा से अपेक्षित था। भीष्म ने उपदेश दिया था कि राजा को ऋत्विक् और पुरोहितों के समान आचार्यों को

१. उद्योग १३१-१३४। २. उद्योग ६७।९-१०; १२७।११-५३; १४६।२७-३५। ३. उद्योग १३०-१३५। ४. आरण्यक २८,३०,३१। ५. आरण्यक २२२-२२३। ६. आदि ६८।६२-६३। ७. विराट २१।३। ८. शान्ति ३१२।३५। ९. आरण्यक २२२।४४-४५। १०. विराट २।२३-२४; १०।८-१२।

भी विशेष सम्मान देकर नगर में बसाना चाहिए।[१] वृत्ति के अभाव में राज्य छोड़कर देशान्तर को जा रहे वेदविद् ब्राह्मण को किसी भी मूल्य पर रोकना अनिवार्य था।[२] वृषपर्वा की राजधानी को छोड़कर जा रहे शुक्र को उसने अपनी कन्या को भी पराधीन करके रोका था।[३] युधिष्ठिर ने खाण्डवप्रस्थ बसाते समय सर्ववेदविद्, वेदपारग, बहुभाषाविद् ब्राह्मणों को स्थान दिया था।[४] निश्चित ही समस्त ब्राह्मणवर्ण केवल अध्यापन कार्य न करता रहा होगा, तथापि अन्य गृहस्थ ब्राह्मणों में शिक्षा देने वाले आचार्य भी अवश्य होते रहे होंगे।

आचार्य कृप के जीवन का आदिकाल शंतनु तथा शेष भीष्म, धृतराष्ट्र आदि की संरक्षकता में बीता था।[५] द्रोण के शस्त्रकौशल से प्रसन्न होकर भीष्म ने उनको आजीवन अपने राज्य में रखा और सभासद नियुक्त किया था।[६] द्रोण के साथ अश्वत्थामा भी रहे थे।

विद्वानों के बसने के कारण प्राचीन भारत में राजधानियाँ भी शिक्षा के केन्द्र बन सकीं थीं और उनको बनवाने वाले राजा ही थे।

ग्रामों में शिक्षा का प्रबन्ध

आश्रमों तथा नगरों में जिस प्रकार विद्वान् गुरु रहते थे, आमन्त्रित किये जाते थे अथवा स्वयं आकर रहते थे, उस प्रकार से ग्रामों में बसाने और राजकीय संरक्षण का विशेष उल्लेख नहीं। किन्तु अनेक अवसरों पर विद्वान् ब्राह्मणों को अग्रहार दिये जाते थे। ब्राह्मणों को ग्रामों में बसाकर, उस स्थान से होने वाली समस्त आय राजा ब्राह्मणों को दे देता था। इस प्रकार के ग्रामदान को अग्रहार कहते हैं।[७] ये ग्राम भी विद्वान् ब्राह्मणों के रहने से शिक्षा के केन्द्र बन जाते थे और वहाँ पर अध्ययन-अध्यापन का कार्य प्रारम्भ हो जाता था। ग्राम-दान तथा अग्रहार में भेद संभवतः यह होता था कि प्रथम में ब्राह्मणों को केवल ग्राम की राजकीय आय मात्र दी जाती थी, वे कहीं भी रहें, किन्तु अग्रहार में वहाँ उनका निवास भी अभीष्ट था।

महादान के अवसर पर अग्रहार दान के लिये युधिष्ठिर ने विदुर को धृतराष्ट्र की इच्छानुसार अनुमति दी थी।[८] उस समय तो धृतराष्ट्ररूपी दयासिन्धु ने ग्राम और अग्रहार की धाराओं से संसार को आप्लावित कर दिया था।[९] विदर्भ के राजा भीम ने नल-दमयन्ती को खोज निकालने वाले ब्राह्मणों को अग्रहार और बड़े-बड़े ग्राम देकर सन्तुष्ट करने की प्रतिज्ञा की थी।[१०]

---

१. शान्ति ८७।७,९,१६,१८। २. शान्ति ९०।३-४। ३. आदि ७५।१५-१७।
४. आदि १९९।३७। ५. आदि १२०।१९-२०। ६. आदि १२२-१२३।
७. A. S. Altekar : Education in Ancient India, p. 92, fn.
८. आश्रम १९।११,१२। ९. आश्रम २०।१३। १०. आरण्यक ६५।३।

अग्रहारों की विशेष प्रथा दक्षिण भारत में थी। वहाँ परवर्ती काल में कदियुर और सर्वज्ञपुर अग्रहारशिक्षा के प्रमुख केन्द्र थे। उत्तरभारत में इनके समान संस्थाओं को 'टोल' नाम से अभिहित किया जाता है।[१] अग्रहारों से ब्राह्मणों की निवास-समस्या भी हल हो जाती थी।

शिक्षा के क्षेत्र में राजाओं का आर्थिक योगदान

आश्रमों में फल, मूल प्रायः पर्याप्त मात्रा में सुलभ थे। गुरु और शिष्य दोनों तपोमय जीवन व्यतीत करते थे। अतः सामान्य आवश्यकता के पदार्थों की उपलब्धिमात्र से वे सन्तुष्ट थे। विद्यार्थी ब्रह्मचारी भिक्षा लाता था और उससे उसका तथा गुरु का उदरभरण होता था। आश्रमों और अग्रहारों में अधिकांश आवश्यकताएँ विद्यार्थी स्वयं पूर्ण कर लेते थे। उपनिषद् काल से ही शिष्यों को गोचारण कर्म में प्रवृत्त किया जाता था। महाभारत में उपमन्यु को गोचारण[२] तथा आरुणि उद्दालक को खेतों की देखरेख के लिए आचार्य धौम्य ने भेजा था।[3] अग्रहार केन्द्रों में भी इसी प्रकार के कार्य छात्रों से कराये जाते होंगे। आधुनिक युग के विश्वविद्यालयों और अन्य शिक्षण संस्थाओं में कराये जाने वाले 'श्रमदान' के ये कर्म निदर्शन हैं। तथापि अधिक आवश्यकता पड़ने पर गुरुगण अपने शिष्यों के साथ अथवा स्वयं राजाओं की सभा, अथवा यज्ञभूमि में उपस्थित होकर धन ले आते थे। उत्तंक को अपनी पत्नी की रक्षा के लिए नियुक्त करके वेद नामक गुरु के राजा के यज्ञ में जाने का उल्लेख है।[४]

नगर के शिक्षाकेन्द्रों की समग्र व्यवस्था राजा को ही करानी पड़ती होगी। सम्भव है श्रद्धा और भक्ति से समन्वित राजकुमार गुरुओं की परिचर्या और शुश्रूषा आश्रमवासी शिष्यों की भाँति स्वेच्छया करते रहे हों, किन्तु राजभवनों में रहने और राजाओं के आश्रय पाने से सामान्यतः यही अनुमान होता है कि आचार्यों की समस्त व्यवस्था यथाशक्ति राजा अपने सेवकों से कराता रहा होगा। अतः ये नगर के गुरुगण आवास, भोजन, वस्त्र आदि की चिन्ताओं से मुक्त होकर शिक्षण में रत रहते होंगे।

अग्रहार शिक्षाकेन्द्रों के विषय में अधिक विवरण नहीं उपलब्ध होते, तथापि यह तो निश्चित ही ज्ञात होता है कि इनके निवासी शिष्यों और शिक्षकों को आवास तथा भोजन सम्बन्धी चिन्ताएँ न रहती होंगी। रहने के लिए राजा द्वारा दिये गये ग्राम थे, भोजन के लिए उनसे प्राप्य अन्न-राशि।

इतनी आत्मनिर्भरता होने पर भी राजाओं द्वारा दी गई सहायता से इन

---

१. डा० रामजी उपाध्याय : भारतस्य सांस्कृतिकनिधिः, पृष्ठ ५५।
२. आदि ३।३३। ३. आदि ३।२०,२१,२५। ४. आदि ३।८५-८६।

शिक्षा-केन्द्रों में एक निखार सा आ जाता था। आजकल भी व्यक्तिगत शिक्षा-संस्थाओं में (Private Educational Institutions) आत्म-निर्भर होने पर भी राजकीय सहयोग की अपेक्षा की जाती है, और उसके मिलने पर कार्य सुचारु रूप से चलने लगता है।

दान

वर्तमान काल में राज्य की ओर से शिक्षा-विभाग निर्धारित किये जाते हैं। ये शिक्षा-विभाग शिक्षा-सम्बन्धी अन्य कार्यों के निरीक्षण के साथ किसी भी संस्था को यथावश्यक अनुदान देते हैं। उस समय ऐसे विभाग नहीं निर्धारित थे, अपितु धार्मिक रूप से विभिन्न अवसरों पर महादान किये जाते थे। विप्रों को, जो लोकगुरु माने जाते थे, उस समय आवश्यकता की प्रायः समस्त सामग्री, गो, पशु, अन्न, वस्त्र, हिरण्य, पात्र आदि दिये जाते थे।[1] यह निश्चित है कि दान लेने के लिए केवल शिक्षक आचार्य ही नहीं आते थे और न सभी ब्राह्मण शिक्षक ही होते थे, तथापि उन दान-पात्र ब्राह्मणों में प्रायः सबके विद्वान् होने की आशा की जाती थी और गृहमेधी स्नातकों के साथ आचार्य गण भी आते रहे होंगे। अतः यज्ञ, उत्सव, श्राद्ध और पुण्य क्षणों में दी गई अतुल सम्पत्ति आचार्य ब्राह्मणों के व्यय के लिए पर्याप्त होती होगी।

युधिष्ठिर के राजसूय तथा अश्वमेध में सोना, भूषण, मूल्यवान् तोरण, यूप, घट, वर्तन आदि सर्वप्रथम अत्यधिक मात्रा में ब्राह्मणों में वितरित किया गया था। किन्तु अश्वमेध में इन पदार्थों की मात्रा इतनी प्रचुर थी कि जब विप्रगण इन्हें न ले जा सके तब अन्य वर्ण ले गये।[2]

श्राद्ध में कार्तिकी पूर्णिमा के दिन धृतराष्ट्र ने ब्राह्मणों को रत्न, गो, दासी, दास, अजा, भेड़, सुवर्ण, मणि, कम्बल, अजिन, परिधान, ग्राम, क्षेत्र, अलंकार, गज, अश्व, कन्या तथा सुन्दरियों को दान में दिया था।[3] उस समय का अत्यन्त सजीव वर्णन महाभारतकार ने किया है—

> एवं स वसुधाराभिर्वर्षमाणो नृपाम्बुदः।
> तर्पयामास विप्रांस्तान् वर्षन्भूमिमिवाम्बुदः ॥—आश्रम २०।१०

पाण्डु के भी और्ध्वदेहिक कर्म के समय इसी प्रकार से मुक्तहस्त होकर दान दिये गये थे।[4] वलि ने शम्याक्षेपविधि से पृथ्वी का दान ब्राह्मणों को दिया था।[5]

प्रायः प्रत्येक जनपद में पुण्यपर्वों पर विशेष रूप से ब्रह्मभोज और दक्षिणा-दान कराया जाता था। राक्षसराज विरूपाक्ष सदृश राजाओं के राज्य में भी आषाढ़ी,

---

१. शान्ति १२।२८;१४।३९। २. आश्वमे ९१।२४-२५।
३. आश्रम १९।११-१२;२०।३-४। ४. आदि ११९।२-३। ५.शान्ति २१६।२२।

माघी, चैत्री आदि पूर्णिमाओं के दिन सहस्त्रों विद्वान् ब्राह्मणों को भोजन कराया जाता था जिनको चित्र-विचित्र बहुमूल्य दक्षिणाएँ भी मिलती थी।[1] वह ब्राह्मणों को—

सुवर्णं रजतं चैव मणीनथ च मौक्तिकम्।
वज्रान्महाधनांश्चैव वैडूर्याजिनरांङ्कवान्॥
रत्नराशीन् विनिक्षिप्य दक्षिणार्थं स भारत।—शान्ति १६५।१७-१८।

इसके अतिरिक्त वह आज्ञा देता था कि जिन-जिन पात्रों का प्रयोग ब्राह्मणों ने किया था उनको भी वे अपने साथ लेते जायें।[2]

आश्रमों में विशेष दान

अरण्य में रहने वाले तपस्वियों को यथाकाल समादरपूर्वक आश्रम में ही वस्त्र, भोजन और पात्रों की व्यवस्था करना राजा का कर्तव्य था। भीष्म के अनुसार—

आश्रमेषु यथाकालं चेलभाजनभोजनम्।
सदैवोपाहरेद्राजा सत्कृत्यानवमन्य च॥—शान्ति ८७।२५।

इसके अतिरिक्त राजा को सर्वदा तपस्वियों से राज्य का तथा अपना निवेदन करना चाहिए, उनके सब कार्यों के लिए सर्वदा सन्नद्ध भी रहना चाहिए।[3] युधिष्ठिर के आरण्यक तपस्वियों को लौह-पात्र आदि देने का उल्लेख द्रौपदी ने भी किया था।[4] धृतराष्ट्र के दर्शन की अभिलाषा से आश्रम जाने पर युधिष्ठिर ने वानप्रस्थों को आवश्यकता की अनेक वस्तुएँ दी थीं।[5] प्रायः ये आश्रम शिक्षा के केन्द्र होते थे। उस समय महर्षि कण्व का आश्रम जो एक महान शिक्षा केन्द्र था, ऐसे तपस्वियों का निवासस्थल था।[6]

गुरुदक्षिणार्थं धन

शिष्यों द्वारा दी गई गुरुदक्षिणा से आचार्य अपने परिवार तथा शिष्यों का पालन-पोषण करता था। अतः तैत्तिरीय उपनिषद् में अपने प्रजातन्तु को अविच्छिन्न रखते हुए, यथाशक्ति गुरुदक्षिणा देने का विधान किया गया था।[7] विद्याग्रहण के पश्चात् आचार्य की मनःकामना की पूर्ति करके घर आने से देवत्व प्राप्ति[8] होती है, ऐसा महाभारतकार का भी मत था। ब्रह्मचारियों को गुरुदक्षिणा का धन राजाओं से मिलता था। राजा विद्यार्थियों की दक्षिणार्थ की गयी याचना सिर-आँखों पर लेकर, उसे पूर्ण करने में अपना अहोभाग्य समझता था। गालव की याचना पर ययाति के शब्द—

---

१. शान्ति १६५।१०,१५-१६। २. वही १९। ३. शान्ति ८७।२६।
४. आरण्यक ३१।१२। ५. आश्रम ३४।१२-१५। ६. आदि ६४।१५-६४।
७. तैत्तिरीय उप १।११।१। ८. द्रोण १२२।२१।

अतीत्य च नृपानन्यानादित्यकुलसंभवान् ।
मत्सकाशमनुप्राप्तावेतौ बुद्धिमवेक्ष्य च ॥
अद्य मे सफलं जन्म तारितं चाद्य मे कुलम् ।
अद्यायं तारितो देशो मम तार्क्ष्य त्वयानघ ॥—उद्योग ११३।४,५ ।

राजा पौष्य ने उत्तंक की याचना पर देव, दानव तथा नागों के चिर-वांछित और दुर्लभ दिव्य कुण्डल अपनी पत्नी से दिला दिया था।[१] महाराज ययाति ने अपनी अतुलरूपवती सुन्दरी कन्या माधवी को ही गालव की दक्षिणा की सिद्धि के लिए दे दिया था।[२] दक्षिणा हेतु राजप्रयास की परम्परा रघुवंश[३] आदि में भी दृष्टिगोचर होती है।

कर-मुक्ति

राजा लोग परोक्ष रूप से भी आर्थिक सहयोग शिक्षकों और शिष्यों को देते थे। आपस्तम्ब[४] और वसिष्ठ[५] दोनों ने शिक्षकों और विद्यार्थियों को करमुक्त करने की सम्मति दी थी। महाभारतकार ने भी श्रोत्रियों और विद्यार्थियों को छोड़कर स्वधर्मच्युत ब्राह्मणों से बलि लेने का विधान किया था। अन्य वर्णों के निःसन्तान व्यक्तियों के मरने पर उनकी सम्पत्ति को राजा को ले लेने का विधान किया था, किन्तु ब्राह्मणों की नहीं।[६]

नियोजन

राजकार्यों में भी विद्वानों का नियोजन होता था, जिससे शिक्षितों को आर्थिक निराशा बहुत कम होती थी। आज कल भी शिक्षित समुदाय का विशेष नियोजन राजकार्यों में होता है, अतः लोग शिक्षा की ओर अधिक उन्मुख हो रहे हैं, क्योंकि नियोजित होकर उनका जीवन सुखपूर्वक, विशेष अर्थसंकट के विना, बीत सकता है। शुक्र ने तो विद्यार्थियों को भृति देकर पढ़ाने और बाद में उनको बुलाकर राजकीय कर्मों में नियोजित करने का उल्लेख किया है।[७]

शिक्षित ब्राह्मणों का नियोजन प्रायः पुरोहित और गृहमेधी स्नातकों के रूप में किया जाता था। वसिष्ठ,[८] मनु[९] और कौटिल्य[१०] सब ने पुरोहित की नियुक्ति पर बल दिया था। महाभारत में भी जनमेजय स्वयं जाकर सोमश्रवा के पुत्र को पौरोहित्य कर्म के लिए लाये थे।[११] गृहमेधी स्नातक राजा के गृह्यकर्मों का अनुष्ठान कराते थे। युधिष्ठिर ने अट्ठासी हजार गृहमेधी स्नातकों की नियुक्ति की

---

१. आदि ३।१०९,१११,११८। २. उद्योग ११३।१२। ३. रघुवंश पंचम सर्ग।
४. आप० ध० सू० २।१०।२६।१०,१३। ५. वा० ध० सू० राजधर्माः २४,३७। ६. शान्ति ७७।७-१०। ७. शुक्रनीतिसार १।३६८।
८. वा० ध० सू० राजधर्माः ४। ९. मनु ७।७८। १०. अर्थशा १।९।
११. आदि ३।१७।

थी। तीस-तीस दासियाँ प्रत्येक व्यक्ति की सेवा करती थीं।[१] सम्राट् जरासंध अर्धरात्रि में भी स्नातकों की सेवार्थ तैयार रहता था।[२]

ज्ञान-प्रसार में राजा का योगदान

वेद, वेदांग आदि का ज्ञान और अभ्यास द्विजों के लिए विहित था। शेष वर्ण उनमें निहित ज्ञान से वंचित रह जाता था और केवल अध्ययन, अध्यापन में न लगे रहने वाले द्विज वर्ण भी उनके पूर्णज्ञान से वंचित रह जाते होंगे। साथ ही देश, जाति, कुल आदि के धर्म तथा विभिन्न अनुभवी ऋषियों, मुनियों, ज्ञानियों और पर्यटकों के ज्ञान की अपेक्षा प्रत्येक वर्ण के व्यक्ति को थी।

लोक की जिज्ञासा

महाभारतकालीन समाज में ज्ञान के लिये एक उत्कट अतर्प्य जिज्ञासा दृष्टिगोचर होती है। प्रत्येक व्यक्ति, वह अज्ञ हो या विज्ञ, निरन्तर अपने ज्ञान की उत्तरोत्तर वृद्धि-हेतु व्याकुल सा था। सब में अपने लिये श्रेयस्कर कर्म, वृत्ति अथवा वस्तु के ज्ञान हेतु प्रबल उत्कण्ठा एवं अदम्य उत्साह था। सागर तट पर तपस्या करने वाले ब्राह्मण जाजलि ने रक्षोगण के निर्देशानुसार काशी की ओर तुलाधार वैश्य से वास्तविक ज्ञानोपलब्धि के लिये प्रस्थान किया था।[३] भिक्षुक ब्राह्मण पतिव्रता स्त्री के आदेशानुसार अनेक योजन दूर मिथिला को व्याध से तत्त्वज्ञान के लिये गया था।[४] श्रेष्ठ कर्म के अवबोध-निमित्त अत्यन्त दूर से चला ब्राह्मण विना कुछ खाये पिये 'पद्म' नाग के सूर्यलोक से लौटने तक की प्रतीक्षा करता रहा।[५] बालक शुक को मोक्षशास्त्र के ज्ञान के लिये ऋषि व्यास ने तत्त्वज्ञानी जनक के पास भेजा था।[६] भार्गव उत्तंक वृद्धावस्थापर्यन्त गुरुकुल में रहे।[७] अर्थात् लोग ज्ञान के लिये सब कुछ कर सकते थे और देश, काल, कुल, जाति, वर्ण आदि बाधक नहीं हो सकते थे।

राजाओं की ज्ञानपिपासा

सामान्य लोक की भाँति तत्कालीन राजसमुदाय राजकार्य के लिये विशेषतः स्वधर्मज्ञान, तदनुकूल आचरण और अभ्यास के ही श्रेयस्कर होने पर भी—विविध ज्ञान के अर्जन हेतु लालायित था। नल का अश्वसंचालन और पाकशास्त्र का ज्ञान, ऋतुपर्ण और शकुनि का अक्षकौशल, राजपुत्र भीम की मल्लकला तथा पाकशास्त्र की निपुणता, अर्जुन का ललितकलाभ्यास, नकुल की अश्वविद्या, सहदेव का गो-ज्ञान, महारानी और राजपुत्री दमयन्ती तथा द्रौपदी की सैरन्ध्रीकर्म

---

१. सभा ४५।१७;४८।३९। २. सभा १९।३१। ३. शान्ति २५३।२,१०-११। ४. आरण्यक १९८।३-४। ५. शान्ति ३४६। ६. शान्ति ३१२।६। ७. आश्वमे ५५।१५-१७।

और केशविन्यास में प्रवीणता आदि राजाओं की विविध ज्ञान के स्वाभाविक रुचि के परिचायक हैं।

यद्यपि उस समय पदे पदे वनों में वानप्रस्थ मुनियों और नगर-ग्रामों में भिक्षुक यतियों और अतिथियों की उपलब्धि सरल थी, तथापि विशिष्ट ज्ञानियों को एकत्र करके उनके ज्ञान से लोक को लाभान्वित कराने में राजा सदा आगे रहता था। वह अपने तथा प्रजा दोनों के ज्ञानवर्धन हेतु सदा प्रयत्नशील रहता था।

सभा में कथाओं का आयोजन

राजाओं के यहाँ विशेष अवसरों पर ऋषि-महर्षि आकर रहा करते थे। वे कभी अतिथि के रूप में एक या दो दिनों के लिये रहते थे और कभी पूरी वर्षा भर रहा करते थे। जनक ने पंचशिख आचार्य को अपने भवन में वर्षा भर अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक रखा था।[1] इसी प्रकार नारद और पर्वतऋषि के भी सृंजय के राजभवन में कई वर्षाओं के बिताने का उल्लेख है।[2]

इनको दिन में सभा में लाकर कथाओं को सुनाने का आग्रह राजा लोग करते होंगे। सभाएँ सार्वजनिक होती थीं। राजकीय अतिथियों का वहीं स्वागत किया जाता था और राजा भी लोककार्यों का विधान वहीं पर बैठकर करता था।

राजा अश्वसेन, वर को देखने के पश्चात् सावित्री के लौटने पर, सभा में ही नारद के साथ 'कथायोगेन' बैठे थे।[3] जनक की सभा में सुलभा ने स्त्री-पुरुषों के समुदाय के समक्ष वार्तालाप किया था।[4] जनक के घर में सौ-सौ आचार्य रहा करते थे।[5] भीष्म के सभासद् ब्रह्मर्षिगण थे।[6] धृतराष्ट्र की ही सभा नें अतिथि ब्राह्मण से कौरवों ने पाण्डवों के वनवास-कालीन कष्ट को जाना था।[7] शुक का सत्कार मन्त्रियों सहित जनक ने सम्भवतः सभा में ही किया था।[8]

किसी भी संशय या दुःख की घड़ी में उपस्थित होकर समाधान करने वाले और उपदेश देने वाले ऋषियों और अतिथियों से न तो राजभवन में चुप रहने की ही आशा की जाती थी और न उनका आगमन सुन कर प्रजा के न आने की ही। ऋषियों के साथ पाण्डुपुत्रों के प्रथमबार सभा में आने पर जो समुदाय उनके दर्शन की आकांक्षा से दौड़ पड़ा था[9] और जो कृष्ण सदृश व्यक्तियों के आने की चर्चा मात्र से सड़कों, गलियों और प्रासादों में खचाखच भर गया था,[10] वह सभा में सनत्सुजात सदृश रहस्यविद्, व्यास और नारद सदृश महर्षियों के सभा में उपस्थित होने पर उनके उपदेशों को सुनने के लिए नहीं

१. शान्ति ३०८।२६। २. शान्ति ३१।४-६। ३. आरण्यक २७८।१।
४. शान्ति ३०८।७२। ५. शान्ति २११।४,१७। ६. शान्ति ३८।१५।
७. आरण्यक २२५।४,५। ८. शान्ति ३१३।१-३। ९. आदि ११७।११-१२।
१०. उद्योग ८७।६-१०।

आया होगा, ऐसी आशा ज्ञान के लिए प्रतिक्षण उत्सुक तत्कालीन जनता से नहीं की जा सकती। वृष्ण्यन्धक संघ के राजे प्रजा को अपने साथ तीर्थ ले गये थे (मौसल ३।२१-२२)। दुर्योधन के साथ पुरजन भी घोष देखने गये थे (आरण्यक २२८।२५-२८) और आश्रम में स्थित धृतराष्ट्र आदि के दर्शन के लिए प्रस्थान करते समय भी प्रजा को सुख-सुविधा पूर्वक चलने की अनुमति मिली थी (आश्रम २५)। अतः राजाओं से ऋषियों के सभा में आने पर, जनप्रवेश निषिद्ध कर देने कि आशा नहीं थी। राजाओं की ओर से किसी स्थान पर लोगों को न ले जाने का एकमात्र उदाहरण भीष्म के शरशायी होने पर सामान्य जन-गमन-निषेध था। उसका कारण निर्देश भी युधिष्ठिर ने किया था—

युज्यतां मे रथवरः फल्गुनाप्रतिमद्युते।
न सैकैनिश्च यातव्यं यास्यामो वयमेव हि॥
न पीडयितव्यो मे भीष्मो धर्मभृतां वरः।
अन्तःपुरःसराश्चापि निवर्तन्तु धनञ्जय॥
अद्य प्रभृति गाङ्गेयः परं गुह्यं प्रवक्ष्यति।
अतो नेच्छामि कौन्तेय पृथग्जनसमागमम्॥—शान्ति ५३।१४-१६।

इन वाक्यों से यह भी निष्कर्ष निकलता है कि केवल यही एक ऐसा अवसर था, जब सैनिक, अन्तःपुर अथवा 'पृथग्जन' प्रवचन होने पर नहीं जा सका था, इसके पूर्व उन सबको ऐसे अवसरों का पूर्ण लाभ उठाने की स्वतन्त्रता थी। भीष्म की पीड़ा के अतिरिक्त दूसरा कारण जननिषेध का था 'परं गुह्यं' का प्रवचन। राजधर्म केवल राजाओं की बात थी और वह सर्वश्राव्य हो भी नहीं सकती थी। अतः उसे सुनने के अधिकारी 'हतशिष्टाश्च राजानो युधिष्ठिर-पुरोगमाः'[1] सब लोग ऋषियों के साथ वहाँ उपस्थित थे।

यज्ञवाट में अवसर

तत्कालीन राजे-महाराजे अनेक विविध और महान् यज्ञों की आयोजना कर परम ज्ञानी, दिव्यदृष्टि ऋषियों को आमन्त्रित करते थे। यज्ञों में चतुर्वर्ण के लोग भी आमन्त्रित किये जाते थे। ऋषियों और ब्राह्मणों की कथाओं को सुन-सुन कर लोक ज्ञानार्जन करता था।

यज्ञों में विज्ञों द्वारा कथाओं के कहे जाने का स्पष्ट उल्लेख है।[2] युधिष्ठिर के राजसूय में आवसथों का निर्माण हो जाने पर—

तेषु ते न्यवसन् राजन् ब्राह्मणा भृशसत्कृताः।
कथयन्तः कथा बह्वीः पश्यन्तो नटनर्तकान्॥—सभा १०।४८।

---

१. शान्ति ५४।५८। २. सभा ३३।

कथाएँ धर्म और अर्थ से युक्त होती थीं ।[१] उनका स्तर अत्यन्त उच्च तथा उत्कृष्ट और विषय अत्यन्त विस्तृत होता था । 'भारत' नामक इतिहास जनमेजय के सर्पसत्र[२] और शौनक के द्वादशवार्षिक महासत्र में सुनाया गया था ।[३] कथाएँ सर्ववर्णश्राव्य होती थीं । विशेषकर महाभारत को वेद के अनधिकारी शूद्रों और स्त्रियों के लिए भगवान् व्यास ने लिखा था ।[४]

प्रायः यज्ञ ही ऐसे अवसर होते थे जब प्रसिद्ध तत्त्वदर्शी ऋषि एकत्र होकर तर्कवितर्क के द्वारा धार्मिक नियमों की समीक्षा किया करते थे । युधिष्ठिर के राजसूय में सामान्यतः व्यस्त होने पर भी 'कर्मान्तर'[५] में वे परस्पर वार्तालाप कर लेते थे । यथा—

इदमेवं न चाप्येवमेवमेतन्न चान्यथा ।
इत्यूचुर्बहवस्तत्र वितण्डानाः परस्परम् ॥
कृशानर्थांस्तथा केचिदकृशांस्तत्र कुर्वते ।
अकृशांश्च कृशांश्चक्रुर्हेतुभिः शास्त्रनिश्चितैः ॥
तत्र मेधाविनः केचिदर्थमन्यैः प्रपूरितम् ।
विचिक्षिपुर्यथा श्येना नभोगतमिवामिषम् ॥—सभा ३३।४-६ ।

यज्ञों में ऋषियों के साथ उनके शिष्य और पुत्र भी आते थे[६] जो यज्ञों के सम्पादन में सहायता देते थे । वहाँ गुरुमुख से सुने गये और भावी जीवन में प्रयोग में आने वाले यज्ञ-विधानों और मन्त्र-विनियोगों का प्रयोगात्मक ज्ञान होता था । इस प्रकार उनकी शिक्षा में निखार और संशयहीनता उसी समय से आने लगती थी ।

यज्ञों की शास्त्रार्थ-परम्परा महाभारत में जनक के मन्त्री वन्दी और अष्टावक्र के विवाद में दृष्टिगोचर होता है ।[७] उपनिषदों में भी उषस्ति और अन्य यजमानों[८] के तथा गार्गी और याज्ञवल्क्य[९] के शास्त्रार्थों से इस परम्परा के प्रचलन का ज्ञान होता है । भारत में कुछ वर्ष पूर्व तक—संस्कृत-विद्वानों में शास्त्रार्थ की ही परम्परा विद्यमान थी, जिसका कुछ-कुछ रूप आज भी देखा जाता है ।

शिक्षा और ज्ञान-प्रसार-हेतु स्वधर्म-प्रवर्तन

शिक्षा के भी क्षेत्र में वर्णाश्रम का महत्त्व था । राजाओं ने उसको स्थायित्व देना प्रारम्भ कर दिया था, और स्वधर्म-प्रवृत्ति तथा स्वधर्म-प्रवर्तन राजा का

१. सभा ३३।७ । २. स्वर्गारोहण ५।३० । ३. वही ३९ ।
४. श्रीमद्भागवतम् १।४।२५ । ५. सभा ३३।३ । ६. सभा ३०।३६ ।
७. आरण्यक १३३-१३४ । ८. छान्दोग्य १।१०,११ । ९. बृहदारण्यक ३।६ ।

परम कर्तव्य निश्चित हो चुका था। इस विषय में तृतीय अध्याय में आवश्यक विवरण दिया जा चुका है। द्विजवर्णों को स्वधर्म में प्रवृत्त करने से वे चतुराश्रमों का पालन करेंगे और अध्ययन-अध्यापन का क्रम स्वतः चल पड़ेगा। अवरवर्णों में तत्त्वज्ञानियों का सम्मान और किसी से भी धर्मरहस्य का कथन निषिद्ध नहीं था। रामायण-काल में राम ने शम्बूक का वध, शूद्र को तपस्या में अधिकार न होने के कारण, किया था, किन्तु महाभारत में वर्णित काशीनरेश अथवा मिथिलाधिप ने क्रमशः तुलाधार वैश्य और धर्मव्याध बलाक का धर्मोपदेश देने के कारण वध नहीं किया था। सब वर्ण के लोग परस्पर ज्ञान-विनिमय कर सकते थे।

वर्णाश्रम-व्यवस्था का शिक्षा से और राजा का वर्णाश्रम व्यवस्था से कितना घनिष्ठ सम्बन्ध सम्मत था, इसका ज्ञान महाभारतकार के—

> न ब्रह्मचार्यधीयीत कल्याणी गौर्न दुह्यते।
> न कन्योद्वहनं गच्छेद् यदि दण्डो न पालयेत्॥
> चरेयुर्नाश्रमे धर्मं यथोक्तं विधिमाश्रिताः।
> न विद्यां प्राप्नुयात् कश्चिद् यदि दण्डो न पालयेत्॥—शान्ति१५।३७,४०।

इन शब्दों से स्पष्ट हो जाता है। वास्तव में धर्म डूब जाये, वेद लुप्त हो जायें, ब्राह्मण चारों वेदों का अध्ययन ही न करें, तपस्वी-जन विद्या और तपस्या को छोड़ दें यदि राजा उनका पालन न करें।[1]

इस प्रकार समाज द्वारा शिक्षा का अधिकतम भार स्वयं लिये जाने पर भी महाभारतकालीन राजाओं ने ब्राह्मणों के साथ अन्य वेद-ग्रहण में समर्थ व्यक्तियों के लिए आश्रमों की रक्षा, गुरु-ब्राह्मणों के आदरसत्कार तथा सहायता द्वारा, क्षत्रियों के लिए नगरों में धनुर्वेद शिक्षण की भी व्यवस्था द्वारा, वैश्यों, शूद्रों और स्त्रियों के आध्यात्मिक उत्थान के लिए सभा और यज्ञों में श्रेष्ठ वक्ताओं को आमन्त्रित कर और स्त्रियों के लिए उनकी लक्ष्यसिद्धि हेतु ललितकला की शिक्षण-व्यवस्था कर सबके जीवन को सार्थक बनाने वाली शिक्षा का समुचित प्रबन्ध किया था। जितने सहयोग की अपेक्षा उनसे थी, उतना योग युगानुकूल उपायों और प्रयासों से तत्कालीन राजाओं ने लोक को शिक्षा के क्षेत्र में दिया।

———

१. शान्ति ६८।२१,२६।

नवम अध्याय

जन-मनोरंजन की राजकीय योजनाएँ

[उत्सवों का स्वरूप, उत्सवों को प्रोत्साहन न देने के कारण, राजा और लोक-रंजन, उत्सवों के प्रकार—

अ—धार्मिक कृत्यों में मनोरंजन—मह-उत्सव, यज्ञोत्सव, दानमहोत्सव,

आ—राजकुल और राज्य से सम्बद्ध उत्सव—समाज, विजययात्रा, राजकीय अतिथि,

इ—राजगृह से सम्बद्ध उत्सव—जन्म के अवसर पर, शिक्षा-प्रदर्शन और समाज, विवाह और स्वयंवर, सभा-प्रवेश,

ई—राजयात्राओं से आनन्द—तीर्थयात्रा, घोषयात्रा, विहारयात्रा, मृगया-यात्रा।

उ—मनोरंजन के अन्य साधन—उद्यान और आराम, द्यूतक्रीड़ा।

ऊ—संकटकाल में मनोरंजन—स्कन्धावारों में मनोरंजनव्यवस्था, उत्सवों से लोक-कल्याण।]

उत्सवों का स्वरूप

महाभारत में ऐसे उत्सवों, समाजों अथवा क्रियाओं का वर्णन प्रायः नहीं मिलता जो सर्वथा मनोरंजन के लिए रहे हों। इनका सर्वथा अभाव नहीं था, किन्तु यह सब किसी महान् उद्देश्य के आनुषंगिक कार्य के रूप में होते थे। अतः राजाओं द्वारा मनोरंजन के साधनों को जो कुछ प्रोत्साहन मिला, वह आनुषंगिक रूप में ही था। राजाओं ने इनको या तो धर्मकर्म समझकर सम्पन्न किया अथवा कुछ लोगों को स्वधर्म पालन का अवसर मिलने से इनका विधान किया गया। राजगृह-सम्बन्धी अथवा अतिथि-स्वागत से सम्बद्ध अवसरों पर मनोरंजन के उपकरण एकत्र होते थे, किन्तु उनका उद्देश्य या तो राजगृह की प्रसन्नता अथवा दानवीरता का प्रदर्शन होता था या आगत के मन पर स्वागत के विधानों द्वारा विशेष प्रभाव डालना। इन क्षणों में यदि प्रजा को मनस्तृप्ति का अवसर मिल जाता था, तो वह उसका अहोभाग्य था। कुछ अवसर जैसे युद्धक्षेत्र के शिविर या आपत्तिकाल में इन साधनों की पूर्णतः मनोरंजन हेतु ही की गई व्यवस्था का दर्शन होता है, किन्तु उनका क्षेत्र सार्वजनिक न होकर समुदाय या वर्गविशेष तक सीमित था, अतः उनकी भी सार्वलौकिक महत्ता नहीं थी।

उत्सवों को प्रोत्साहन न देने के कारण

शुद्ध मनोरंजन के साधनों को एकमात्र मनःप्रसादन के उद्देश्य से प्रेरणा न मिलने के अनेक कारण थे। भारत में आध्यात्मिकता, इन्द्रियसंयम, चित्तवृत्ति-निरोध, तप, त्याग आदि पर ही प्रधानतः वल दिया गया था। इनकी ओर गमन ही मानव का उद्देश्य था। इस दृष्टिकोण से मनोरंजन और जीवन की साधना दोनों में एक महान् विरोध था और दोनों की दिशायें सर्वथा भिन्न थीं। विषयों से सन्निकृष्ट इन्द्रिय, मन और हृदय की प्रीति ही मनोरंजन माना जाता है जिसको भारतीय मनीषियों ने 'काम' की संज्ञा दी थी।[१] 'काम' तथा कामजन्य विकार सब तामस कर्मों की कोटि में आते हैं। महाभारतकार ने स्पष्ट निर्देश किया था कि 'तामसस्याधमं स्थानं प्राहुरध्यात्मचिन्तकाः।'[२] नृत्त, गीत, वादित्रादि को अधिक से अधिक 'राजस' माना जा सकता था, किन्तु भारतीय आदर्श सत्त्व-गुण की ओर प्रवृत्ति होने से इनको भी लोक में वहुत अच्छा स्थान न मिला।[४]

इसके अतिरिक्त प्रत्येक व्यक्ति से स्वधर्मपालन करने और उसी में मर जाने का आदर्श उपस्थित किया गया था। धार्मिककृत्यों की ही प्रधानता थी। ब्राह्मण वर्ण से सदा गम्भीरता, दम, तप, शौच आदि की ही अपेक्षा थी। इनसे नीचे खिसक कर नृत्य, गीत आदि में फसना उसके लिये घोर निन्दा का कारण वनता था।[५] इसी प्रकार क्षत्रिय से रक्षा के लिये विषयों के त्याग की और वैश्यों से त्यागपूर्वक धनसंचय, यजन और अध्ययन की ही आशा की जाती थी। शूद्रवर्ण और वर्णसंकरों को विभिन्न कर्म करने की छूट थी और कुछ के ये स्वधर्म भी घोषित किये गये थे, किन्तु इनको त्याग देने और 'अकृतपूर्वियों' को न करने की ही सम्मति सदा महाभारतकार ने दी थी।[६] पुरुषों का स्त्रीरूप और स्त्रियों का पुरुषवेष धारण करके आनन्द मनाना दैत्यों के राज्य में प्रवृत्त वतलाया गया था (शान्ति २२१।६७)। और निष्कर्षतः इनको आसुर स्वीकार किया गया था। इस कारण भी इन प्रवृत्तियों को विशेष प्रोत्साहन धार्मिक राजाओं के राज्य में नहीं मिला। किन्तु मनोरंजन कुछ सीमा तक आवश्यक भी माना गया था। काम का प्रयोजन था उत्साहवर्धन, अतः उसे सीमा में रखकर उसका प्रवन्ध करना उचित था। अतः मनोरंजन को धर्म के साथ जोड़ने का उपाय किया गया था।

नृत्य, गीत आदि स्त्रियों के लिये विहित थे। अतः नारीलोक में तो इनकी आवश्यकता समझी गई और विस्तार की योजनाएँ भी बनाई गई, किन्तु 'पुरुष' केवल 'नारी-प्रकृति' का द्रष्टामात्र रहा। उसे लिप्त होने और उन्हें सीखने की

१. आरण्यक ३४।३७। २. शान्ति ३०२।३। ३. आश्वमे ३७।१३।
४. वही ३७।१५-१७; ३८।१,२। ५. अनुशा ९०।६-७।
६. शान्ति २८३।४,५।

विशेष अनुमति न मिली। केवल गृहस्थाश्रम में सहजवासना की तृप्ति का अवसर दिया गया था।

इस प्रकार धर्म और समाज दोनों ने नियन्त्रित भोग की छूट देकर, बन्धन के रूप में धार्मिक कृत्यों को उनके साथ लगा दिया था।

राजा और लोकरंजन

'राजा रञ्जयति प्रजाः' इस आदर्श के अनुसार राजा मनोरंजन के लिये बाध्य सा था, किन्तु यहाँ 'रंजन' शब्द अत्यन्त व्यापक है और इसका अर्थ मनोरंजन मात्र नहीं। राजा को भी लोक की निर्धारित भूमिका पर रहना आवश्यक था। मोक्षसुख को अन्तिम और श्रेष्ठ सुख माना गया था।[1] अतः राजा को स्वयं भी ऐसे अनियमित काम में रत होने की अनुमति नहीं दी गई थी जिससे धर्म[2] और अर्थ अभिभूत हो जाते और राजा उन व्यसनों में पड़कर स्वयं भी पराजित हो जाता।[3]

किन्तु मनोरंजन के जो धार्मिक रूप विहित थे उनको सम्पन्न करना राजा का परम कर्तव्य था। उनकी अनिवार्यता को लोक में उनकी व्यवस्था आदि को ध्यान में रखकर भीष्म ने कहा था—

समाजोत्सवसम्पन्नं सदापूजितदैवतम्।
.................तत्पुरं स्वयमावसेत्॥—शान्ति ८७।१०।

साथ ही 'उत्सवानां समाजानां क्रियाः केतनजास्तथा'[4] कहकर इनकी पूर्ण व्यवस्था कराना राजा का कर्तव्य निर्दिष्ट किया गया था। लोक के मान्य उत्सवों और समाजों के प्रबन्ध में सहयोग देने के लिये शुक्र ने भी नियमनिर्धारित किया था—

प्रजाभिर्विधृता ये ये ह्युत्सवास्तांश्च पालयेत्।
प्रजानन्देन संतुष्येत् तद्दुःखैर्दुःखितो भवेत्॥—शुक्रनीतिसार ४।४।२०५।

इन समस्त उद्धरणों से समाज एवं उत्सवसम्बन्धी कार्यों को सम्पन्न करने के लिए राजा की अपेक्षा का ज्ञान होता है। राजा से लोकविश्वास और लोक-धारणाओं को स्थायित्व मिलता था, और वह लोक की प्रसन्नता में सहयोग देकर उसको भी सफल, सुखमय और आनन्दमय बनाता था और आवश्यकतानुसार उनमें हस्तक्षेप भी कर सकता था। उत्सवों के राज्याधीन होने अथवा प्रजा के राजा द्वारा रंजित किये जाने का यह एक अर्थ है। राजा के समाज, उत्सव आदि से युक्त नगर में बसने का अभिप्राय पुरजनों को प्रसन्न रखना, उनके लिये उप-भोग्य पदार्थों को सुलभ कराना तथा धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक कार्यों के अवसरों पर उनके भी उठने, बैठने और आनन्द लेने के लिए उन्हें स्वतन्त्र करना

---

१. शान्ति २७७।५। २. सभा ५।९। ३. उद्योग ३३ ७३-७४;३९।६६।
४. शान्ति ५९ ६७।

था। आपस्तम्ब ने (२।९।२५।१४) आयुधग्रहण तथा नृत्त, गीत, वादित्र आदि को राजधानी से वाहर होने की अनुमति नहीं दी थी। इससे भी धार्मिक समाज में नृत्तगीतादि की हेयता तथा उनपर राजकीय नियन्त्रण की आवश्यकता तथा अधिकार दोनों ही द्योतित होते हैं।

उत्सवों के प्रकार

महाभारत पर दृष्टिपात करने से यद्यपि ऐसे उत्सवों के ही वर्णन प्रायः मिलते हैं जो किसी धार्मिक विश्वास अथवा कृत्य से सम्वद्ध थे, तथापि जीवन में 'काम' की भी अनिवार्यता के कारण कभी आनुषंगिक एवं कभी प्रधानरूप से भी इनका प्रवन्ध राजकीय स्तर पर दृष्टिगोचर होता है। यदा-कदा राजाओं के गृह अथवा राज्य सम्वन्धी वृत्तान्तों को लेकर भी प्रजा को आनन्द की सामग्री मिल जाती थी। अतः तत्कालीन लोकमनोरंजन के अवसरों या उपकरणों को तीन प्रधान श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है।—प्रथम धार्मिक, द्वितीय राज्यकुल या राज्य से सम्वद्ध और तृतीय अन्य।

धार्मिक कृत्यों में मनोरंजन

महाभारकालीन जीवन धार्मिक विश्वासों और कृत्यों से परिपूर्ण था। इनसे सम्वद्ध अवसरों पर राजाओं द्वारा उत्सवों को प्रोत्साहन दिया जाता था और कहीं-कहीं वह स्वयं उनका कारण वनता था। धार्मिक क्रियाओं के अनुसार इन उत्सवों की भी कई कोटियाँ होती थीं। इन्हें मह-उत्सव, यज्ञोत्सव और दानोत्सव के नाम से अभिहित किया जा सकता है।

मह-उत्सव

महाभारत में भिन्न-भिन्न जनपदों में मह-उत्सव मनाये जाते थे। एकचक्रा के 'ब्रह्ममह,' पांचाल के 'देवमह,'[1] मत्स्य देश के 'ब्रह्ममहोत्सव'[2], द्वारका के दो-दो वार वर्णित[3] 'गिरिमह' अथवा 'रैवतकमहोत्सव,' क्रौंचद्वीप के महाक्रौंच-पूजन,[4] राजा उपरिचर के 'इन्द्रमह'[5] अथवा इन्द्रमहोत्सव या इन्द्रध्वजोत्सव[6] और इसी प्रकार के पशुपति पूजन से सम्वद्ध वारणावत के महोत्सव[7] आदि से तत्कालीन जनपदों में होने वाले सार्वजनिक धार्मिक उत्सवों के राजकीय स्तर पर मनाये जाने की परम्परा का ज्ञान होता है। उत्सव और समाज राष्ट्रीय थे जो लोकविश्वास और लोकभावना पर आधारित थे। राजागण इनको स्थायित्व देते थे, सक्रिय सहयोग देते थे और स्वयं भी उपस्थित होकर लोक का सम्मान

---

१. आदि १५२।१८;१७५।१। २. विराट १२।१२। ३. आदि २११; आश्वमे ५८।
४. भीष्म १३।७। ५. डा० अग्रवाल : भारतसावित्री, पृष्ठ ४२।
६. आदि ५७।१७-२७। ७. आदि १३१।३।

बढ़ाते थे। इनमें चतुर्वर्ण के लोग विना किसी भेद-भाव के सम्मिलित होते थे[१] और अपनी सब प्रकार की योग्यताओं का प्रदर्शन करते थे।

इन महोत्सवों में सर्वत्र या तो किसी देवता की पूजा होती थी, अथवा प्रकृति के तत्त्व पर्वत आदि में ही देवत्व कल्पना की जाती थी। डा० वासुदेव-शरण अग्रवाल के मतानुसार 'ब्रह्म प्राचीन संस्कृत में यक्ष की भी संज्ञा थी। यक्ष पूजा के लिए जो उत्सव किया जाता था, उसे ही 'ब्रह्म मह' या 'यक्षमह' (पाली—यक्खमह) कहते थे।[२] 'देवमह' में किस देवता की पूजा होती थी, इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं। रैवतक तथा क्रौंच महोत्सवों में पर्वत की ही पूजा प्रदक्षिणा की जाती थी और शोभन-कर्म सम्पन्न किये जाते थे। इन्द्रमह अथवा इन्द्रध्वजोत्सव का नाम देखने से अन्य उत्सवों की भाँति इन्द्र की पूजा का ध्यान आता है, किन्तु वास्तव में—

भगवान् पूज्यते चात्र हास्यरूपेण शंकरः ॥—आदि ५७।२१।

वारणावत में सम्पन्न होने वाले इन्द्रमह में भी 'पशुपति' की ही पूजा होती थी।[३] इन्द्रमह में इन्द्र का नाम उनकी यष्टि के कारण था। इन्द्र ने प्रसन्न होकर राजा उपरिचर को एक यष्टि भी दी थी जिसे एक वर्ष के वाद उन्होंने सीधा खड़ा किया था। उसी के सम्मान में इन्द्र का नाम स्मरण किया जाता था।[४]

पूजन कर्म के अतिरिक्त शुद्ध मनोरंजन भी होता था। मनोरंजन के कार्य-क्रमों में मल्लयुद्ध का प्रधान स्थान था। विराटनगर[५] तथा पांचाल[६] इन दोनों देशों में इस उत्सव के प्रकरण में मल्लयुद्ध के विवरण मिलते हैं। राजा इनमें विशेष रुचि रखते थे और प्रसन्न होने पर विजयी मल्लों को मुक्तहस्त होकर दान भी देते थे।[७] जीमूतमल्ल को पराजित करने के कारण—

संहर्षात्प्रददौ वित्तं बहु राजा महामनाः।
बल्लवाय महारंगे यथा वैश्रवणस्तथा ॥—विराट १२।२५।

मनुष्य-युद्ध के अनन्तर सर्वश्रेष्ठ नियोधक को व्याघ्र, सिंह तथा हाथियों से लड़ाये जाने का उल्लेख है। विराट ने भीम को 'ततो व्याघ्रैश्च सिंहैश्च द्विरदैश्चाप्य-योधयत्' (विराट १२।२७) वर्तमान काल के सरकस जैसा पशुओं का खेल भी दिखाया जाता था। नकुल ने घुड़दौड़ और उनकी चाल प्रदर्शित की थी तथा सहदेव ने विनीत वृषभों की। इनको भी पुरस्कार दिये गये थे।[८]

विराट नगर में इस महोत्सव पर स्त्रियों का मनोरंजन बाहर रंग पर

१. आदि १५२।१८; विराट १२।१२; भीष्म १३।७। २. भारतसावित्री, पृष्ठ ९९।
३. आदि १३१।३। ४. आदि ५७।१८। ५. विराट १२।१३। ६. आदि १७५।१६।
७. आदि १७५।१९; विराट १२।१४। ८. विराट १२।३०-३१।

घटित घटनाओं को अन्तःपुर में पुनः कराकर किया जाता था। भीम को वाह्यरंग पर हिंस्र पशुओं और हाथियों से युद्ध का प्रदर्शन अन्तःपुर की स्त्रियों के लिए पुनः करना पड़ा था (विराट १२।२८-२९।)

पांचाल तथा द्वारका[१] के देवमह और गिरिमह में नट, वैतालिक, नर्तक, सूत, मागध आदि भी अपना-अपना कौशल प्रदर्शित करते थे। इनके अतिरिक्त सामान्य जन भी परमानन्दित होकर गाते और घूमते थे।[२] रैवतक उत्सव—

प्रमत्तमत्तसंमत्तक्ष्वेडितोत्कृष्टसंकुला।
तथा किलकिलाशब्दैर्भूरभूत् सुमनोहरा॥
विपणापणवान् रम्यो भक्ष्यभोज्यविहारवान्।
वस्त्रमाल्योत्करयुतो वीणावेणुमृदंगवान्॥—आश्वमे ५८।१०-११।

गिरिमहोत्सव में गिरि को विशेष रूप से सजाया जाता था। रैवतक के चारों ओर निवास व्यवस्था की गई थी।[३] चित्रविचित्ररूप से स्वर्ण और पुष्प से बनी हुई मालाओं, कल्पवृक्षों एवं दीपवृक्षों से अलंकृत होने से उसके गुहा और निर्जन प्रदेशों में भी दिन सा प्रकाश था।[४] पताकाओं से सुशोभित, घण्टारव से निनादित एवं जनकोलाहल से गुंजरित रैवतक किसी अलौकिक छवि से दीप्त हो उठा था।[५]

भक्ष्य, भोज्य पदार्थों और सुरा, मैरेय आदि पेयों का इतना आधिक्य होता था कि दीनों, अन्धों और कृपणों को भी खाने-पीने के लिए प्रचुर मात्रा में इन्हें वितरित किया जाता था।[६] सम्भवतः इसकी व्यवस्था राजा लोग करते थे।

इन उत्सवों में स्त्रीपुरुष सब एकत्र होते थे और यथेच्छ आनन्द लेते थे। राजा, राजा का परिवार और उनके अधिकारीगण भी समानरूप से सम्मिलित होते थे।[७]

वास्तव में उत्सव लोकोत्सव होते थे जिन्हें राजा से विशेष प्रोत्साहन मिलता था। राजा इनमें एक सामान्य जानपद के रूप में आनन्द लेता था और धनधान्य-समन्वित होने से भद्र पुरुष की भांति यथेच्छ धन-दान कर लोक की तृप्ति करता था। धृतराष्ट्र ने वारणावत में आयोजित होने वाले उत्सव में सम्मिलित होने के लिए युधिष्ठिर आदि पाण्डवों से कहा था—

ते तात यदि मन्यध्वमुत्सवं वारणावते।
सगणाः सानुयात्राश्च विहरध्वं यथामराः॥
ब्राह्मणेभ्यश्च रत्नानि गायनेभ्यश्च सर्वशः।
प्रयच्छध्वं यथाकामं देवा इव सुवर्चसः॥—आदि १३१।८,९।

---

१. आदि १७५।१६;२११।४। २. आश्वमे ५८.९।
३. आदि २११।३; आश्वमे ५८।१२। ४. आश्वमे ५८।५-७। ५. वही ८।
६. वही १२। ७. आदि २११।६-१२; आश्वमे ५८।८,९,१३; विराट १२।२४-२८।

यज्ञोत्सव

यज्ञ एक पुण्यकर्म था जिसका सम्पादन प्रत्येक प्राणी के लिए श्रेयस्कर था। यही कारण था कि सबको यथायोग्य यज्ञविधान की अनुमति भारतकार ने दी है। तथापि ऐसे बड़े-बड़े राजसूय, अश्वमेध या वाजपेय आदि यज्ञों को, जिनमें मनोरंजन आदि की प्रचुर सामग्री प्राप्त हो सकती थी, राजा ही सम्पन्न कराते थे। इनका प्रधान उद्देश्य धार्मिक ही था; किन्तु आनुषंगिक रूप से पर्याप्त मनोरंजन भी हो जाता था।

यज्ञों में वेद, शास्त्र, कथा, पुराण आदि में पारंगत ऋषि, ब्राह्मण और शेषवर्णों के लोग एकत्र होते थे। कथाओं को कह-सुन कर लोग अत्यन्त प्रसन्न होते थे। राजसूय में—

केचिद्धर्मार्थसंयुक्ताः कथास्तत्र महाव्रताः।
रेमिरे कथयन्तश्च सर्ववेदविदां वराः॥—सभा ३३।७।

जनमेजय और शौनक के सत्रों में 'भारत' सदृश कथाओं को सुनाया गया था।

कथाओं से श्रोताओं को देश-देशान्तर के प्राकृतिक, सांस्कृतिक, दार्शनिक और नैतिक रहस्यों का ज्ञान होता था, सामान्यतः उनके श्रवण से मन में आह्लाद होता था, आदर्शों का ज्ञान होता था और यज्ञ के मध्य में अवशिष्ट समय को व्यर्थ ही नहीं, अपितु कुछ सीख कर विताने का अवसर मिलता था।

सहयोग की भावना से एकत्र आये हुए राजे-महाराजे, नट-नर्तक, गायक आदि को प्रभूतपारितोषिक देते थे।[२] अतः ये भी दूर-दूर से आ-आकर अपना कौशल और अपनी कला का प्रदर्शन कर उपस्थित लोक का मनोरंजन करते थे। इनके प्रदर्शन के अतिरिक्त प्रतिदिन अनेकशः दुन्दुभि-नाद होता था,[3] मत्तोन्मत्त होकर युवतियाँ गाती थीं और साथ ही शंखों तथा मृदंगों की भी मंगल ध्वनि चित्त आकृष्ट कर लिया करती थी।[४]

धर्मकार्य होने के कारण उपस्थित जनसमुदाय की तृप्ति पर भी विशेष ध्यान दिया जाता था। चेष्टा की जाती थी कि कोई भी अतृप्त न रहे। इसके लिए राजाओं की ओर से भक्ष्य-भोज्य आदि पदार्थों का प्रवन्ध प्रचुर मात्रा में किया जाता था। अश्वमेध में इन पदार्थों की प्रचुरता का वर्णन व्यास के शब्दों में द्रष्टव्य है—

एवं बभूव यज्ञः स धर्मराजस्य धीमतः॥
वह्वन्नधनरत्नौघः सुरामैरेयसागरः॥
सर्पिःपङ्का ह्रदा यत्र बहवश्चान्नपर्वताः।
रसालकर्दमाः कुल्या बभूवुर्भरतर्षभ॥

१. आरण्यक ३२।३६। २. आश्वमे ९१।४१। ३. वही ८७।१०-११।
४. वही ९१।३९।

अक्ष्यषाण्डदरागाणां क्रियतां भुज्यतामिति ।

.... नान्तस्तत्र स्म दृश्यते ॥—आश्वमे ९१।३६-३८ ।

कुछ यज्ञों में बलि के निमित्त विभिन्न जातीय वनस्पतियों तथा प्राणियों का संकलन किया जाता था। इन विचित्र जीवों का दर्शन करके उनके रूपों से जनता में आश्चर्य की भावना जागृत होती थी और सम्भवतः उनकी बलि का स्मरण करके उनके प्रति करुणा भी। अश्वमेध को सम्पन्न करने के लिए युधिष्ठिर ने स्थल, जल और उभयज सभी जरायुज से लेकर उद्‌भिज्ज पर्यन्त प्राणियों को एकत्र कराया था।[1]

इस प्रकार के यज्ञों का सम्पादन पूर्णरूपेण राजकीय स्तर पर होता था जिसमें उसी की शक्ति लगती थी और वही प्रवन्ध भी कराता था। राजा की ओर से सार्ववार्णिक तृप्ति अपेक्षित थी। कोई भी व्यक्ति, राजकीय प्रयासों और प्रवन्धों के कारण, अतृप्त और असन्तुष्ट रह ही नहीं जाता था। राजसूय में—

नाभुक्तवन्तं नाहृष्टं नासुभिक्षं कथंचन ।

अपश्यं सर्ववर्णानां युधिष्ठिरनिवेशने ॥—सभा ४८।३८ ।

तथा— ततृपुः सर्ववर्णाश्च तस्मिन् यज्ञे मुदान्विताः ॥—वही ३२।१८ ।

अतः यज्ञों में प्रजा की कौतूहलवृत्तिमात्र की पूर्ति, अथवा सामान्य मनोरंजन ही नहीं अपितु आत्मरंजन और आध्यात्मिक अभ्युत्थान के लिए कथाओं से प्रचुर तत्त्व एवं भक्ष्य-भोज्य आदि पदार्थों की प्राप्ति भी हो जाती थी। यज्ञों में राजाओं को विभिन्न देशों के राजा लोग उपहार देते थे। उस समय लोगों को तत्तद्देशीय विशिष्ट वस्तुएँ देखने को मिलती थीं।

दानमहोत्सव

आषाढ़, कार्तिक, पौष, माघ आदि की पूर्णिमा को अथवा स्वेच्छानुसार राजाओं की ओर से महादान की आयोजनाएँ होती थीं। ऐसे अवसरों पर होने वाले कार्यक्रमों से उपस्थित जनसमुदाय में प्रसन्नता का अतिरेक होता था। यह भी एक प्रकार का उत्सव ही था। ये महादान किसी भी उद्देश्य से किये जा सकते थे।

धृतराष्ट्र ने पुत्रों के और्ध्वदेहिक सन्तुष्टि के लिए कार्तिक पूर्णिमा को एक महादान की योजना की थी।[2] उस दिन उन्होंने अन्न, पान, वस्त्र, स्वर्ण, मणि, रत्न, गृह, कम्वल, अजिन, ग्राम, क्षेत्र, बकरी, भेड़, हाथी, घोड़े से लेकर दासी, दास, कन्याओं और सुन्दरियों तक का दान किया था।[3]

दान के अवसरों पर धर्मभिक्षु और ज्ञानज्येष्ठ ब्राह्मणों की तो पूर्ण तुष्टि होती ही थी, साथ ही किसी भी जाति और वर्ण का प्राणी ऐसा नहीं होता था जिसकी आवश्यकताओं की पूर्ति यथासम्भव न होती रही हो। राजा उपभोग्य

---

१. आश्वमे ८७।६-९। २. आश्रम १९।१५। ३. आश्रम २०।३-४।

पदार्थों की राशि लगा देता था और प्राणिलोक यथेच्छ उपभोग के लिए स्वतन्त्र कर दिया जाता था। कार्तिक महादान में—

ततोऽनन्तरमेवात्र सर्ववर्णान्महीपतिः।
अन्नपानरसौघेन प्लावयामास पार्थिवः ॥—आश्रम २०।११।

इतना ही नहीं अपितु 'जगत् संप्लावयामास धृतराष्ट्रदयाम्बुधिः'।[1]

एक अनिश्चित तिथि को वारणावत में कुन्ती ने भी दान-महोत्सव का आयोजन किया था और ब्राह्मणों को भोजन कराया था। यह आयोजन रात्रिमुख में हुआ था जिसमें सब वर्णों के स्त्रीपुरुषों ने भाग लिया था। इस अवसर पर मद्यपान का भी विशेष प्रबन्ध था जिसमें सब लोगों को जी भर कर पीने की स्वतन्त्रता थी। इसी दिन अपने पाँच पुत्रों के साथ निषादी ने भी खूब पिया था जो रात में लाक्षागृह में जलमरी थी।[2]

राक्षसराज विरूपाक्ष आषाढ़ी तथा माघी को सामान्यतः तथा कार्तिकी को विशेषतः ब्राह्मणभोज कराता था।[3] किन्तु वहाँ भी चातुर्वर्ण्य के तृप्ति की कल्पना की जा सकती है।

ब्राह्मणों को यथेष्ट भोजन के साथ सुवर्ण, रजत, मणि, मुक्ता, मूल्यवान् प्रस्तर, वैडूर्यमणि, अजिन, रांकव, वस्त्रराशि आदि दक्षिणा में मिलते थे और राजा की ओर से घोषणा कर दी जाती थी कि—

येषु येषु च भाण्डेषु भुक्तं वो द्विजसत्तमाः।
तान्येवादाय गच्छध्वं स्ववेश्मानीति भारत ॥—शान्ति १६५।१९।

राजकुल और राज्य से सम्बद्ध समाज तथा उत्सव

राजकुल को अनेक वृत्तान्तों से युक्त माना गया है। साधारणतः राजा की सवारी, विजययात्रा, विजय के पश्चात् नगर प्रवेश, राज्याभिषेक, विवाह, जन्म, शिक्षा सम्बन्धी समाज, राजकीय अतिथियों का स्वागत, और्ध्वदेहिक कर्म आदि राजा, राजकुल एवं राज्य से सम्बद्ध अनेक ऐसे अवसर आते थे जिनमें प्रजा का पूर्ण सहयोग होता था। उस समय के अलंकरण, शोभनकर्म तथा पुरुष-विशेष का दर्शन कर लोक को लोचन-लाभ का फल मिल जाता था। "नगर की देवियाँ गवाक्षों से धान की खीलों और पुष्पवर्षा से राजा, राजकुमार या वर की अभ्यर्थना करती थीं। जुलूस में पीछे बड़ी दूर तक साधारण नागरिक पीछे चला करते थे। जान पड़ता है कि प्राचीन काल के ये जुलूस जनसाधारण के लिये एक विशेष आनन्ददायक उत्सव थे।[4]

---

१. आश्रम २०।१३। २. आदि १३६।५,७,८। ३. शान्ति १६५।१५-१६।
४. हजारीप्रसाद द्विवेदी : प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद, पृष्ठ ८७।

विजय-यात्रा से लौटने पर उत्सव

महाभारत में युद्ध-यात्रा करना राजाओं का धर्म सा हो गया था। दूसरे देशों पर विजय से राज्यसीमा की वृद्धि होने तथा वहाँ से धनराशि लाने के कारण राजा तथा प्रजा दोनों में महान् हर्ष छा जाता था। लौटते समय आधे मार्ग से ही सेनानायक अथवा राजा शीघ्रगामी दूतों से राजधानी में विजय का शुभ सन्देश भेजते थे[1] जिसके अनुसार राजधानी से उनके स्वागत की तैयारियाँ होने लगती थीं।

ऐसे अवसरों पर पताकाओं से राजमार्ग सजाये जाते थे, पुष्पादि से देवताओं का विधिवत् पूजन होता था और पुरस्थ कुमार, योद्धागण एवं वेश्याएँ वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर विधिवत् वाद्यों के साथ स्वागतार्थ नगर से तैयार होकर चल पड़ते थे। घण्टापणवक (घोषणा करने वाला) मत्तवारण पर चढ़कर नगर के समस्त चतुष्पथों पर राजा के विजय की घोषणा करता था। अन्य सखियों एवं कुमारियों के साथ राजकुमारियाँ अलंकृत होकर आगवानी करने जाती थीं। हाथ में स्वस्तिक धारण किये, भेरी, तूर्य, शंख आदि बजाते हुए, बहुमूल्य वेष धारण कर अत्यन्त उल्लास से सूत, मागध, नन्दी, वादक और पणव-तूर्य-नादकों के साथ सारा नगर-जनसमुदाय प्रत्युद्गमन हेतु राजकीय विजय की घोषणा सुनते ही तैयार हो जाता था।[2] कुरुक्षेत्र में आततायियों का नाश कर नगर में प्रवेश करते समय सानुचर पाण्डवों के स्वागत में किया गया मार्ग-शोभन, राजमार्ग की रजःप्रशान्ति हेतु जल-सेक तथा जनसमुदाय का सहयोग और गवाक्षों के पास बैठी स्त्रियों की झाँकी आदि का सजीव चित्रण महाभारत में है।[3] यज्ञार्थ मरुत्त के यज्ञ की अवशिष्ट स्वर्णराशि के लाने पर वृष्णिवीरों द्वारा की गई आगवानी बड़ी भव्य थी। माल्य समूहों से नगर का शोभन, विचित्र पताकाओं और ध्वजों से घरों की सजावट, राजपुरुष विदुर की आज्ञा से देवमन्दिरों की बहुविध पूजा और राजमार्गों का पुष्पों से अलंकरण, नर्तकों के सोल्लास नृत्य, गायकों के गायन, विविक्तस्थलों पर सहस्रों स्त्रियों के साथ वन्दियों की वन्दना आदि से प्रहृष्ट हस्तिनापुरी कुबेरपुरी की समता कर रही थी।[4] उस दिन—

> अघोषयत्तदा चापि पुरुषो राजधूर्गतः।
> सर्वरात्रिविहारोऽद्य रत्नाभरणलक्षणः॥ आश्वमे ६९।२०।

विधाता के वरदान से मत्त, सुन्द और उपसुन्द के द्वारा भी ऐसी स्थिति अपने

---

१. विराट ३२।४८-४९।
२. वही ६३।२३-२८।
३. शान्ति ३८।४५-४९; ३९।१-९।
४. आश्वमे ६९।१२-१८।

राज्य में उत्पन्न कर दी गई थी कि—

भक्ष्यतां भुज्यतां नित्यं रम्यतां गीयतामिति ।
पीयतां दीयतां चेति वाच आसन् गृहे गृहे ॥ आदि २०१।२० ।

ये उत्सव पूर्णतः राजकीय थे और अनेक राज्यों में एक ही परम्परा दृष्टिगोचर होने से यह स्पष्ट हो जाता है कि लगभग समस्त जनपदों में यथाशक्ति और यथावसर इस प्रकार के उत्सव सम्पन्न ही किये जाते थे जिसमें लोक प्रमुदित होता था ।

राजकीय अतिथियों के आगमन पर

राजकीय अतिथियों के आगमन पर सम्मानार्थ उन्हें विविध सुख-सुविधायें प्रदान की जाती थीं । उनके आने पर राजा द्वारा किये गये स्वागतकर्मों को देख-देख कर प्रजा प्रसन्न होती थी और उसके जीवन में वह भी एक आनन्द का दिन हो जाता था । प्रजा के आनन्द का प्रथम कारण होता था विदेशीय अतिथियों तथा उसके सम्मानार्थ किये गये कार्यक्रमों का दर्शन तथा द्वितीय कारण था उनके द्वारा दिया गया दान । जनप्रहर्ष तथा जनसहयोग का न्यूनाधिक्य आगन्तुक की लोकप्रियता की मात्रा पर आधृत था । अलंकरण, जनयोग और आडम्बर अतिथि के प्रति होने वाले आदर एवं सम्मान के प्रतीक थे । अर्जुन के पहुँचने पर उनके सम्मानार्थ द्वारका का कोना-कोना और गृहाराम तक सजाया गया था ।[1] युद्ध में सहायता के लिये आ रहे शल्य को अपने पक्ष में मिलाने के उद्देश्य से दुर्योधन ने मार्ग में रमणीय स्थलों पर चित्रविचित्र एवं अलंकृत सभाओं का निर्माण कराया था ।[2] कृष्ण के दौत्यकर्म हेतु चलने पर मार्ग में ब्राह्मण उनको मधुपर्क समर्पित करते थे और कृष्ण उनको धन दान करते थे । मार्ग में आकर स्त्रियाँ उनके ऊपर सुगन्धित पुष्पों की वृष्टि करती थीं ।[3] धृतराष्ट्र के आदेश से दुर्योधन ने मार्ग में सभायें बनवाई थीं, जो बहुविध आसनों, स्त्रियों, गन्धों आभूषणों, सूक्ष्मवस्त्रों, हितकर अन्न, पान एवं सुगन्धित मालाओं में भर दिया था ।[4] समस्त पुत्रों, पौत्रों, विभूषित गणिकाओं और कन्याओं को 'अनावृत' रूप से कृष्ण का स्वागत करने की आज्ञा मिली थी । धृतराष्ट्र ने आज्ञा दी थी कि दशों दिशाओं में बड़े-बड़े झण्डे फहराये जायें और जल का छिड़काव करके सड़कों की धूलि शान्त की जाये ।[5] अतः कृष्ण के सम्मानार्थ नगर और राजमार्ग सजाये गये थे और आबाल-वृद्ध सब स्त्री-पुरुष कृष्ण की दर्शन की लालसा से व्याकुल थे ।[6] महाभारतकार के शब्दों में—

राजमार्गे नरा न स्म संभवन्त्यवनिं गताः ।
तथा हि सुमहद् राजन् हृषीकेषप्रवेशने ।

---

१. आदि २१०।१६ । २. उद्योग ८।७ । ३. वही ८२।१३-१४ ।
४. वही ८३।१२-१६ । ५. वही ८४।१३-१८ । ६. वही ८७।६-७ ।

आवृतानि वरस्त्रीभिर्गृहाणि सुमहान्त्यपि।
प्रचलन्तीव भारेण दृश्यन्ते स्म महीतले॥
तथा च गतिमन्तस्ते वासुदेवस्य वाजिनः।
प्रनष्टगतयोऽभूवन् राजमार्गे नरैर्वृते॥—उद्योग ८७।८-१०।

अतः अतिथियों के आने से प्रजा में महान् उल्लास तथा प्रसन्नता छा जाती थी।

राजगृह से सम्बद्ध उत्सव

राजगृहों में सर्वदा कुछ न कुछ अवश्य ही प्रसन्नतादायक कर्म हुआ करते थे। कुटुम्ब से सम्बद्ध कार्यों में राजा और राजपरिवार द्वारा दिये गये दान, अर्थ साहाय्य तथा प्रोत्साहनों के कारण उनके घर का आनन्द-मंगल सदेह ही प्रजा के भी घर में उतर सा आता था। धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर के जीवन से सम्बद्ध कृत्यों के सम्पन्न कराते समय—

क्रियमाणेषु कृत्येषु कुमाराणां महात्मनाम्।
पौरजानपदाः सर्वे बभूवुः सततोत्सवाः॥
गृहेषु कुरुमुख्यानां पौराणां च जनाधिप।
दीयतां भुज्यतां चेति वाचोऽश्रूयन्त सर्वशः॥—आदि १०२।१३-१४।

जन्म के अवसर पर

राजा के घर में कुमारजन्म होने पर प्रजा के भी घर में राज्य के रक्षक का जन्म होता था। अतः सर्वत्र प्रसन्नता छा जातो थी। ऋषियों द्वारा पाण्डु-पुत्रों के आनयन का समाचार सुनकर किसी वर्ण का कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं था जो उनके दर्शन की उत्कण्ठा से सभा की ओर न दौड़ पड़ा हो।[1] परिक्षित् के जन्म पर राजा की ओर से अन्य कार्यक्रमों के साथ मल्ल, नट, झल्ल, ग्रन्थिक, सौरव-शायिक, सूत, मागध आदि की कला का प्रदर्शन कराया गया था।[2] प्रजा उनको देखकर अत्यन्त आनन्दित होती रही होगी।

शिक्षा प्रदर्शन और समाज

राजकुमारों की प्राप्त अस्त्रशस्त्रशिक्षा के प्रदर्शन के लिए राजा की ओर से आयोजन होते थे। ये पूर्णतः सार्वजनिक होते थे। अतः उन्हें देखने के लिए राजा की ओर से नगर में डुग्गी पिटवाई जाती थी। दर्शकों के लिए समाजवाट सजाया जाता था और उनके बैठने का समुचित प्रबन्ध भी किया जाता था। प्रेक्षागार को विशेष रूप से अलंकृत किया जाता था।[3]

राजमहिषियों तथा अन्य स्त्रियों के, दासियों और सेविकाओं सहित बैठने के लिए मंच बनवाये जाते थे। राजा, राजसेवक, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और

१. आदि ११७।१२। २. आश्वमे ६९।७। ३. आदि १२४।९-१३।

शूद्र सब लोग प्रसन्नतापूर्वक परस्पर ऊँच-नीच का भाव छोड़कर वहाँ उपस्थित होते थे और आनन्द लूटते थे। वादित्र, वाद्य एवं शंखों की ध्वनि से सम्पूर्ण आयोजन में चार चाँद लग जाता था।[१]

विवाह और स्वयंवर

राजपुत्रों के विवाह और राजकुमारियों के स्वयंवर भी पौरों और जानपदों के लिए आनन्द के दिन बनकर आते थे। राजपुत्रों के विवाह में सुरभिरेय के पान, भक्ष्य-भोज्यपदार्थों का आधिक्य, गायन एवं आख्यान में कुशल नट, वैतालिक आदि की उपस्थिति, ब्राह्मणों को गौ, रत्न, वस्त्र, भूषण, शयन आदि के दान से स्वतः महोत्सव उपस्थित हो जाता था।[२] अभिमन्यु के विवाह में—

तन्महोत्सवसंकाशं हृष्टपुष्टजनावृतम्।
नगरं मत्स्यराजस्य शुशुभे भरतर्षभ ॥—विराट ६७।३८।

स्वयंवरों को देखने की इच्छा से दूर-दूर से देश-देशान्तर के नट, वैतालिक, नर्तक, सूत, मागध एवं मल्लयुद्धप्रवीण जन-समुदाय अपनी-अपनी कला प्रदर्शित करने के लिए आते थे।[३] इन स्थलों पर दिग्-दिगन्त से आये राजा अपनी उदारता तथा श्रेष्ठता का परिचय कराने के लिए परस्पर स्पर्धापूर्वक दान देते थे।[४] इससे प्रासाओं को प्रेरणा मिलती थी और उनके कृत्यों से दर्शकों का मनोरंजन होता था।

राजाओं, पौरों और राज्यवासियों के लिए नगर से वाहर समतलभूमि पर सुविधानुसार समाजवाट बनवाये जाते थे जो अनेक प्रकार के वितानों से समन्वित होते थे। शतशत तूर्यनादों से निनादित, अतुल धूपगन्ध से सुवासित, चन्दन जल से सिंचित और मालावलियों से समलंकृत समाजवाट[५] प्रजा की प्रसन्नता वढ़ाते थे। पौरजानपदों के बैठने का उचित प्रवन्ध होता था। द्रौपदी के स्वयंवर में—

मञ्चेषु च परार्ध्येषु पौरजानपदाः जनाः।
कृष्णादर्शनतुष्ट्यर्थं सर्वतः समुपाविशन् ॥—आदि १७६।२६।

सभा-प्रवेश

शुभ दिन, नक्षत्र और घड़ी में राजा ब्राह्मणों को सुस्वादु भोजन कराने के पश्चात् सभा में प्रवेश करता था। यह भी एक उत्सव ही होता था जिसमें घृत, पायस, मधु, भक्ष्य फलमूल, यथायोग्य वस्त्र, गोदान तथा मालाओं से ब्राह्मण सत्कार होता था। विविध वाद्यस्वरों, उच्चावच गीतों एवं गन्धों से देवताओं का पूजन होता था।[६] युधिष्ठिर के सभा-प्रवेश करने पर—

१. आदि १२४।१४-१६। २. विराट ६७।३६-३७। ३. आदि १७५।१६। ४. वही १४। ५. वही १७६।१६-१८। ६. सभा ४।१-४।

तत्र मल्ला नटा झल्लाः सूता वैतालिकास्तथा ।
उपतस्थुर्महात्मानं सप्तरात्रं युधिष्ठिरम् ॥—सभा ४।५ ।

महाभारत काल में सभा बनवाना राजाओं के लिए गर्व की बात थी। सबका स्तर युधिष्ठिर की अथवा 'सुधर्मा' की कोटि का न रहा हो, किन्तु प्रत्येक राज्य में सभा को किसी रूप में स्थिति में कोई सन्देह नहीं। सभाप्रवेश के अन्तर्गत पूर्वाभिषिक्त राजाओं का नवनिर्मित सभा में अथवा नव अभिषिक्त राजा के पुरानी सभा में प्रवेश दोनों ही आ जाते हैं।

राजयात्राओं से आनन्द

राजा लोग तीर्थ, घोष, विहार आदि की यात्राएँ किया करते थे जिनके साथ उनके सेवकों तथा दासियों के साथ यथावसर सामान्य जन भी जाया करते थे। इन यात्रायों में राजे लोक से इतना मिल जाते थे कि उनके व्यक्तिगत जीवन के आनन्द के क्षणों में लोक समाविष्ट हो जाता था अथवा वे स्वयं लोक में समाविष्ट हो जाते थे।

तीर्थयात्रा

तीर्थयात्रा सदृश पुण्यकर्मों में भी प्रजा उनके साथ रहती थी। युधिष्ठिर के साथ अनेक लोगों ने कुछ दुर्गम स्थलों को छोड़कर प्रायः समस्त तीर्थों का भ्रमण किया था।[1] कृष्ण के साथ तीर्थयात्रा में नटनर्तक भी साथ थे। प्रभास क्षेत्र में अर्जुन ने कृष्ण के साथ ही गायन-वादन करते हुए नट-नर्तकों का आनन्द लिया था।[2] मौसलपर्व में तो राजा की ही ओर से समुद्र की तीर्थयात्रा की घोषणा की गई थी।[3] धृतराष्ट्र ने आश्रम जाने पर भी वहाँ के वासियों के साथ तीर्थ यात्रा की थी।[4] बलराम की तीर्थयात्रा प्रसिद्ध ही है।

नाना प्रकार के भोज्य-भक्ष्य, पेय और मद्य का भी प्रबन्ध राजा ही कराता होगा।[5]

घोषयात्रा

घोष नगर से दूर रम्य वन-प्रदेशों में हुआ करते थे।[6] वहाँ के रमणीय दृश्य को देखने के लिए नागर राजे लालायित हो जाया करते थे। वहाँ जाने से उनका 'एकपन्थ दो काज' होता था। वे गायों, गोवत्सों एवं वृषभों का अंकन करते थे और मनोरम दृश्यों के अवलोकन से प्रमुदित भी होते थे। उनके साथ राजसेवक परिजन तथा पुरजन भी जाते थे।[7] घोषों में पहुँच कर वे लोग गोरस, नवनीत आदि गव्य पदार्थों का सेवन करते और गोपों का नृत्य-गान

१. आरण्यक १४१।४-५,१०,२९। २. आदि २१०।१०।
३. मौसल ३।२२। ४. आश्रम २५।२,५। ५. मौसल ४।६८,१४।
६. आरण्यक २२८।४। ७. आरण्यक २२८।२३-२७।

कराते थे।[१] इस प्रकार उनके साथ रहने वाले अनुचर वर्ग और गोपगण दोनों ही अत्यन्त प्रमुदित होते थे।

विहार-यात्राएँ

घोषों से सर्वथा भिन्न किन्तु नगर से दूर वाहर रमणीय वन्य प्रदेशों में जहाँ जल की प्राप्ति सुविधापूर्वक सम्भव थी, विहार होते थे। वहाँ मन वहलाने के लिए राजा लोग अपने परिवार तथा अनुचरों के साथ जाया करते थे।[२] यहाँ कार्यक्रम प्रातः से लेकर सायंकाल पर्यन्त सम्भवतः चलते थे, और रात्रि होते वे नगर को पुनः लौट आते थे। विहारस्थलों पर गृह भी होते थे[३] अथवा उनकी रचना अस्थायी रीति से वस्त्रादि से भी कर ली जाती थी।[४]

नगर के वातावरण से ऊवकर कुछ परिवर्तन के लिए शर्याति,[५] कृष्ण और अर्जुन,[६] बलि,[७] धृतराष्ट्र[८] आदि राजाओं के वन अथवा विहार गमन का उल्लेख मिलता है। इनके साथ इनके परिवार के लोग भी जाया करते थे। स्त्रियाँ जलक्रीड़ा करती थीं और स्वच्छन्दतापूर्वक हँसती गाती भी थीं।[९] देवयानी और शर्मिष्ठा सदृश राजकुल से सम्वद्ध कन्याएँ वसन्त जैसी मनोमोहक ऋतु में वनविहार को जाया करती थीं और यथेच्छ मधुमाधवी का पान भी करती थीं।[१०]

इनका सम्बन्ध प्रायः विशेष रूप से राजा और राजपरिवार तक ही सीमित रहता था, तथापि उनके छोटे से छोटे व्यक्तिगत कार्यों में भी लोक के उपस्थित होने से इन यात्राओं के लिए निषेध की आशा नहीं की जाती।

मृगया-यात्रा

महाभारतकालीन राजाओं में मृगया-विनोद का विशेष प्रचलन था। ययाति की दोवार की मृगया का उल्लेख है। प्रथम वार वन में जाने पर देवयानी को कूप से निकाला (आदि ७३।१४) था और दूसरी वार (आदि ७६।४) में उससे प्रेम हुआ। इसी प्रकार उपरिचर वसु (आदि ५७।१-२) तथा दुःषन्त की भी (आदि ६३।९) मृगया यात्रा का वर्णन है। अर्जुन ने मृगया के ही वहाने सुभद्रा के हरण की तैयारी की थी (आदि २१२।५)।

मृगया हेतु साथ में सैनिक और योद्धागण ही जाते थे पुर और जनपद के लोग दूर तक साथ जाकर लौट आते थे। वास्तव में दर्शनीय होती थी सेना और योद्धाओं की सजावट, श्रवणीय होते थे शंख, दुन्दुभि के नाद। विप्रगण राजाओं के स्तुतिगीत गाते थे, और लोक पराक्रमी राजा को देखकर गर्व

१. आरण्यक२२९।७-१२। २. आदि २१४।१७।
३. आदि २१४।१८,२१; आश्रम १०।४। ४. आदि ११९।२९।
५. आरण्यक १२२।५। ६. आदि २१४।१८। ७. शान्ति २१६।१८।
८. आश्रम १।१६। ९. आदि २१४।२१,२३। १०. आदि ७५।३।

करता था। स्त्रियाँ अट्टालकों पर चढ़कर राजा की प्रशंसा करती थीं और उनके ऊपर पुष्पवृष्टि करती थीं आदि (६३।१-१०)।

निःसन्देह राजाओं और राजपुरुषों के मनोरंजन का मृगया एक प्रमुख साधन थी; किन्तु दिग्भ्रम, पुर-शून्यता और पशुहिंसा के कारण धर्मशास्त्रकारों ने इसमें आसक्ति को अनिष्टकर कहकर निषिद्ध किया था।

मनोरंजन के अन्य साधन

धार्मिक तथा राजकुल से सम्बद्ध उत्सवों के अतिरिक्त राजा की ओर से सार्वजनिक उद्यान के प्रबन्ध का उल्लेख मिलता है। आरामों की भी व्यवस्था की जाती थी और उनकी सुरक्षा का ध्यान रखा जाता था।

उद्यान और आराम व्यवस्था

राजा और राजपुरुषों के लिए वन-विहार का मार्ग खुला था, किन्तु सामान्य प्रजा अपने कामों में व्यवधान के भय से यथेच्छ रूप से उस प्रकार के वातावरण से प्रायः वंचित रह जाती थी। अतः ग्रामों और नगरों में आराम तथा पुरोद्यान का प्रबन्ध राजाओं की ओर से होता था, जहाँ पर प्रकृति की सुकुमार छवि का अवलोकन कर प्रजा अपने जीवन के श्रम और कर्कशता को विस्मृत सा कर आनन्दित हो जाती थी।

लंका[1] और द्वारका[2] के पुरोद्यानों का उल्लेख क्रमशः राम और शाल्वराज के आक्रमण के प्रसंग में किया गया है। इसी प्रकार वालि ने भी 'मधुवन' नामक फलोद्यान की व्यवस्था की थी जिसकी देख-रेख के लिए रक्षक भी नियुक्त किये थे।[3] भीष्म ने अपने राज्य-रक्षण काल में कूप, वापी, सभा आदि के साथ आरामों की भी विशेष व्यवस्था कराई थी।[4] खाण्डवप्रस्थ को बसाने के समय युधिष्ठिर ने उद्यानों का विशेष ध्यान रखकर नगर के चारों ओर रम्य उद्यानों का निर्माण कराया था। व्यास के शब्दों में—

उद्यानानि च रम्याणि नगरस्य समन्ततः।
आम्रैराम्रातकैर्नीपैरशोकैश्चम्पकैस्तथा ॥—आदि १९९।३९।

सभा निर्माण के समय मय ने विभिन्न प्राकृतिक दृश्यों की भी व्यवस्था की थी।[5]

पुरोद्यान की परम्परा कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी मिलती है। इन्होंने उद्यानों को क्षति पहुँचाने वालों के लिए दण्ड का भी विधान किया था।[6]

द्यूतक्रीडा

द्यूतक्रीड़ा राजाओं के मनोरंजन का साधन था। यह प्रायः सब जनपदों में प्रचलित थी। नल और पुष्कर (आरण्यक ५६।४-५), युधिष्ठिर और शकुनि

---

१. आरण्यक २६७।५९। २. वही १५।७। ३. आदि १०२।११।
४. आरण्यक २६६।२६। ५. सभा ३।३१-३४। ६. अर्थशास्त्र ३।१९।

(सभा—द्यूतपर्व), राजा ऋतुपर्ण (आरण्यक ६३।१९) और विराट अक्षविद्या में प्रवीण थे। विराट ने तो युधिष्ठिर की नियुक्ति ही अक्षक्रीड़ा के लिए की थी।

यह क्रीड़ा सामान्यतः सभा में हुआ करती थी जहाँ पर लोक उपस्थित होकर देख सकता था, तथापि महाभारत काल में इसके सार्वजनिक मनोरंजन के साधन होने में सन्देह है। इससे राजाओं को ही विशेप आनन्द मिलता था। राजनीतिज्ञों ने राष्ट्र को भी पण्य बना देने की आशंका से, इसमें राजाओं के आसक्त न होने की अनुमति दी थी।

संकटकाल में मनोरंजन

केवल संघर्ष और यन्त्रवत् कार्यरति से जीवन में नीरसता और उदासीनता की अनुभूति न होने लगे, अतः संकटकाल—परचक्राभिघात—में भी भीष्म ने प्रमोद के साधनों को नगर में रखने का उपदेश दिया था। उनके मतानुसार—

> नटाश्च नर्तकाश्चैव मल्ला मायाविनस्तथा।
> शोभयेयुः पुरवरं मोदयेयुश्च सर्वशः॥—शान्ति ६९।५८।

कौटिल्य ने इनकी स्त्रियों को, देशदेशान्तर की भाषा तथा स्थलों के ज्ञान के कारण शत्रुओं के चारघात के निमित्त नियुक्त कर आनुषंगिक लाभ उठाने की सम्मति दी है।[1]

स्कन्धावारों में मनोरंजन व्यवस्था

स्कन्धावारों में प्रधान महारथियों के शिविरों में भी नट-नर्तक, गायक, गणिका आदि की उपस्थिति रहती थी। सिन्धुराज जयद्रथ के शिविर में मनोग्राह्य एवं श्रुतिसुखद शब्द होते थे। कौरवों के शिविरों में सूत, मागध तथा नर्तकों के कोलाहल, अश्वत्थामा के शिविर में अहर्निश होने वाले गीत और गायकों तथा नर्तकों के रागरंग तथा विन्दानुविन्द शिविर की तालध्वनि से भी उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि होती है।[2] इनके सहसा स्थगित हो जाने पर आश्चर्यपूर्वक धृतराष्ट्र ने संजय से पूछा था—

> नित्यं प्रमुदितानां च तालगीतस्वनो महान्।
> नृत्यतां श्रूयते तात गणानां सोऽद्य न ध्वनिः॥
> नानादेशसमुत्थानां गीतानां योऽभवत् स्वनः।
> वादित्रनादितानां च सोऽद्य न श्रूयते महान्॥—द्रोण ६१।१७,२०।

इससे भी रणवीरों के शिविरों में रंगस्थली होने का आभास होता है। भीष्म पितामह के शरशायी हो जाने पर भी उनके चारों ओर तूर्यनाद, गणिकाओं, नटों तथा नर्तकों के गाने, बजाने और नाचने का उल्लेख है (भीष्म ११६।४)।

---

१. अर्थशास्त्र २।२७। २. द्रोण ६१।६-८,१३-१६।

उत्सवों से लोक-कल्याण

मनःप्रहर्ष से व्यक्तिगत जीवन का कल्याण तो निश्चित ही है; साथ ही उत्सवों से आर्थिक, सामाजिक एवं धार्मिक कल्याण भी होते थे। ब्राह्मण, सूत, मागध, नट, नर्तक आदि जिनकी जीविका प्रधानतः दान और स्वधर्मानुसार प्रजारंजन के बदले में प्राप्त धन से ही चलती थी, उत्सवों में प्राप्य धन से उसकी सिद्धि कर लेते थे। मनोरंजन के पश्चात् कोई भी आनन्दपूर्वक, बिना किसी भार का अनुभव किये, पैसे दे सकता है। इस प्रकार अर्थसंकट के न होने के कारण वर्णधर्म के शाश्वत विधानों की भी रक्षा हो जाती थी, किसी को जीविका के लिये दूसरे साधन नहीं अपनाने पड़ते थे, और फलतः कर्मसंकर तथा वर्णसंकर के दुष्परिमाणों से लोक बच जाता होगा। 'काम' नामक पुरुषार्थ की सिद्धि भी समाज को हो जाती थी और लोक में कलात्मक प्रगति होती थी।

धार्मिक उत्सवों में विविध धार्मिक कथाओं, आख्यानों और उपाख्यानों के श्रवण, अथवा तीर्थ सदृश पुण्य स्थलों के दर्शन से आध्यात्मिक तथा नैतिक प्रगति होती थी और लोक का भौगोलिक ज्ञान बढ़ता था।

संकट काल में पुर में नट, नर्तकादि की उपस्थिति से समस्त वातावरण में व्याप्त भय, अशान्ति एवं उद्विग्नता एक क्षण के लिए दूर हो जाती रही होगी। युद्ध क्षेत्रीय शिविरों में भी इसका यथोचित प्रबन्ध होने से इनके अभाव में प्रतिक्रिया स्वरूप प्रजा पर होने वाले अत्याचार-व्यभिचार आदि की भी संभावना अल्पतम मात्रा में ही की जा सकती है।

अतः तत्कालीन उत्सवों के पूर्णरूपेण सर्वत्र मनोरंजन के लिये ही न होने पर भी, वे जिन रूपों में विद्यमान थे, सब उस युग की आवश्यकता के अनुसार ही थे। उनके उन्हीं रूपों से लोक कल्याण की आशा की जाती थी।

जो उत्सव लोक के द्वारा भी सम्पन्न किये जाते थे उनमें राजा लोक के एक समर्थ प्राणी की भाँति भाग लेता था और प्रधान रूप से उनको सम्पन्न एवं समृद्ध करने की चेष्टा करता था।

दशम अध्याय

लोक के स्वास्थ्य-वर्धन की राजकीय योजनाएँ

[महाभारत में राजकीय स्वास्थ्य-योजना का स्वरूप, विशिष्ट स्वास्थ्य-योजना के अभाव का कारण—

अ—धार्मिक कारण—साधारण धर्म से मानसव्याधि, नित्यकर्म से स्वास्थ्य, भक्ष्याभक्ष्य एवं शौच से स्वास्थ्य, मद्यनिषेध, ब्रह्मचर्य।

आ—समाज का सहयोग—विवाह, वैद्य आदि का विशेषविधान।

इ—राजकीय सहयोग की अपेक्षा—राजा द्वारा वैद्यों को सम्मान और शुल्कदान, निजस्वास्थ्यरक्षा, स्कन्धावारों में वैद्यों की व्यवस्था और सेनारक्षा, वैद्यों की आवासव्यवस्था, औषधसंग्रह, स्वच्छता व्यवस्था, यज्ञों का आयुर्वेदिक महत्त्व, भारतीय राजाओं द्वारा यज्ञ।

ई—स्वास्थ्यवृद्धि के निषेधात्मक उपाय—मद्यनिषेध।]

महाभारत में राजकीय स्वास्थ्य-योजना का स्वरूप

उस काल में प्रजा की स्वास्थ्य-वृद्धि के लिये राजा के उस प्रकार के रचनात्मक कार्य नहीं दृष्टिगोचर होते, जिस प्रकार की आशा हम आज करते हैं। चिकित्सालय, औषधालय अथवा स्वास्थ्यकेन्द्रों का निर्माण या प्रजा की स्वास्थ्य-रक्षा और रोग-शमन हेतु वैद्यों या आयुर्वेदज्ञों की राजकीय नियुक्ति का स्पष्ट उल्लेख नहीं। उस समय राजा से अधिक से अधिक यही आशा की जाती थी कि वह उन समस्त धार्मिक क्रियाओं एवं सामाजिक मान्यताओं को स्थायित्व प्रदान करे और प्रोत्साहन दे जिनसे स्वास्थ्यवृद्धि और रोगनाश में सहायता मिलती थी। कुछ क्षेत्रों में जहाँ वैद्यों की नियुक्ति के विवरण मिलते हैं वहाँ भी वे चिकित्सक सामान्य जनता की भी सेवा के लिये राजकीय स्तर पर नियोजित नहीं होते थे।

विशिष्ट स्वास्थ्य-योजना के अभाव का कारण

महाभारत काल में विशिष्ट राजकीय स्वास्थ्य-योजना के अभाव के धार्मिक और सामाजिक कई कारण थे। इनके द्वारा निर्धारित मार्गों पर चलकर मानव स्वतः स्वास्थ्यलाभ कर सकता था।

धार्मिक कारण

धर्माचरण सम्बन्धी अनेक ऐसे नियम थे जिनका आयुर्वेदिक महत्त्व था और पालन करने से मनुष्य के शतायु एवं स्वस्थ रहने की आशा की जाती थी।

साधारण धर्म से मानस-व्याधि की शान्ति

सुश्रुत[1] की भाँति महाभारतकार[2] ने भी व्यक्ति के रोगों का मूल कारण क्रोध, काम, ईर्ष्या आदि मानसिक वृत्तियों को ही निश्चित किया था। साधारण धर्मों में इनके विरोधी दम, तप, अक्रोध, दया, क्षमा आदि हैं जिनका विधान किसी वर्ण, वर्ग, समुदाय अथवा व्यक्तिविशेष के लिए न होकर मानवमात्र के लिए था।[3] साधारण-धर्मों से होने वाली लोक की मानस-शुद्धि आनुषंगिक रूप के आधिव्याधि के प्रतिकार का उपाय था।

नित्य कर्म से स्वास्थ्य

'धर्मादायुर्विवर्धते'[4] इस मान्यता के अनुसार ऐसे धार्मिक कृत्यों को जिनके अनुष्ठान से आयु की वृद्धि और स्वास्थ्य-सम्प्राप्ति के साथ अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति भी सम्भव थी, 'नित्यकर्म' के नाम से अभिहित किये गये थे। नित्यकर्मों के न करने से प्रत्यवाय का भय दिखलाया गया था। एक ओर तर्पण, महायज्ञ, अर्घ्यदान आदि से मन में सात्त्विक त्यागमयी भावना का उद्रेक होता है, दूसरी ओर प्राणायाम और हवन से आयु की वृद्धि। अर्थात् नित्यकर्म से मानस तथा शारीर दोनों प्रकार के रोगों की सम्भावना कम थी। महाभारतकार ने स्पष्ट रूप से सन्ध्यावन्दन का आयुर्वेदिक महत्त्व स्वीकार किया था और कहा था "ऋषयो नित्यसंध्यत्वाद् दीर्घमायुरवाप्नुवन्"।[5] जो द्विज इनका विधान नहीं करता उसके लिए दण्ड का भी विधान किया था—

तस्मात्तिष्ठेत् सदा पूर्वां पश्चिमां चैव वाग्यतः।
ये न पूर्वामुपासन्ते द्विजाः संध्यां न पश्चिमाम्॥
सर्वांस्तान् धार्मिको राजा शूद्रकर्माणि कारयेत्॥—अनुशा १०४।१९-२०।

मनुस्मृति में भी विधिवत् सन्ध्यामात्र के अनुष्ठान से ऋषियों के दीर्घायुष्य, सन्तति, यश आदि की प्राप्ति का उल्लेख है।[6]

भक्ष्याभक्ष्य एवं शौच से स्वास्थ्य

भक्ष्य, भोज्य आदि पदार्थ, स्नान, मलमूत्र-त्यागविधि तथा सामान्य शौच के नियमों का समुचित ज्ञान न होने अथवा ज्ञान होने पर भी तदनुकूल आचरण न करने से शरीर में पदे-पदे व्याधियों की आशंका होती है। अतः मनु[7] के अनुसार महाभारतकार[8] ने भी यथावसर इनका उपदेश दिया और तदनुकूल आचरण को धर्म माना।

---

१. सुश्रुत : सूत्रस्थान १।२५,२६। २. अनुशा १०४।१३-१४; शान्ति १६।९।
३. शान्ति ६०।७,८। ४. अनुशा १०४।१५५। ५ वही १८।
६. मनु ४।९४। ७. मनु ४।४५-७८। ८. शान्ति १८६।४-२३।

मूत्रपुरीष के त्यागने, मार्ग चलने, स्वाध्याय, भोजन आदि के पूर्व तथा पश्चात्, आचमन और पादप्रक्षालन का विधान पदे-पदे है।[1] 'उपवासं च कुर्वीत स्नातः शुचिरलंकृतः'[2] कहकर उपवास, स्नान, शौच और अलंकरण का भी स्वास्थ्यगत महत्त्व निर्दिष्ट किया गया था। आचमन और उपवास सदृश धार्मिक कृत्यों का आयुर्वेदिक महत्त्व वैद्यक के ग्रन्थों में भी दृष्टिगोचर होता है।[3] ये छोटे-छोटे धार्मिक कृत्य अवश्य ही स्वास्थ्य के लिए लाभप्रद होते होंगे।

मद्यनिषेध

वैदिक कालीन सोमरस की भाँति सुरा, मैरेय आदि विविध मद्यों का पान महाभारतकाल में प्रचलित था। धृतराष्ट्र सदृश (आश्रम १।१९) राजा और शर्मिष्ठा-देवयानी सदृश (आदि ७५।३) राजकुल से सम्बद्ध कन्याओं से लेकर निषाद-निषादी पर्यन्त सब लोग मधुपान में प्रवृत्त होते थे। उत्सवों में तो जैसे मधुशाला ही ढुलक पड़ती थी और दीन-कृपणपर्यन्त सुरा का आस्वादन करते थे (आश्वमे ५८।१२)।

धार्मिक क्षेत्र में सुरापान ब्रह्महत्या, अगम्यागमन, स्तेय, स्वर्णहरण के सदृश जघन्य पाप माना जाता था।[4] ब्राह्मणों के लिए तो सुरापान अत्यन्त गर्हित था ही,[5] राजा से भी आशा की जाती थी कि वे असमय में इसमें आसक्त न हों।[6] सुरापान से कुत्सित तथा परित्याग से पुण्य लोकों की प्राप्ति विहित थी।[7] सुरापान सा पाप करने पर खौलती हुई मदिरा पीकर मर जाने का प्रायश्चित्त करना धर्मसम्मत था।[8]

कर्ण तथा शल्य के "तू-तू" "मैं-मैं" से यह भी निष्कर्ष निकलता है कि उस देश का राजा भी आदर और श्रद्धा का पात्र नहीं, जहाँ के लोग व्यभिचार, मद्यप और अभक्ष्यभक्षक हों।[9]

ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्य का आयुर्वेदिक महत्त्व समझा गया था। वर्णाश्रम व्यवस्था में ब्रह्मचर्य की इस भाँति योजना की गई थी, कि इसका पालन करने से कोई भी व्यक्ति स्वस्थ रह सकता था।

लोक में जीवन के केवल एक भाग—गृहस्थाश्रम—में विषयों का सुख लेने की अनुमति दी थी, जिससे जीवशास्त्रीय आवश्यकता (Biological need)

---

१. अनुशा १०४।३९,५५।५८,६२,१०३,१०४,१०८। २. वही ८८।
३. भावप्रकाश पूर्वखण्ड ४।२३,४५,४६; M.A. Kamath: Hinduism and Modern Science, Ch. 2,3,14,15. ४. शान्ति १५९।३२,३३।
५. आदि ७१.५४-५५। ६. सभा ५।५९। ७. द्रोण १६।२९१५१।५५।३०।
८. शान्ति १५९।४५। ९. उद्योग ३६।६५।६७।

की पूर्ति होने से स्वास्थ्यवृद्धि में सहायता मिलती थी। जीवन के उन भागों में जब ब्रह्मचर्य की विशेष आवश्यकता होती है, भोगों का सर्वथा निषेध कर एक नियमित जीवनपथ का निर्धारण किया गया था। जीवन के आरोहण-काल ब्रह्मचर्याश्रम और शारीरिक अवरोहण काल—वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रमों में, शक्तिसंचय की नितान्त अपेक्षा होने से ब्रह्मचर्य का विधान था जिससे शरीर में रोगों को स्थान कम मिलता होगा। वैदिक काल से ही "ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नन्" की मान्यता चली आ रही थी। महाभारत में आजन्म ब्रह्मचारी भीष्म के मृत्युजय के निदर्शन से उपर्युक्त तथ्य की और भी अधिक पुष्टि की गई।

समाज का सहयोग

समाज ने रोगी और चिकित्सक दोनों को आदर की दृष्टि से देखना पसन्द नहीं किया था।[1] अतः लोक में चिकित्सकों से अन्नग्रहण और उनका आतिथ्य दोनों ही गर्हित थे।[2] इसका प्रधान कारण सम्भवतः वीभत्स पदार्थों का स्पर्श और तत्सम्बद्ध कर्म था। लोग सर्वदा रोगग्रस्त होने पर लज्जा का अनुभव करते होंगे और समाज के तिरस्कार से भयभीत रहते होंगे।

लोक में छूत की बीमारियाँ न फैलें, अतः पीलिया से रुग्ण, कुष्ठिनी आदि अपने शरीर से दुष्ट कन्याओं से ही नहीं अपितु अपस्मार, श्वित्र, क्षय आदि से पीड़ित कुलवाली कन्या से भी विवाह वर्जित था।[3] इस प्रकार समाज ने भी पर्याप्त योग लोक को स्वस्थ रखने के लिए दिया था।

राजकीय सहयोग की अपेक्षा

इन परमकल्याणकारी धार्मिक और सामाजिक संस्थानों के होते हुए भी समस्त लोक के उस पथ पर प्रवृत्त न होने के कारण, राजा से आशा की जाती थी कि वह करुणावश रोगग्रस्त प्राणियों की रक्षा और उपचार व्यवस्था करता। रोगप्रसार को रोकना उसका कर्तव्य था। नारद ने युधिष्ठिर से—

कच्चिदग्निभयाच्चैव सर्पव्यालभयात्तथा।
रोगरक्षोभयाच्चैव राष्ट्रं स्वं परिरक्षसि॥—सभा ५।११२।

पूछा था जिससे इन कर्मों में राजा की अपेक्षा द्योतित होती है। किन्तु अशोक की भाँति, महाभारतीय राजाओं के द्वारा सार्वजनिक चिकित्सालय खुलवाने का उल्लेख नहीं।

आपस्तम्ब[4] सदृश धर्मशास्त्रकार और कौटिल्य सदृश राजनीतिशास्त्रकार[5] ने भी रोग, हिम, आतप, क्षुधा आदि से प्रजा की रक्षा करना राजा का कर्तव्य निर्दिष्ट किया था।

१. कर्ण ३०।१४-३९। २. उद्योग ३८।४। ३. अनुशा १०४।१३२,१३३।
४. आप० ध० सू० २।९।२५।१२। ५. अर्थशास्त्र ४।३।

निज स्वास्थ्यरक्षण

प्रजा के लिए स्वास्थ्य-विधान की अपेक्षा अपना उत्तरदायित्व निभाने के लिए राजा को अपने ही स्वास्थ्य की रक्षा करना परम आवश्यक था। अतः चिकित्सकादि की व्यवस्था राजा के लिए विहित थी।

सीमान्त राजाओं के द्वारा विष आदि दिये जाने और आन्तरिक उपद्रवियों द्वारा भोजन, जल आदि खाद्य तथा पेय पदार्थों के दूषित किये जाने के भय से राजा को सर्वप्रथम अपने ही स्वास्थ्य की चिन्ता रहती थी। अतः स्वयं राजा से भी शत्रुनाशक विषयोगों और आत्मरक्षक उपायों के ज्ञान की अपेक्षा थी। मानस रोगों से मुक्ति के लिए वृद्धसेवा और शारीर रोगों के शमन के लिए औषधों का प्रयोग विहित था। अष्टांग चिकित्सा में निपुण वैद्य सदा राजा की चिकित्सा में रत रहता था।[1]

राजा द्वारा वैद्यों का सम्मान तथा शुल्कदान

वैद्यों के राजकीय नियोजन का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। सम्भवतः सब लोग सेवार्थ उपस्थित होने पर उनको पारिश्रमिक के रूप में शुल्क देते थे। सुश्रुत ने स्कन्धावार में वैद्यों के सम्मान तथा विशिष्ट निवास-व्यवस्था की आवश्यकता का निर्देश किया है,[2] किन्तु उन्होंने उनके नियोजन और अनियोजन पर प्रकाश नहीं डाला। युद्ध-क्षेत्र में भीष्म के शब्दों—"दत्तदेया विसृज्यन्तां पूजयित्वा चिकित्सकाः"[3] से भी यही निष्कर्ष निकलता है कि शिविरों में वैद्यों के उपस्थित रहने पर भी उनका नियोजन नहीं होता था और उन्हें यथावसर सेवाओं के लिए शुल्क दिया जाता था। उत्तरा के सूतिकागृह में आयुर्वेदिक विधानों, वैद्यों तथा प्रवीण वृद्धाओं की उपस्थिति के वर्णन हैं।[4] सर्पदंश के भय से शाप के अनन्तर परिक्षित् ने भी वैद्यों की व्यवस्था की थी, किन्तु सर्पविष की चिकित्सा हेतु उनके पास जा रहे काश्यप ब्राह्मण का भी उद्देश्य राजा से प्रभूत धन-लाभ था।[5] किन्तु नारद के प्रश्न —

कच्चिद् वैद्याश्चिकित्सायामष्टांगायां विशारदाः।
सुहृदश्चानुरक्ताश्च शरीरे ते हिताः सदा ॥—सभा ५।८०।

से अनुमान किया जा सकता है कि सार्वजनिक चिकित्सा हेतु वैद्यों की राजकीय व्यवस्था न होने पर भी राजा तथा राजपरिवार के लिए वैद्यों की नियुक्ति अवश्य होती होगी और संकटकाल में आवश्यकतानुसार और भी वैद्यों को बुला लिया जाता होगा। सामान्यतः लोक में वैद्यगण सुलभ होते थे।

---

१. सभा ५।७९,८०,१११। २. सुश्रुतः सूत्रस्थान ३४।१२,१४।
३. भीष्म ११५।५२। ४. आश्वमे ६७।४-७। ५. आदि ३८।२९;३९।१६।

स्कन्धावारों में वैद्यों की व्यवस्था और सेनारक्षा

महाभारत में युद्ध-प्रधान राज्यव्यवस्था चित्रित होने से भी चिकित्सकों और वैद्यों की नितान्त आवश्यकता प्रतीत होती थी। सैनिकों के अधिक संख्या में क्षत-विक्षत होने के कारण उनके व्रणविलेपन और स्वास्थ्यवर्धन का प्रबन्ध करना राजा का नैतिक कर्तव्य हो जाता था।

युद्धक्षेत्र में शल्य आदि निकालने के यन्त्र तथा औषधसमूह से युक्त कुशल वैद्य भी क्षत-विक्षत सैनिकों की परिचर्या अथवा आगन्तुक रोगों की रोकथाम के लिए स्कन्धावारों में रखे जाते थे। युद्ध की तैयारी के समय कृष्ण ने अनेक दक्ष-चिकित्सकों को सेना के साथ नियुक्त किया था।[1] भीष्म पितामह के शरशय्या पर पड़ते ही दोनों पक्षों द्वारा शल्योद्धरण में पटु, समस्त आवश्यक उपकरणों से समन्वित एवं सुशिक्षित वैद्य परिचर्या हेतु लाये गये थे।[2]

युद्धयात्रा के समय वैद्यों को साथ ले जाने की परम्परा आयुर्वेद तथा राजनीतिशास्त्र के ग्रन्थों में उपलब्ध होती है। सुश्रुत ने 'युक्तसेनीय' नामक एक अध्याय ही इस विषय पर लिखकर स्कन्धावारों में वैद्यों की उपस्थिति को अनिवार्य और महत्त्वपूर्ण सिद्ध किया था।[3] कौटिल्य ने शत्रुपीडन और शत्रुघात के साथ आत्मपक्षरक्षण को ध्यान में रखकर "औपनिषदिक" नामक एक अधिकरण की ही रचना की थी।

वैद्यों की आवास-व्यवस्था

उस समय की यह राजनीतिक चाल थी कि परचक्राभिघात होने पर अपने प्रयोग में न आ सकने वाले जल को, जिससे शत्रु को लाभ की आशा थी, आक्रान्त राजा दूषित कर दे[4] और दुर्ग में प्रवेश करे। दुर्ग में प्रविष्ट होते ही पुराने तथा प्रयोग में न आने के कारण दूषित जल वाले कुओं की सफाई कराना भी आवश्यक था।[5] अतः राजा की ओर से कुशल विषवैद्यों की व्यवस्था स्वाभाविक थी। सामान्यतः शत्रु के आक्रमण करने पर भी एक संकुचित क्षेत्र दुर्ग में अनन्त जनसंकुल के एकत्र होने के कारण भयानक संक्रामक रोगों की आशंका क्षण-क्षण रहती थी। अतः ऐसी स्थिति में स्वास्थ्य-व्यवस्था हेतु महाभारतकार ने चतुर्विध वैद्यों की आवास-व्यवस्था कराना राजा का परमकर्तव्य माना था।[6]

शान्तिकाल में भी राजा को ऐसे नगर में रहने का निर्देश किया गया था जहाँ सरलता से सांवत्सर चिकित्सक उपलब्ध हो सकें।[7] ये नगर बसाते समय अथवा बाद में अन्य वर्ण के व्यक्तियों की भाँति आकर स्वतः बसते रहे होंगे।

१. उद्योग १४९।७८। २. भीष्म ११५।५१। ३. सुश्रुतः सूत्रस्थान ३४।
४. शान्ति ६९।३७। ५. शान्ति ६९।४४। ६. शान्ति ६९।५७।
७. शान्ति ८७।१६।

औषध-संग्रह

राजधानी में निवास करते ही अथवा नगर-निर्माण के अनन्तर ही राजा औषध-संग्रह पर ध्यान देता था।[1] दूसरे राजाओं के आक्रमण करने पर आवश्यक निचेय पदार्थों में औषध का प्रमुख स्थान था। एक साथ ही वैद्यों और औषधियों के फल, मूल आदि का संग्रह करना भी राजा का कर्तव्य था।[2] एक ही प्रकरण में दो-दो बार तथा उल्लेख करने से इनकी आवश्यकता तथा राजा की आवश्य-कर्तव्यता का ज्ञान होता है।

स्वच्छता-व्यवस्था

देशकालानुसार शौच और पवित्रता को विश्व के प्रायः समस्त धार्मिक सम्प्रदायों ने आवश्यक बताया है, तथापि सार्वजनिक निवासों और राजमार्गों की स्वच्छता के लिए राजा का सहयोग अपेक्षित था। सामान्यतः लोगों से यही आशा की जाती थी कि वे राजमार्ग, गोष्ठ, अन्नराशि आदि में किसी प्रकार का अशुचि कर्म नहीं करेंगे।[3] महाभारत में इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं है कि राजा राजमार्ग आदि की स्वच्छता के लिये क्या प्रवन्ध करता था, किन्तु उनपर मलमूत्र विसर्जन करने वालों को अनिवार्य रूप से दण्ड देने का विधान मनु[4] ने अवश्य किया था। आशा की जाती है कि स्वच्छता आदि के विषय में लोक की मान्य-ताओं को स्वीकृत कर, उनको भंग करने वालों को राजा दण्ड दे सकता था। शुक्र के कार्यविधान—

कुर्यान्मार्गान् पार्श्वखातान् निर्गमार्थं जलस्य च।
राजमार्गमुखानि स्युर्गृहाणि सकलान्यपि।
गृहपृष्ठे सदा वीथिं मलनिर्हरणस्थलम्॥—शुक्रनीती १।२६६-७।

से ग्राम अथवा नगर बसाते समय स्वच्छता की व्यवस्था की परम्परा दृष्टिगोचर होती है। सभाओं या पान्थशालाओं की व्यवस्था और स्वच्छता के नियमों का विशेष उल्लेख नहीं, किन्तु उनके अस्तित्व से प्रवन्ध के भी किसी न किसी रूप का सहज अनुमान किया जा सकता है। संभव है शुक्र के नियम के अनुसार सार्वजनिक पान्थशालाओं की स्वच्छता का भार राजा की ओर से उनसे सम्बद्ध ग्रामपालों अथवा नगरपालों पर ही डाला गया हो।[5]

यज्ञों का आयुर्वेदिक महत्त्व

यज्ञों का आयुर्वेदिक महत्त्व भी था। अनेक प्रकार से कल्याणकारी होने के कारण ही संभवतः महाभारतकार ने संसार को यज्ञ के आश्रित कहा था।[6]

---

१. शान्ति ८७।१३। २. शान्ति६९।५४,५७। ३. शान्ति १८६।३।
४. मनु ९।२८०। ५. शुक्रनीतिसार १।२७०। ६. शान्ति ३६०।३३।

पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर जी ने प्राचीन अग्निचिकित्सा के तीन प्रकारों में से यज्ञचिकित्सा को अन्यतम माना है।[1] वैदिक काल में ऋतुसन्धियों पर होने वाली व्याधियों की चिकित्सा के निमित्त उन अवसरों पर यज्ञ-अनुष्ठान का विधान था। गोपथब्राह्मण में स्पष्ट कहा गया था—

ऋतुसन्धिषु वै व्याधिर्जायते। ऋतुसन्धिषु यज्ञाः क्रियन्ते।'[2]

यज्ञों में अन्य पदार्थों के साथ वीरुध्, वृक्ष तथा ओषधियों के भी हवन का विधान था,[3] जिसके कारण 'पुण्या गन्धाश्चाहुतीनां प्रवान्ति'।[4] उनसे वातावरण शुद्ध होता था, फलतः लोक के स्वास्थ्य में वृद्धि की संभावना अधिक थी।

महाभारतीय राजाओं का यज्ञ-सम्पादन

महाभारत के प्रायः सब राजाओं ने अनेक यज्ञ किये थे। राजा उपरिचर वसु,[5] मरुत्त[6] आदि के विश्व-विख्यात यज्ञों के अतिरिक्त कुरुवंशीय राजा मतिनार के द्वादशवार्षिक,[7] धृतराष्ट्र के एकशत,[8] युधिष्ठिर के दो—राजसूय और अश्वमेध, दुर्योधन के एक,[9] पूरुपुत्र जनमेजय के तीन-तीन अश्वमेध,[10] इक्ष्वाकुवंशीय राजा शतभिष् के एक सहस्र अश्वमेध और एकशत वाजपेय[11] यज्ञों से तत्कालीन राजाओं में यज्ञ करने की प्रवृत्ति का दर्शन होता है। नारद के प्रश्न—

कच्चिदग्निषु ते युक्तो विधिज्ञो मतिमानृजुः।
हुतं च होष्यमाणं च काले वेदयते सदा॥
कच्चित्क्रतूनेकचित्तो वाजपेयांश्च सर्वशः।
पुण्डरीकांश्च कात्स्न्येन यतसे कर्तुमात्मवान्॥—सभा ५।३०,८९।

से यज्ञ करना तत्कालीन राजाओं का प्रमुख कर्तव्य सा ज्ञात होता है।

स्वास्थ्यवृद्धि के निषेधात्मक उपाय

स्वास्थ्यवर्धक उपायों और कर्मों द्वारा प्रजा को यथासंभव लाभ पहुँचाने के अतिरिक्त, तत्कालीन राजाओं ने उन प्रवृत्तियों को राजकीय ढंग से भी रोकने की यदा-कदा चेष्टा की थी जिनसे जन-स्वास्थ्य को क्षति की संभावना थी।

भीष्म ने सुरापान और मधुशाला को राष्ट्रोपघातक तत्त्वों में सबसे अधिक अहितकर मानकर युधिष्ठिर को उपदेश दिया था—

पानागाराणि वेशाश्च वेशप्रापणिकास्तथा।
कुशीलवाः सकितवा ये चान्ये केचिदीदृशाः॥

---

१. गुरुकुलपत्रिका, अंक ६, वर्ष १४, जनवरी १९६२। २. वही।
३. शान्ति १२।२०। ४. भीष्म ४।१६। ५. शान्ति ३२३।५-१०।
६. आश्वमे ५,१०। ७. आदि ९०।२५-२६। ८. आदि १०६।५।
९. आरण्यक २४१-३४३। १०. आदि ९०।११। ११. आदि ९१।१-२।

नियम्याः सर्वं एवैते ये राष्ट्रस्योपघातकाः ।

एते राष्ट्रे हि तिष्ठन्तो बाधन्ते भद्रिकाः प्रजा ॥—शान्ति ८९।१३-१४ ।

अतः पानागार को राष्ट्र के लिए अहितकर समझ, उनको बन्द कराना राजा अपना धर्म समझते होंगे। वर्तमान काल में अन्य कारणों के साथ वेश्यावृत्ति निषेध का एक कारण उनसे लोगों में गुप्तरोगों के फैलने का भय भी है। संभव है इस दृष्टि से भी उनपर प्रतिबन्ध लगाया गया हो।

कुछ स्थलों पर संकटकाल में राजाओं ने मद्यपान का निषेध किया था, किन्तु उसका उद्देश्य शारीरिक स्वास्थ्य रक्षा न होकर प्रायः मानसिक संतुलन बनाये रखना था। शाल्व के द्वारका पर आक्रमण करने पर—

आघोषितं च नगरे न पातव्या सुरेति ह।
प्रमादं परिरक्षद्भिरुग्रसेनोद्धवादिभिः ॥
प्रमत्तेष्वभिघातं हि कुर्याच्छाल्वो नराधिपः ।
इति कृत्वा प्रमत्तास्ते सर्वं वृष्ण्यन्धकाः स्थिताः ॥ आरण्यक १६।१२,१३

यदा कदा सुरापान पर नियन्त्रण करने के लिये राजाओं ने नियमभंग करने वालों को दण्डित करने की भी घोषणा की थी। ऋषियों का शाप होने पर परस्पर कलह के भय से आहुक के आदेशानुसार घोषणा की गई थी—

सुरासवो न कर्तव्यः सर्वैर्नगरवासिभिः ॥
यश्च नोऽविदितं कुर्यात् पेयं कश्चिन्नरः क्वचित् ।
जीवन् स शूलमारोहेत् स्वयं कृत्वा सबान्धवः ॥ मौसल २।१८,१९

और राजभय के कारण पुनः राजाज्ञा न मिलने तक लोगों ने सुरा, आसव आदि का पान नहीं किया (मौसल २।२०)।

इस प्रकार, यद्यपि महाभारतकालीन राजाओं के सार्वजनिक चिकित्सा केन्द्रों के खोलने के वर्णन नही मिलते, तथापि औषधसंग्रह आदि के प्रकरणों से अनुमान होता है कि राजा जनस्वास्थ्य की रक्षा और वृद्धि के उत्तरदायित्वों से अपने को सर्वथा मुक्त नहीं समझता था। आज राज्य से जिस प्रकार की योजना की अपेक्षा की जाती है, दैशिक और कालिक भेद के कारण उन दिनों वैसी आवश्यकता न रही होगी।

———

एकादश अध्याय

विषयालोचन

[—देशकाल-भेद से योजना के स्वरूप में अन्तर,
—राजा का कार्यक्षेत्र और योजना की परिधि,
—लोककल्याण के प्रवर्तक,
—लोककल्याण में सहायक मौलिक प्रवृत्तियाँ,
—राजा की आवश्यकता,
—महाभारतकालीन विभिन्न शासनप्रणालियाँ और राजतन्त्र,
—राजा का स्वरूप, राजा में नैतिक गुणों की अनिवार्यता, राजा के सहायक,
—लोकरक्षण, सार्वजनिकनिर्माण, आर्थिककल्याण, लोकपोषण, शिक्षा और आध्यात्मिक उत्थान, जनमनोरंजन, जनस्वास्थ्य-व्यवस्था।
—आधुनिक कल्याणकारी राज्य और हिन्दूशासन-व्यवस्था, कल्याणकारी राज्य का लक्ष्य।]

देशकाल-भेद से योजना के स्वरूप में अन्तर

प्रत्येक युग की अपनी-अपनी समस्यायें रही हैं और उनके समाधान का भार रहा है तत्कालीन राष्ट्र के उन्नायकों पर। राजा उनमें प्रधान होता था। आर्थिक तनाव के कारण आज का युग समस्याओं का युग बन गया है। महाभारत काल में भी समस्यायें थीं, किन्तु तत्कालीन और अर्वाचीन समस्याओं में वही अन्तर है जो दोनों कालों की सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, नैतिक, आर्थिक और भौगोलिक परिस्थितियों में। एक ही देश में काल-भेद से और एक ही काल में देश-भेद से जीवन-दर्शन और तत्संबन्धी धारणाओं तथा मान्यताओं में भेद दृष्टि-गोचर होता है।

आज हम योजना का जो अर्थ जानते हैं और उसका जो स्वरूप निर्धारित करते हैं, उस दृष्टि से महाभारतकाल में संभवतः कोई योजना ही न मिले। मानव होने के कारण मानवीय आवश्यकताओं में समानता अवश्य रही हैं, भले ही देश और काल की भिन्नता हो, तथापि उनके स्वरूप और अपेक्षित मात्रा में भेद भी अवश्य रहा है। महाभारतकालीन राजाओं ने अपने युग की माँग को समझा था और उनकी पूर्ति अथवा प्रोत्साहन के लिये वे प्राणपण अथवा सकुटुम्ब और

सबन्धुवान्धव सन्नद्ध भी हुए थे तत्कालीन ऋषियों, मनीषियों और तत्ववेत्ताओं ने कुछ ऐसे शाश्वत विधान किये थे जिनको पूर्ण करना प्रत्येक राजा का कर्तव्य था। उन ज्ञानियों ने किसी योजना का पूर्ण और विस्तृत विवरण नहीं दिया कि राजा को एक सुख विशेष की व्यवस्था के लिये किन-किन उपायों का आश्रय लेना चाहिए। उनको उन लोगों ने राजा पर छोड़ दिया था जिनकी पूर्ति यथा-संभव राष्ट्रीय उपलब्धियों के अनुसार करना उसका कर्तव्य था। अज्ञातवास की तैयारी करते समय अनेक समृद्ध जनपदों का उल्लेख है; किन्तु सब देशों की सुखसामग्री की मात्रा, स्वरूप आदि में भेद रहा होगा। प्रत्येक राष्ट्र की समृद्धि उसकी प्राकृतिक उपज और तदनुसार कृत्रिम उपायों पर आधारित होगी। सर्वदा तपोलीन व्यक्तियों से युक्त, भोगों और ऐश्वर्यों से हीन देश तथा इसके विपरीत दशा वाले देश भी, अपनी-अपनी मान्यता के अनुसार, समृद्ध हो सकते हैं। अतः देशानुकूल आचरण और व्यवस्था में लग्न दोनों देशों के राजाओं की प्रवृत्ति श्रेयस्कर ही समझी जायेगी।

राजा का कार्य क्षेत्र और योजना की परिधि

प्रत्येक राष्ट्र के राजा अर्थात् शासक का कार्यक्षेत्र प्रधानतः उसकी प्रजा ही होती है और वही उनकी योजनाओं से लाभान्वित होती है।

कोपों तथा अन्य ग्रन्थों की भाँति महाभारत में भी लोकशब्द भूत, चराचर, प्राणिमात्र, मानव, प्राकृतजन, प्रजा आदि अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। किन्तु राजा योजनाओं का निर्धारण सर्वदा मुख्यतः अपनी प्रजा के लिये करता रहा है। उसके लिये अपनी प्रजा ही लोक है। वस्तुतः राजा पर अपने जनपद के निवासियों का ही विशेष भार रहता है, अन्यों का नहीं। यह अवश्य संभव है कि वह अपनी प्रजा के हित के लिये दूसरे देशों से सम्बन्ध अच्छा कर ले। राजा की सामर्थ्य भी इतनी अधिक नहीं होती कि वह त्रैलोक्य के चराचर की व्यवस्था कर सके। आधुनिक युग में भी प्रत्येक राष्ट्र का शासक अपने सिद्धान्तों के अत्यन्त उदात्त मानवीय स्तर पर होने की घोषणा करता हुआ भी, अपने ही देशवासियों की सुखसमृद्धि प्रधानतः चाहता है।

राजा समस्त योजनाएँ अपनी प्रजा के लिए बनाता है। योजनाओं का स्वरूप और उसकी परिधि, तत्कालीन आवश्यकता अथवा कल्याण-कर्म को ध्यान में रखकर निश्चित की जाती है। भिन्न-भिन्न युगों में आवश्यकताओं में भिन्नता होने के कारण योजनाओं और उद्योगों में भी अन्तर होना स्वाभाविक है। वैदिक कालीन कल्याण की धारणा ऐहिकभोगप्रधान थी और उपनिषत्कालीन थी अध्यात्मप्रधान। अतः तत्कालीन राजाओं को युगानुसार ही चेष्टा करनी आवश्यक थी। महाभारत में दोनों दृष्टिकोणों को पृथक्-पृथक् एकांगी मानकर

उनके समन्वय पर बल दिया गया था। एक ही नहीं अपितु चारों पुरुषार्थों को जीवन का लक्ष्य निर्धारित किया गया था। अतः महाभारतकालीन राजाओं को 'पुटके पुटके मधु' की व्यवस्था के अनन्तर ही संन्यास लेने की स्वतन्त्रता थी। लोक की भौतिक और आध्यात्मिक दोनों आवश्यकताओं की पूर्ति में सहयोग देना राजा का कर्तव्य था। उसको ऐसी चेष्टायें करनी थीं जिनसे लोक का उभयविध उत्थान हो सके।

लोककल्याण के प्रवर्तक

राजा को लोक के ऐसे उत्कर्ष के लिये केवल आत्मप्रयास ही नहीं करना पड़ता था। उस समय ऋषियों ने अपनी दिव्यदृष्टि और अद्भुत दर्शन-शक्ति के द्वारा मार्ग प्रदर्शन किया, सन्तों या श्रेष्ठों ने उनपर चल कर लोक के समक्ष आदर्श की स्थापना की और सर्वथा सिद्धान्त रूप में विद्यमान कल्याणकर आदर्शों को प्रयोगात्मक रूप दिया। अवतारों ने, ऋषियों और सन्तों की असमर्थता पर, स्वयं लोक के बाधक-तत्त्वों का नियमन किया। राजा देवों के प्रतिनिधि के रूप में रहकर प्रजा को परस्पर विद्वेष और बाह्य आक्रामकों से बचाता हुआ यथाशक्ति उनको प्रगति के लिए साधन-प्रदान अथवा व्यवस्था करता हुआ उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति कराता था।

राजा इन प्रवर्तकों में सर्वप्रमुख होता था। ऋषि और सन्त अपने आदर्शों के निर्धारण और आचरण के पश्चात् प्रायः विरत हो सकते हैं, किन्तु अपनी निग्रह और अनुग्रह शक्ति के कारण लोक के अधिक निकट होता है। वह लोक में रहता है। उसके जीवन का उद्देश्य, उसका तप और उसकी साधना सबका एकमात्र लक्ष्य लोकहित ही होता था।

लोकल्याण में सहायक मौलिक प्रवृत्तियाँ

लोककल्याणकारी कर्मों के लिये राजा को तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक तथा दार्शनिक प्रवृत्तियों से विशेष सहयोग मिला था। उनकी अपनी जीवन-दिशा और अपनी मान्यताएँ थीं, आज हमारी मान्यताओं और विश्वासों में महान् द्वन्द्व उपस्थित हो गया है।[1] जीवन दर्शन, आचरण और व्यवहार सब बदल रहे हैं। पुरातन और अधुनातन, प्राच्य तथा पाश्चात्त्य दोनों संस्कृतियों के

---

१. 'Now this faith in western thought is itself being shaken and so we have neither the old nor the new, and we drift not knowing whither we are going. The younger generation has no standards left, nothing to direct their thinking or control their action.' J. L. Nehru : Indian Inheritance, Vol. III, p. 88.

मिश्रण से एक निश्चित दिशा नहीं निर्धारित की जा सकी है। उन दिनों समाज ने व्यक्ति का आदर्श और जीवन का लक्ष्य ही इस प्रकार निर्धारित किया था जिसका अनुसरण करने से लोक का कल्याण हो सकता था। प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता और सेवायें समाज को अर्पित करे और समाज उसके व्यक्तित्व के पूर्ण विकास में अपना पूर्ण सहयोग दे—इस धारणा को लेकर वर्ण और आश्रम की सामाजिक संस्थायें भी निर्धारित की गई थीं। इनके ही अन्तर्गत चार ऋणों और पांच महायज्ञों की योजना होने से लोक को न सन्तति-विच्छेद की चिन्ता थी और न आध्यात्मिक अवनति की। समाज में नारी पूज्य थी। उसका कार्यक्षेत्र प्रायः अपना घर था। वह उसी के माध्यम से लोक का कल्याण करती थी। पुरुषों की अर्धांगिनी के रूप में वह युद्ध में भी सेवा-शुश्रूषा करने जाती थी। समाजों और उत्सवों में भी उनका विशेष ध्यान रखा जाता था।

तत्कालीन धर्म की परिधि में समस्त वर्ग, वर्ण अथवा सम्प्रदाय मात्र नहीं अपितु कोई पापी से पापी भी आ सकता था, और लोकहितकारी समस्त कर्म-मान्यता, धारणा, विश्वास आदि आ जाते थे। इन्द्र, विष्णु, अग्नि आदि से लेकर शिव, रुद्र, यक्ष, लक्ष्मी, स्कन्द आदि देवताओं की पूजा यथारुचि करके कोई भी मानव मनोरथ की सिद्धि कर सकता था। चारों वर्ण यथाशक्ति समुचित यज्ञों का अनुष्ठान कर सकते थे और सब तीर्थों में स्नान करके पवित्र हो सकते थे।

यद्यपि दार्शनिक सम्प्रदाय प्रायः सर्वलोक के लिये ही सर्वदा रहे हैं, तथापि पुनर्जन्म, भाग्य या दैव, कृष्ण-तत्त्व अर्थात् ज्ञानकर्मसमुच्चय सदृश दार्शनिक प्रवृत्तियों को महाभारत में एक नया आधार और नयी व्याख्या मिली थी। पूर्वमीमांसा के प्रवृत्तिमार्ग और उत्तरमीमांसा के निवृत्तिमार्ग दोनों का समन्वय किया गया था।

लोक की आवश्यकता, धारणा तथा विश्वासों से भारतीय राजाओं ने पर्याप्त सहयोग लिया और स्वयं भी उसी समाज का एक प्राणी होने के कारण उन मान्यताओं को अपने जीवन में उतारने की चेष्टा भी की थी। इसीलिए प्रो० वेंशम तथा अल्तेकर[1] महोदय ने भारतीय राजाओं को समाज का अनुगामी माना था। किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि राजा लोक का सर्वथा अनुगामी होता था। उसका कर्तव्य था धार्मिक नियमों की विवेचना के अनन्तर लोक में उनकी प्रवृत्ति कराना। वह लोक का ध्यान रखता था। मर्यादाओं का भय उसे भी था, किन्तु देशकालानुसार बुद्धिमत्ता से लोकक्षति के कर्मों से लोक को निवृत्त भी करना होता था। ऋषियों और श्रेष्ठों द्वारा प्रवर्तित नियमों या धर्मों का समाज में पालन भी कराता था।

१. Education in Ancient India, p. 98.

राजा की आवश्यकता

राजा उन्हीं सत्प्रवृत्तियों का पालक था। ऋषियों द्वारा निर्धारित, सन्तों के आचरित और वृद्धों से अनुमोदित कल्याणकारी आदर्शों का सामान्यलोक में भी पालन कराना राजा का कर्तव्य था। अत्यन्त समुन्नत लोक को भी एक समर्थ धर्मप्रवर्तक की नितान्त आवश्यकता थी क्योंकि 'नियन्ता चेन्न विद्येत न कश्चिद् धर्ममाचरेत्।' लोक के निग्रह और अनुग्रह की शक्ति राजा में निहित मानी गई थी। अतः लोक को राजा की अत्यन्त आवश्यकता थी। आदर्शों पर श्रेष्ठजन ही प्रायः स्वेच्छानुसार चला करते हैं सब लोग नहीं। अराजकता से मानव ही नहीं अपितु देवता भी डरते थे।

महाभारतकालीन विभिन्न शासन-प्रणालियाँ और राजतन्त्र

यद्यपि उस समय गणतन्त्रात्मक, संघात्मक, नृपतन्त्रात्मक आदि अनेक प्रकार की शासन-प्रणालियाँ थीं, तथापि उन सबके राज्य-प्रमुख का कर्तव्य लोक-हितसाधन था। उस समय नृपतन्त्रात्मक शासन-प्रणाली की विशेष महत्ता दृष्टिगोचर होती है। आज के विभिन्न शासनतन्त्रों के युग में 'राजतन्त्र' का कल्याणकारी रूप समाप्त सा हो गया। किन्तु तत्कालीन प्रवृत्तियाँ राजतन्त्र की ओर उन्मुख थीं।

राजा का स्वरूप

नृपतन्त्रात्मक प्रणाली के विशेष प्रचलन से 'राजा' 'अधिपति' 'नृप' आदि शब्द किसी भी प्रकार की प्रणाली के मूर्धन्य शासक या अधिकारी के लिए प्रयुक्त होते थे। राजा किसी भी प्रणाली का क्यों न हो उसका सर्वप्रमुख ध्येय था प्रजा की हितसाधना करना।

भारतीय दृष्टिकोण से राजतन्त्र का भी राजा "आवश्यक बुराई" (Necessary evil) न होकर केवल लोकसुख और लोकव्यवस्था—धर्म—का सर्वप्रमुख साधक था। उसके बिना लोक की स्थिति और सुख दोनों असम्भव माना गया था।[१] वह स्वार्थ का साधक नहीं प्रजा का सेवक था, राज्य का भोक्ता नहीं भारवाहक था। प्रजा की हितसिद्धि ही राजा का स्वार्थ था।[२] स्वयं अत्यन्त प्रबल होने के कारण वह मात्स्यन्याय का प्रवर्तक नहीं, अपितु भारतकार के अनुसार उसके नियन्त्रण में सर्वसमर्थ प्राणी था।[३] वह लोक के योग और क्षेम का मूल है,[४] सारी बुराइयों की जड़ नहीं। वह प्रजा का प्रतिभू, माता, पिता आदि है,[५] किसी की भी शंका का पात्र नहीं।[६] उसमें लोकपालों के गुण विद्यमान माने गये थे क्योंकि वह लोक का पालन करता था,[७] इसलिए नहीं कि वह उन शक्तियों

१. आदि ५७।५-६; शान्ति ६३।२६। २. उद्योग ३४ २३; शान्ति ५६।४६।
३. शान्ति ६८।१५। ४. शान्ति १३९।९। ५. शान्ति ५७।२९।
६. सभा ५।४६। ७. मनु ५।९४।

का दुरुपयोग करेगा। "अष्टानां लोकपालानां मात्राभिर्निर्मितो नृपः" मनु की इस मान्यता के समान ही जापान, प्राचीन चीन तथा अन्य पाश्चात्य राजतन्त्रीय देशों में राजा को ईश्वर का अवतार, अंश, प्रतीक अथवा प्रतिनिधि माना गया था। इसमें भी राजा के प्रभु के समान लोकहितकारी होने की भावना निहित थी।

आधुनिक विकासवादी राज्योत्पत्ति-विषयक सिद्धान्त को सम्भवतः आधुनिक राजतन्त्रीय शोषण, दोहन और उत्पीड़न की प्रतिक्रिया-स्वरूप जन्म मिला। किन्तु महाभारतीय राजाओं के स्वरूप और कार्य के विवेचन से इस सिद्धान्त की आवश्यकता ही नहीं प्रतीत होती। यहाँ पर राजा किसी भी जाति का क्यों न हो, उससे समानरूप से राजकीय कर्मों की आशा की जाती थी। वक सदृश असुर,[1] जरासंध सदृश अन्यायी सम्राट्[2] और कौरववंशीय सदृश लोग सभी राजाओं के शासन काल में प्रजा सुखी तथा परचक्राभिघात से सुरक्षित थी।[3] सबके राज्य में चतुर्वर्ण के लोग स्वधर्मानुसार कृत्य कर सकते थे, किसी पर कोई दवाव नहीं था। वस्तुतः वक का शासन इसलिए खराव था कि वह वलि के रूप में दो महिष, अन्न और मानव का भक्षण करता था, न कि वलि लेकर भी रक्षा न करने के कारण।

वैदिक कालीन राजतन्त्र की भाँति राजा का प्रजा द्वारा निर्वाचन न होने और राज्य के 'पितृपैतामह' पद होने पर भी राजा के समक्ष प्रजा का ही हित सर्वदा रहता था। राज्याभिषेक के समय अपने पुत्र को अभिषिक्त करते हुए राजा उसे राज्य के सुखभोगों को ही नहीं, अपितु प्रजा-रक्षण का भार भी देता था। किसी भी राजा के लिए उसकी प्रजा के अधार्मिक, अनियन्त्रित और दुष्ट होने से बढ़कर और कोई लज्जा का विषय नहीं था। प्रजा में किसी भी प्रकार का दोष राजा का दोष माना जाता था। कर्ण और शल्य परस्पर दुष्ट और व्यभिचारी प्रजा का राजा कहकर लज्जित करते थे। यौवन दान न देने पर ययाति ने अपने पुत्रों यदु, तुर्वसु और अनु को प्रजा के दुःखी और पापी होने का शाप दिया था और पूरु को "सर्वकामसमृद्धा ते प्रजा राज्ये भविष्यति"[5] का आशीर्वाद। नारद ने सभा में पहुँचकर युधिष्ठिर से लोक के विषय में पूछना प्रारम्भ किया था।[6] शिशुपाल के उत्तेजित होने पर युधिष्ठिर को "यज्ञस्य च न विघ्नः स्यात् प्रजानां च शिवं भवेत्"[7] की ही चिन्ता प्रमुख थी, अतः यज्ञसमाप्ति पर उन्होंने समागत राजाओं के समीप—"तेऽनुव्रजत भद्रं वो विषयान्तं नृपोत्तमान्"[8] कहकर जाने की प्रार्थना की थी। राजसूय के पश्चात्

---

१. आदि १४८। २. सभा १८।३०; १९।१,१३,२२।
३. आश्रम १५।१५-२०। ४. आदि १४८।४-५। ५. आदि ७९।३०।
६. सभा ५। ७. सभा ३७।४। ८. सभा ४२।३९।

कृष्ण ने भी युधिष्टिर को प्रजा-पालन का उपदेश दिया था।[1] न्याय और रक्षा न करने पर राजा को 'पागल कुत्ते की भाँति मार डालने की' अनुमति महाभारतकार ने दी थी। अतः आदर्शों के विपरीत जाने पर प्रजा ने भयानक विद्रोह किये और फिर राजाओं का अभिषेक भी किया।

राजा में नैतिक गुणों की अनिवार्यता

राजा के लिये प्रजा का पुत्रवत् पालन अपेक्षित था। इन्द्रिय-जय आवश्यक था[2] और पुरुषार्थ होने के कारण मोक्ष की ओर प्रवृत्ति भी। समदृष्टि और दिव्य-दर्शिता के कारण वह राजर्षि भी था। कुछ दार्शनिक प्रवृत्तियों की परम्परा राजाओं ने ही बना रखी थी। अर्थात् वह एक दार्शनिक शासक होता था। प्लेटों के किंग-फिलॉसफर से वह निश्चित ही श्रेष्ठ था, क्योंकि अधिकांशतः अव्यावहारिक होने से उनके प्रिय शिष्य अरस्तू ने ही उनके कतिपय सिद्धान्तों का खण्डन किया था। किन्तु भारत में देश तथा धर्म के अनुकूल होने से राजाओं में ऋषियों के समान समदृष्टि की ही आशा की जाती थी। कौटिल्य, शुक्र, सोमदेव आदि सबने राजा की समदृष्टि को आवश्यक माना था।

राजा के सहायक

अकेले राजा ही प्रजा को अपेक्षित सुखसुविधायें नहीं दे सकता था। अतः वह उत्तरदायित्वों से अनृण होने के लिये मन्त्री, अमात्य अथवा सचिव तथा पुरोहित का सहारा लिया करता था। मन्त्रीगण विभिन्न कर्मों का सम्पादन करते थे और मन्त्रणा देते थे। पुरोहित न्यायकर्म और धर्मकार्य के अनुष्ठान में सहायता देते थे। राजपरिवार के सदस्य भी राजा को लोककल्याणकारी कर्मों में अतुल सहयोग देते थे। उनके दान, रक्षा, इष्टापूर्त आदि कर्म और अन्य प्रयासों से राजा को अनेक जनहित संवर्धक योजनाओं में सहायता मिलती थी।

लोकरक्षण

राजा अपनी समस्त शक्तियों से प्रजा की रक्षा करता था क्योंकि लोक की रक्षा करना उसका प्रमुखतम कर्तव्य था। आभ्यन्तर और बाह्य दोनों उपद्रवों से रक्षा अपेक्षित थी। शान्तिकाल में प्रजा में सद्व्यवस्था बनाये रखने के लिए दण्ड का विधान था। गुप्तचरों से रहस्यों का पता लगाया जाता था और स्थान-स्थान पर गुल्मन्यास किया जाता था। सभा में प्रायः सब वर्णों के प्रतिनिधियों को बुलाकर आठ व्यक्तियों के बीच में देश, काल, कुल और जाति का ध्यान रखते हुए न्याय्यदण्ड देने की व्यवस्था की जाती थी। पुरों तथा ग्रामों में रक्षक नियुक्त किये जाते थे जिनके ऊपर उत्तरोत्तर अधिकारी होते थे। पंचगण पंचायत में

---

१. सभा ४२।५८। २. आश्रम ९।१३; स्त्री १२।४,५।

स्थानीय विवादों को सुलझाने का प्रयास करते थे। न्याय के क्षेत्र में सबसे अधिक विशेष बात थी वर्णों की क्षमता के अनुसार दण्ड देना।

संकट काल में रक्षा के दो प्रधान उपाय थे। प्रथमतः युद्ध के बिना भी आक्रमणकारी को अधिकाधिक क्षति पहुँचाना और द्वितीयतः अपने पुरजन, परिजन और जानपदों की रक्षा करना। दुर्ग को यन्त्रों से सजाना, वहाँ प्रमुख स्थलों पर स्थावर और जंगम गुल्मों की नियुक्ति, और निचेय पदार्थों का निचय करके अनेकविध आगारों और सैन्यप्रचार के लिए मार्गों तथा वाहनों की व्यवस्था की जाती थी। प्रजा को दुर्ग में सन्निविष्ट कर जल तथा मार्ग की व्यवस्था, अग्नि से रक्षा, उपघातक तत्त्वों का बहिष्कार और मनोरंजन का प्रवन्ध भी होता था। दुर्ग में न आ सकने वाले लोगों को शाखा-नगरों में रखा जाता था, घोषों को प्रमुख मार्गों पर लाकर स्थित किया जाता था और चतुर्वर्ण को सैनिक शिक्षा दी जाती थी।

इसी प्रकार शत्रुसेना को बाधा पहुँचाने के लिये मार्गावरोध, संक्रमभेदन, नौप्रचार-निरोध, वृक्षच्छेदन, जलनिःस्रावण या जलदूषण तथा शत्रुसेना में उपजाप किये जाते थे अथवा इनके लिये प्रयास होते थे।

दैवी विपत्तियों में राजा लोग यज्ञ करते थे जिनमें लोगों को खाद्यपदार्थ, दक्षिणा और पारिश्रमिक मिलता था। सामान्यदान तथा सदाव्रत (अन्नादि का दान) किये जाते थे। जीवन के लिए आवश्यक पदार्थ सुलभ कराये जाते थे। कृषि कर्म के लिए जल-व्यवस्था कराई जाती थी। लोगों को किसी भी अनिन्द्य कर्म से उदरपोषण की स्वतन्त्रता मिल जाती थी।

आजकल भी अकाल पड़ने या अतिवृष्टि अथवा करकाघात होने पर कृषकों को राज्य से लगान में छूट अथवा अन्य सहायताएँ मिलती हैं।

सार्वजनिक निर्माण

लोक की सुख-सुविधा के लिये राजाओं ने सार्वजनिक निर्माण के कार्य कराये थे। दुर्ग, पुर, सभा आदि निर्माणकार्य रक्षा की दृष्टि से, तडाग, कुल्या, कूप, स्थल और जलमार्ग, सेतु आदि आर्थिक दृष्टि से, पान्थशाला, आवसथ, शून्यागार आदि लोक के आवास के विचार से देवालय, आवसथ, प्रपा, निपान आदि धार्मिक भावना से तथा वापी, उद्यान, आराम आदि मनोरंजन की दृष्टि से बनवाये जाते थे। इन उद्देश्यों के होने पर भी सबके मूल में धर्म की भावना प्रधान थी। कुछ को बनवाना राजा का धर्म था। कुछ को केवल इसलिए बनवाया जाता था क्योंकि उनको बनवाने से पुण्य होता था, स्वर्ग अथवा सुख मिलता था। कुछ विशेष अथवा धार्मिक अवसरों पर सभाओं में अन्नपानादि की व्यवस्था होती थी और राजकीय पुरुष अथवा ग्रामजन या पुरजन उनकी देखरेख करते थे।

आर्थिककल्याण

कृषि, गोरक्ष्य अथवा पशुपालन तथा वाणिज्य तत्कालीन अर्थव्यवस्था के आधार थे। राजाओं ने यथासम्भव उपायों से इनको समय-समय पर सहायता दिया था और उनको उन्नति की चेष्टा की थी। आभ्यन्तर एवं बाह्य उपद्रवों से राजा कृषि और कृषकों की रक्षा करता था। सिंचाई के लिए तडाग और कुल्या आदि होते थे। यज्ञों का सम्पादन वातावरण को शुद्ध रखने और जलवृष्टि कराने के लिये किया जाता था। कृषकों को राजकीय प्रोत्साहन मिलता था और उनको आपत्ति में बीज, तकावी (भक्त), ऋण आदि देने की व्यवस्था थी। कृषि की पड़ताल भी हुआ करती थी।

पशुओं की गन्दगी से ग्रामों और नगरों को बचाने के लिए तथा चारे की व्यवस्था के ध्यान से उनको वनों में रखा जाता था जहाँ पर गोपालगण घोषों में रहा करते थे। ये पशु सामुदायिक रूप से एक साथ रहते थे। राजा अपने हिस्से के पशुओं के पृथक् करने और उनकी वास्तविक संख्या जानने के लिए निश्चित समय पर घोषों को जाते थे और पशुओं का 'स्मारण' तथा 'अंकन' कराते थे। नस्लसुधार तथा पशुचिकित्सा की ओर भी राजाओं का ध्यान गया था और वे स्वयं इन कर्मों में रुचि रखने लगे थे। बड़े-बड़े पशुस्वामियों की विशेष सुरक्षा का प्रबन्ध किया जाता था और कर में छूट दी जाती थी।

व्यापार के लिए नगरों में आपणविपण-व्यवस्था की जाती थी और वणिकों को सम्मानपूर्वक स्थान दिया जाता था। मूल्यवान् पदार्थों का क्रय करके राजा लोग विदेशीय व्यापार को प्रोत्साहन देते थे। इनकी भी आपत्ति में रक्षा की जाती थी। वाणिज्य पर कर केवल लाभांश पर लगाया जाता था जिससे लोगों को क्षति होने की सम्भावनाएँ कम थीं।

राजाओं का ध्यान शिल्प तथा उद्योग की ओर भी गया था। वे राजकीय निर्माण-कार्यों और कवच आदि युद्ध की सामग्रियों को बनाने के लिए शिल्पियों का नियोजन करते थे और व्यक्तिगत स्तर पर उद्योगों को चलाने वालों को इतनी सामग्री एक बार में सुलभ करायी जाती थी कि वह कम से कम चार माह के लिए पर्याप्त होती थी। उद्योगों को प्रोत्साहन देने के लिए वाणिज्य की भाँति लाभांश पर ही कर लगाने का विधान था।

राजा लोक में आर्थिक समता बनाये रखने के लिए सर्वदा प्रयत्नशील रहता था। यज्ञ, दान और पूर्तकर्म ये तीन धार्मिक विधान ऐसे थे जिनके लिए वह इन कर्मों का सम्पादन न करने वाले धनाढ्य लोगों से बलपूर्वक धनाहरण कर सकता था। धनसंचित होने पर सेवकों की भृति की व्यवस्था करके यज्ञ-दान करना राजा का कर्तव्य था। सामान्यतः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के पास

आये हुए धन को यज्ञों में वितरित कर देने का ही विधान था। राजा को स्वयं संकट काल में अधिक धन की अपेक्षा होने पर 'डिंडिम' (डुग्गी) पिटवा कर ही आवश्यक धन संचय विहित था। साधारण परिस्थितियों में 'गोदोहन्याय' तथा 'भ्रमर-न्याय' से ही धनोपार्जन करना राजा का कर्तव्य था।

लोकपोषण

लोक में आर्थिक वैषम्य को दूर करने और आर्थिक आचारों को सुदृढ़ करने के साथ ही लोक की वृत्ति के विधान का उत्तरदायित्व भी राजा पर था। तत्कालीन राजाओं ने अनाथ तथा आपद्ग्रस्त स्त्रियों, वृद्धों, अनाथों, जडों, पंगुओं, कुब्जों, वामनों, अपंगों और व्यंगों तक की जीविका की समस्या का समाधान करने की चेष्टा की थी। इनमें जो लोग कुछ भी किसी भी प्रकार का काम करने में समर्थ थे, उनसे सेवाएँ ली जाती थीं और जो सर्वथा असमर्थ थे उनकी जीविका का प्रवन्ध किया जाता था। वर्तमान काल में 'कल्याणकारी राज्य' (Welfare State) के समर्थकों ने इनके उपयोग और इनसे रचनात्मक कार्य कराने की योजना से अपने को धन्य समझना प्रारम्भ कर दिया है किन्तु अपने देश में वहुत प्राचीन काल में ही इस व्यवस्था को जन्म मिला था।

याचकवृत्ति और दस्युजीवन दोनों ही घोर निन्दित कर्म समझे जाते थे। राजाओं ने इनको भी यथायोग्य नियोजन देकर इनका आर्यीकरण (Aryanisation) प्रारम्भ कर दिया था। सामान्यतः अन्य कर्मों में इनकी अक्षमता और अनुपयुक्तता को देखकर इनसे सार्वजनिक निर्माण और पूर्तकर्म कराये जाते थे जिसमें शारीरिक श्रम की विशेष अपेक्षा थी। कुछ कारणों से महाभारत पूर्वकाल में परिगणित और कुछ क्षेत्रों में वंचित शूद्रों को भी राजनीतिक, धार्मिक, शैक्षणिक आदि सुविधाएँ दी जाने लगी थीं और समाज में वे भी श्रद्धा के पात्र वन सकते थे।

लोगों को नियोजित करते समय राजा उनको योग्यतानुसार काम देता था और कर्मों की कठिनता और सरलता का भी ध्यान रखता था। श्रमविभाजन और वृत्तिदान के लिए राजाओं को वर्णाश्रम व्यवस्था का आधार मिल गया था जिससे "कौन किस कर्म के योग्य है" इसका निर्धारण करने में उसे विशेष कठिनाई नहीं होती थी। शक्ति के अनुसार काम देकर यथायोग्य और यथाकाल वेतन देने की भी चेष्टा राजा लोग करते थे। विशेष वीरता का काम करने पर लोगों को पारितोषिक मिलता था, विशेष सम्मान दिया जाता था और पदवृद्धि की जाती थी।

शिक्षा और आध्यात्मिक उत्थान

शिक्षा के क्षेत्र में लोक प्रायः आत्मनिर्भर था, तथापि विशेष आवश्यकता

होने पर राजा शिक्षण संस्थाओं की रक्षा, आर्थिक सहायता और अन्य कर्मों के लिए सदा तत्पर रहता था।

वैदिक शिक्षा प्राय: आश्रमों और अग्रहार केन्द्रों पर दी जाती थी। ये केन्द्र आर्थिक दृष्टिकोण से आत्मनिर्भर रहते थे। वहाँ पर रहने वाले शिष्यगण आधुनिक श्रमदानसदृश कार्यों द्वारा प्राय: समस्त कार्य कर लिया करते थे। राजा आश्रमों की रक्षा हेतु सदा जाग्रत रहता था और यदा कदा उन क्षेत्रों में जाने पर अत्यन्त सावधान रहता था। गुरुदक्षिणा के लिए धन, कर से छूट और और विद्वानों को राजकीय नियुक्ति देकर शिक्षा के क्षेत्र में राजा विशेष सहयोग देता था।

नगरों में शिक्षा प्राय: शस्त्रास्त्रों तथा ललितकलाओं की दी जाती थी। राजा लोग प्रकाण्ड धनुर्धरों और शिक्षकों को नगरों में बसा कर राजकुमारों को शिक्षा दिलाते थे। स्त्रियों को जीवनोपयोगी ललितकलाओं की शिक्षा दी जाती थी जिसकी व्यवस्था नगरों में ही होती थी। अतिथियों और ऋषियों के सम्पर्क में आने से उनको वेद, शास्त्र आदि की कथाओं के सुनने का अवसर मिलता था जिससे वे परमविदुषी भी हो सकती थीं। सम्भवत: सामाजिक बन्धन, लुब्धक-भय और क्रूरों के आतंक के कारण आश्रमों में जाकर कुलपुत्रियों के अध्ययन का वर्णन नहीं मिलता।

शूद्रों के लिए वैदिक शिक्षा का निषेध था, और उसका कारण था तत्कालीन समाज का वर्णाश्रम व्यवस्था के आदर्शों पर बल देना। इस प्रकार वर्णाश्रम व्यवस्था के अनुसार प्राय: किसी वर्ण या वर्ग के व्यक्ति के लिए वही शिक्षा विहित थी जिसका वह भावी जीवन में प्रयोग कर सके। शूद्र की दिनचर्या और अन्य कर्म ऐसे थे जिनका वैदिक शिक्षा से कोई सम्बन्ध नहीं था। वैदिक शिक्षा का उनके भावी जीवन में कोई प्रयोग ही नहीं अभीष्ट था। द्विजवर्णों के लिए वैदिक मन्त्रों से धार्मिक क्रिया-कलाप आवश्यक थे अत: उनके लिए वह शिक्षा विहित थी। इसके अतिरिक्त वैदिक मन्त्रराशि के मौखिक रूप में विद्यमान होने के कारण उन लोगों को उसकी शिक्षा देना विकृतिकारक था जिनमें विशेष प्रतिभा न हो। महाभारत में एक स्थान पर शूद्र उनको माना गया था जिनमें तामसगुणों की ही प्रधानता थी और जो अशुचि जीवन व्यतीत करते थे। अत: अनधिकारी के हाथ में किसी वस्तु को देना अनुपयुक्त समझा गया होगा। एक और भी कारण शूद्रों के वेदाध्ययन निषेध का हो सकता है। वेदों के आधार पर उनके मन्त्रों के प्रयोग से काम्य और नैमित्तिक कर्मों का सम्पादन कराकर जीविका उपार्जन द्विजगण—ब्राह्मण सर्वदा और आपत्काल में क्षत्रिय तथा वैश्य भी—कर सकते थे। एकाएक आर्यों ने भारत में प्रवेश करने पर अपनी जीविका

को यहाँ के आदिवासियों के हाथ में न जाने देने की चेष्टा की होगी। जहाँ पर सामान्य ज्ञान और आध्यात्मिक तत्वों तथा रहस्यों के ज्ञान का प्रश्न था, महाभारत काल में—शनैःशनैः वैदिक काल की अपेक्षा परस्पर मैत्रीभाव और व्यवहार बढ़ने के कारण,—सब वर्णों को उसका अधिकार था। वैदिक शिक्षा के भी क्षेत्र में—"शिक्षयेत् चतुरो वर्णान् कृत्वा ब्राह्मणमग्रतः" (शान्ति ३१४।४५) की भावना प्रबल हो रही थी, तथापि ब्राह्मणों के लिए अध्ययन के विषय प्रधानरूप से वेद-वेदांग और क्षत्रियों के लिए रणविद्या या शस्त्रास्त्रशिक्षा थी। अपने-अपने वर्णगत कर्मों की शिक्षा वैश्यों और शूद्रों को अपने जाति-कुलवृद्धों से मिल जाती थी।

राजाओं ने लोक की आध्यात्मिक उन्नति हेतु ज्ञानप्रसार में विशेष योग दिया था। लोक और राजा दोनों में अतर्प्य ज्ञानपिपासा और जिज्ञासा थी। अतः राजाओं ने सभाओं में आगन्तुक अतिथियों, ऋषियों और ज्ञानियों के प्रवचन कराये। वर्षा ऋतु में संन्यासियों और ऋषियों को सुख से रखा जाता था और ज्ञानयुक्त कथाओं तथा उपदेशों के लिये उनसे आग्रह किया जाता था। राजा लोग यज्ञ कराते थे जिसमें अपने पुत्रों और शिष्यों के साथ ऋषिगण, सूतमागध और ज्ञानी ब्राह्मण एकत्र होते थे और कथायें कहते थे। सभाओं तथा यज्ञों में प्रायः चारों वर्णों के लोग उपस्थित होते थे। उनको धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष से सम्बद्ध कथायें सुनने को मिलती थीं।

राजाओं ने स्वधर्म में प्रवृत्ति कराकर द्विजवर्णों को आध्यात्मिकता की ओर स्वतः अग्रसर किया था। कथाओं के माध्यम से चारों वर्णों को समान रूप से आध्यात्मिकता की शिक्षा मिलती थी।

चारों वर्णों की आध्यात्मिक प्रगति हो सके इसके लिए कुछ विशेष परिस्थितियों में राजा की अनुमति प्राप्त कर वैश्य आदि भी संन्यास को छोड़कर अन्य आश्रमों का आश्रय ले सकते थे। आध्यात्मिकता की ओर अग्रसर कराने के लिए सुन्दरतम साधनों में से यह भी एक रहा होगा (शान्ति ६३।११-१५)।

आध्यात्मिक रुचि रखने वाले लोगों की दृष्टि में मनोरंजन—'काम' की कोटि में आने के कारण—हेय सा था। अतः प्रधान रूप से मनोरंजन और कामीय कर्म गर्हित समझे गये थे। तथापि 'काम' भी पुरुषार्थ होने से सेव्य था। इसकी ओर लोक की सहज ही नहीं अपितु उच्छृङ्खल प्रवृत्ति होने से, पुरुषार्थ होते हुए भी मनीषियों ने इसे विशेष स्थान नहीं दिया और सर्वदा निषेधात्मक आदर्शों से इसको 'शिव'—धर्मयुक्त—बनाने की चेष्टा की थी। लोकजीवन में मनःप्रहर्ष के अनेक अवसर आते थे, किन्तु कहीं उनको धर्म से सम्बद्ध कर दिया गया था और कहीं उनका उद्देश्य किसी अन्य को मानकर इसे गौण स्थान दिया था।

नियमित प्रवृत्ति हेतु मनोरंजन का भार भी राजा पर डाला गया था। अतः वह स्वयं या तो मनोरंजन के उचित अवसर उपस्थित करता था अथवा लोक के आयोजित उत्सवों में सम्मिलित होकर उन्हें उत्कृष्ट स्वरूप प्रदान करता था।

उन दिनों मह-उत्सव, यज्ञोत्सव और दान महोत्सव धार्मिक आधार पर होते थे। राज्य से सम्बद्ध अवसरों में विजययात्रा और राजकीय अतिथियों के स्वागत समारोह प्रमुख थे। राजगृहों में जन्म, शिक्षा-प्रदर्शन, विवाह, स्वयंवर, सभा-प्रवेश के अवसर पर और घोष, तीर्थ, विहार, मृगया आदि यात्राओं में, द्यूतक्रीडा, उद्यान और आरामों में राजाओं की ओर से सर्वसाधारण को आनन्दोत्सव मनाने की स्वतंत्रता और सहयोग दोनों प्राप्त होते थे।

स्कन्धावारों में भी नटों, सूतों, मागधों और गायकों की उपस्थिति से मनोरंजन की प्रचुर सामग्री मिल जाती थी। संकट काल में अर्थोपघातक तत्त्वों का बहिष्कार करके मनोरंजन के साधनों की उपस्थिति विहित थी।

भारतीय मनोरंजन के धर्म अथवा आध्यात्मिकता प्रधान होने का कारण था। भारतीयों की दृष्टि में दूसरों को दुःख देकर अथवा उपहास करके मन को प्रफुल्लित करना आनन्द नहीं था। संभवतः सामान्य मनोरंजन इसी हेतु हेय समझा गया था क्योंकि वहाँ पर मन की प्रसन्नता पर जोर दिया गया था, आत्माह्लाद पर नहीं। मनःप्रहर्ष के साधनों और उपायों को सम्भवतः इसीलिए तामस कहा भी गया हो। भारतीयों को आनन्द मिलता था सूतों, पौराणिकों, वन्दियों, मागधों और सौखिकों की धर्मगाथाओं में, ब्राह्मणों की कथाओं और आख्यानों में, जिनका आयोजन प्रायः समस्त उत्सवों और समाजों में हुआ करता था। नट, वैतालिक, झल्ल आदि अपनी आंगिक चेष्टाओं और कलाओं का प्रदर्शन करते होंगे जिनका रूप आज के भी नटों में परिलक्षित होता है। इस प्रकार प्राचीन भारतीयों की आनन्द और रंजन की धारणा तथा उसके आदर्श ही आज से अधिकांशतः भिन्न थे। अक्षक्रीड़ा, मृगया, मधुपान, अत्यधिक स्त्रीरति आदि मनोविनोद के साधनों पर विशेष बल उनके दुष्परिणामों को देखकर नहीं दिया गया होगा। कामीय आनन्दों की ओर से आँख मूँदने अथवा उनकी अवहेलना करने का कारण था लोक को विनाश की ओर बढ़ने से रोकना। मानव की सहज प्रवृत्ति उसी ओर होती है। अतः उनको विशेष प्रोत्साहन न देकर विरुद्ध ही किया गया किन्तु इसका अभिप्राय काम का पूर्ण निरोध नहीं। काम की महत्ता वैयक्तिक और सामाजिक दोनों क्षेत्रों में स्वीकृत की गई थी, और उसे पुरुषार्थों की कोटि में रखकर समान रूप से सेव्य भी माना गया था, किन्तु काम का नियमित उपभोग ही सर्वदा प्रशस्त रहा।

जनस्वास्थ्य-व्यवस्था

राजा के सबसे कम कार्यों का दर्शन स्वास्थ्य के क्षेत्र में होता है क्योंकि तत्कालीन लोक को स्वास्थ्य-संवर्धन के लिए राजकीय सहयोग की विशेष अपेक्षा नहीं थी। नित्य, नैमित्तिक और काम्य तीनों धार्मिक कर्मों तथा सर्ववर्ण के लिए विहित साधारण धर्मों का आयुर्वेदिक महत्त्व था। लोक को यह आशा थी कि उनके अनुष्ठान से मानव स्वास्थ्य की रक्षा कर सकता है। अशुचि पदार्थों का स्पर्श और दर्शन त्याज्य होने के कारण भी वैद्यक और वैद्यों को प्रोत्साहन न मिला होगा। इन मान्यताओं के होते हुए भी, दैवीप्रकोपवशात्, अपनी अनवधानता से अथवा किसी भी कारण से रुग्ण और पीड़ित जनों की रक्षा करना राजा का कर्तव्य था।

अतः राजा लोग वैद्यों को नगर में सम्मानपूर्वक रखते थे। उनको सर्वदा अपने ही स्वास्थ्य की चिन्ता रहती थी। अतः अष्टांग-विशारद वैद्यों की उपस्थिति राजभवन में हुआ करती थी। राजा की ओर से शान्ति और संकट के कालों में समान रूप से औषध-संग्रह का ध्यान रखा जाता था। नगर और सार्वजनिक स्थानों पर स्वच्छता की व्यवस्था कराई जाती थी। यज्ञों का सम्पादन करने से वातावरण निर्मल और शुद्ध बनता था। मद्यनिषेध यद्यपि अन्य कारणों से ही किया जाता था, तथापि स्वास्थ्य की रक्षा की दृष्टि से भी वह महत्त्वपूर्ण था।

स्कन्धावारों में वैद्य नियुक्त किये जाते थे। दुर्ग में जनता के प्रविष्ट होने पर तथा अन्यत्र भी जलशोधन हेतु विष-वैद्यों की व्यवस्था होती थी।

आधुनिक कल्याणकारी राज्य और हिन्दूशासन-व्यवस्था

साम्प्रदायिक संघर्षों, बाह्य आक्रामकों, बढ़ती जनसंख्या आदि के कारण आर्थिक खींचतान तथा शासकों के वास्तव में भोगी, एकाधिकारी, स्वामीमात्र, व्यभिचारी आदि होने के साथ ही प्रजा का दोहन और शोषण प्रारम्भ कर देने से लोक में आत्मकल्याण की भावना जागृत हुई। उसमें यह भावना बढ़ी कि राजा, राज्य अथवा शासक उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति करे। उसे सारी सम्पत्ति का स्वयं भोग करने का अधिकार नहीं। राज्य से जनकल्याण की आशा लेकर कल्याणकारी राज्य का आदर्श निर्धारित हुआ।

कल्याणकारी राज्य का लक्ष्य

कल्याणकारी राज्य का प्रमुख लक्ष्य लोक में आर्थिक समता की स्थापना है। विलियम बेवरिज (William Beveridge) ने (१) अभाव (Want) या निर्धनता (२) अज्ञान या अशिक्षा (Ignorance) (३) बेकारी (४) गन्दगी (Squalor) और (५) बीमारी—इन सब से बचाना कल्याणकारी राज्य का

उद्देश्य माना था।[1] माइकेल पी० ओ० परसेल (Michael P. O. Purcell)[2] तथा जॉन स्टर्लिंग (John Stirling)[3] की भी कल्याणकारी राज्य की परिभाषाओं और उद्देश्यों के निरूपण में आर्थिक कल्याण ही प्रधानतः दृष्टिगोचर होता है। प्रो० एम० एस० गोरे ने उस राज्य को कल्याणकारी माना है जो लोक की शिक्षा, मातृत्व और बालकल्याण की सेवाओं, अन्धों के कल्याण, समाज-शिक्षा और सामाजिक कार्यकर्ताओं के प्रशिक्षण, विस्थापित व्यक्तियों के पुनः संस्थापन, परिगणित और जनजातियों (Tribes) के कल्याण, श्रमिकों के कल्याण, ग्रामीण जनता के कल्याण आदि की व्यवस्था करता है।[4] इन सारी आवश्यकताओं के भी मूल में आर्थिक सहयोग ही मुख्यतः अपेक्षित है। संयुक्तराष्ट्रसंघ के समाजकल्याण विभाग ने इसे "A state of complete physical, mental and social well-being and not merely the amelioration of specific social evils." माना था।[5] अर्थात् प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से समाज के सर्वांगीण विकास और सह-अस्तित्व का भार राज्य पर ही डाला गया है।

प्राचीन भारतीय राज्य का भी आदर्श—शासन प्रणाली किसी भी प्रकार की क्यों न हो—लोककल्याण था। किन्तु यह निश्चित है कि उस समय राजा और राज्य दोनों समाज के ही अंग थे और उन्हें सामाजिक मान्यताओं का पालन करना और कराना पड़ता था। शिक्षा, स्वास्थ्य, मनोरंजन और सामाजिक उत्कर्ष के क्षेत्र में लोक प्रायः आत्मनिर्भर था और यदा कदा विशेष आवश्यकता पड़ने पर राज्य की ओर से कर्तव्य समझ कर सहायता दी जाती थी और व्यवस्था की जाती थी। श्रम-कल्याण, ग्रामीण जनता की सुरक्षा और कल्याण के लिये राज्य को पृथक् प्रवन्ध करने की आवश्यकता न थी। निःसन्देह आन्तर तथा बाह्य शत्रुओं से रक्षा और शान्ति, संकट तथा विपत्ति के अवसर पर आर्थिक व्यवस्था करना राजा का कर्तव्य था। उस समय भी राजा से सामाजिक त्रुटियों को दूर करने की आशा की जाती थी और सामाजिक संस्थान—वर्णाश्रमादि धर्मों—की सुरक्षा की भी। किन्तु उनके स्वरूपों में आज महान् अन्तर है। आज सह-अस्तित्व के नियामक विधान राज्य की ओर से बनाये जाते हैं, उन दिनों समाज के मनीषी और ज्ञानवृद्ध ऋषि उनका निर्धारण करते थे और राजा उनका स्वयं पालन करते हुए समाज से भी पालन कराते थे। वे चेष्टा करते थे कि शास्त्रों ने जिन धर्मों का निर्धारण किया था, अथवा जो देश, कुल, जाति

१. डा० रघुनाथप्रसाद गुप्त : भारत में समाजकल्याण और सुरक्षा, पृष्ठ २।
२. Modern Welfare State : An Historical Analysis, p. 72.
३. वही। ४. भारत में समाज कल्याण और सुरक्षा, पृष्ठ ५।
५. वही, पृष्ठ २।

आदि के आचार कालानुसार परम्परारूपेण चले आ रहे थे, उनकी रक्षा की जाये और लोक को स्वधर्म में प्रवृत्त कराया जाये।

परिगणित तथा जन-जातियों की समस्या का समाधान कुशलतापूर्वक तत्कालीन राजाओं ने किया था। आज के कल्याणकारी राज्यों के शासक गर्व करते हैं कि वे लोग दीनों, अन्धों और अपाहिजों को भी वृत्ति देने का सफल प्रयास कर रहे हैं। इससे उनके जीवन की सुरक्षा होगी और वे समाज पर सर्वथा भारमात्र नहीं रहेंगे।[१] किन्तु आज से प्रायः डेढ़-दो सहस्राब्द पूर्व महाभारत-काल में जिस राज्य की कल्पना की गई थी, उसमें भी कृपण, अनाथ, व्यंग, पंगु, वामन आदि की सुख सुविधा का ही ध्यान न रखकर उत्पादक-श्रम कराने की चेष्टा की गई थी।

आधुनिक कल्याणकारी राज्यों में प्रायः धर्म को स्थान न मिलने से धार्मिक समुदाय में असन्तोष दृष्टिगोचर होता है,[२] किन्तु प्राचीन भारतीय राज्य का आधार धर्म था और धर्म किसी सम्प्रदाय विशेष की मान्यतामात्र न होकर निखिल भुवन का भी आधार था।[3]

कल्याणकारी राज्य अभी अपनी शैशवावस्था में ही है तथापि उसके आदर्शों और उद्देश्यों के प्रति लोगों को सन्देह होने लगा। लोगों ने उसकी आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रीय हानियों को प्रस्तुत करना प्रारम्भ कर दिया। राबर्ट एम० मैक-आइवर[४] के मतानुसार—"Over this problem controversy has always raged and will always continue to rage. Should government feed the hungry, or protect the debtors, or find work for the unemployed, or land for the

---

१. Mrs F. D. Roosevelt : National Policies for Education, Health and Social Services, p. xxxv.

"We started care for the blind and the crippled. Many say that it was simply a humanitarian gesture, but it was more than that. It is real insurance so that they will not remain a burden on society. That is why we continue to develop the employment of the crippled and the blind. We continue to find useful ways of using people, even handicapped people."

२. Modern Welfare State : Introduction. pp. 9-10

३. शान्ति ९१।१४,१६। ४. Modern Welfare State, pp. 74-84.

landless man, or provide medical care for the poor or security against the various hazards of life."[1]

पाश्चात्य देशों में भले ही राज्य से इन सबकी अपेक्षा न हो, अथवा इनकी अपेक्षा में सन्देह प्रकट किया जाये, किन्तु 'अर्थशास्त्र और महाभारत के अनुसार राज्य के कार्यक्षेत्र में मनुष्य जीवन के धार्मिक, आर्थिक और सामाजिक सब क्रिया-कलाप आ जाते हैं।............यहाँ तो राज्य के कार्यक्षेत्र में मनुष्य के इहलोक-परलोक सब आ जाते हैं।'[2] आधुनिक भारतीय सरकार ने अपनी प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति के आधार पर पाश्चात्य पद्धति से संविधान के अनुच्छेद संख्या ३९, ४१-४८ में राज्य को कल्याणकारी रूप देने की चेष्टा की है। महाभारतकार के अनुसार—

प्रजाः यस्य विवर्धन्ते सरसीव महोत्पलम्।
स सर्वयज्ञफलभाग् राजा लोके महीयते॥—शान्ति १३७।१०६।

इस प्रकार महाभारतकालीन शासनप्रणालियों के नृपतन्त्र की ओर उन्मुख होने पर भी, और इसी का विशेष वर्णन होने पर भी लोक-कल्याण के लिए तत्कालीन राजाओं की वे सभी प्रवृत्तियाँ प्राप्त होती हैं जिनकी आशा आज हम उन्नत से उन्नत शासनतन्त्र से करते हैं। वस्तुतः लोककल्याण करने वाला कोई तन्त्र नहीं, कोई शासनप्रणाली नहीं अपितु राज्य के भारवाहक होते हैं। नृपतन्त्र अपने राजाओं की निरंकुशता के कारण निन्दनीय हो गया है। भारतीय नृपतन्त्र का उद्देश्य लोक में सद्व्यवस्था और सदाचार-विधान था, स्वार्थसिद्धि और प्रजादोहन या शोषण नहीं।

———
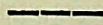
1. National Policies for Education—Health and Social Services, p. 523.
2. अ० स० अल्तेकर : प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृष्ठ ४९ (द्वि० सं०)

परिशिष्ट १

(विषय से सम्बद्ध महाभारत के कतिपय प्रमुख श्लोक)

प्रथम अध्याय

(१) ससागरः सगगनः सशैलः सबलाहकः ।
सभूमिः साग्निपवनो लोकोऽयं केन निर्मितः ॥ शान्ति १७५।२ ।

(२) पितासि लोकस्य चराचरस्य····॥ गीता ११।४३ ।

(३) निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥ गीता ११।५५ ।

(४) अकीर्ति चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ॥ गीता २।३४ ।

(५) सर्वलोकस्य मनोनयननन्दनः ॥ आरण्यक १०७।१ ।

(६) यद् यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ गीता ३।२१ ।

(७) गोपायति नरश्रेष्ठ प्रजाः सजडपण्डिताः ॥ भीष्म १३।३० ।

(८) अस्माकं तु परां पीडां चिकीर्षन्ति पुरे जनाः ॥
ते वयं राजवंशेन हीनाः सह सुतैरपि ।
अवज्ञाता भविष्यामो लोकस्य जगतीपते ॥ आदि १२९।१३, १६ ।

(९) राजा प्रजानां हृदयं गरीयो
गतिः प्रतिष्ठा सुखमुत्तमं च ॥ शान्ति ६८।५९ ।

(१०) प्रजानां पालने रतः ॥ शान्ति ७६।२ ।

कल्याण

(११) धनानि येषां विपुलानि सन्ति नित्यं रमन्ते सुविभूषिताङ्गाः ।
तेषामयं शत्रुवरघ्न लोको नासौ सदा देहसुखे रतानाम् ॥
ये योगयुक्तास्तपसि प्रसक्ताः स्वाध्यायशीला जरयन्ति देहान् ।
जितेन्द्रिया भूतहिते निविष्टाः तेषामसौ नायमरिघ्न लोकः ॥
ये धर्ममेव प्रथमं चरन्ति धर्मेण लब्ध्वा च वनानि काले ।
दारानवाप्य क्रतुभिर्यजन्ते तेषामयं चैव परश्च लोकः ॥
आरण्यक १८१।३५-३७ ।

(१२) स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥ गीता २।७० ।

(१३) त्रिभिर्भवद्भिर्हि विना नाहं जीवितुमुत्सहे ।
धर्मकामार्थरहितो रोगार्त इव दुर्गतः ॥ सभा १८।१३ ।

(१४) धर्मे चार्थे च कामे च लोकवृत्तिः समाश्रिता ॥ शान्ति १६१।२ ।

(१५) धर्मार्थकामाः सममेव सेव्याः यस्त्वेकसेवी स नरो जघन्यः ।
द्वयोस्तु दक्षं प्रवदन्ति मध्यं स उत्तमो यो निरतस्त्रिवर्गे ॥ शान्ति १६१।३८।

(१६) नाभुञ्जानो भक्ष्यभोज्यस्य तृप्येद्
विद्वानपीह विदितं ब्राह्मणानाम् ॥ उद्योग २९।५ ।

(१७) स्वादुकामुक ! भोगानां वैतृष्ण्यं किं न गच्छसि ।
मधु पश्यसि दुर्बुद्धे प्रपातं नानुपश्यसि ॥ शान्ति २९७।७ ।

(१८) ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न हि कश्चिच्छृणोति मे ।
धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्मः किं न सेव्यते ॥ स्वर्गारो० ५।४९ ।

ऋषि

(१९) साक्षिभूता महात्मानो भुवनानां प्रभावनाः ॥ शान्ति २०१।३३ ।

(२०) मन्त्रपूतैः कुशैर्जघ्नुः ऋषयो ब्रह्मवादिनः ॥ शान्ति ५९।१०० ।

(२१) ऋषयस्तु महाघोरान् दृष्ट्वोत्पातान् पृथग्विधान् ।
अकुर्वन् शान्तिमुद्विग्ना लोकानां लोकभावनाः ॥ आरण्यक २१५।१ ।

(२२) एष लोकहितार्थं वै पिबामि वरुणालयम् ॥ आरण्यक १०३।२ ।

(२३) ऋषयोऽपि विनिर्मुक्ताः पश्यन्तो लोकसंग्रहम् ।
सुखे भवन्ति सुखिनस्तथा दुःखेन दुःखिताः ॥ उद्योग ५०।५४ ।

(२४) ततस्ते लोकपितरः सर्वलोकार्थचिन्तकाः ।
प्रावर्तयन्त तच्छास्त्रं धर्मयोनिं सनातनम् ॥
जग्मुर्यथेप्सितं देशं तपसे कृतनिश्चयाः ।
धारणात् सर्वलोकानां सर्वधर्मप्रवर्तकाः ॥ शान्ति ३२२।५०, ५२ ।

सन्त

(२५) सन्तश्चाचारलक्षणाः ॥ शान्ति १८६।२ ।

(२६) सन्तो भूमिं तपसा धारयन्ति ॥ आरण्यक २८१।४७ ।

(२७) वेदोक्तः परमो धर्मो धर्मशास्त्रेषु चापरः ।
शिष्टाचीर्णश्च शिष्टानां त्रिविधं धर्मलक्षणम् ॥ आरण्यक १९८।७८ ।

(२८) वृत्तेन हि भवत्यार्यो न धनेन न विद्यया ॥ उद्योग ८८।५२ ।

(२९) यद् यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ गीता ३।२१ ।

(३०) लोकयात्रां च पश्यन्तो धर्ममात्महितानि च ।
एवं सन्तो वर्तमाना एधन्ते शाश्वतीः समाः ॥ आरण्यक १९८।८६ ।

(३१) प्रजाप्रासादमारुह्य मुह्यतो महतो जनान् ।
प्रेक्षन्तो लोकवृत्तानि विविधानि द्विजोत्तम ॥
अतिपुण्यानि पापानि तानि द्विजवरोत्तम ॥ आरण्यक १९८।९३ ।

(३२) त्रीण्येव तु पदान्याहुः सतां वृत्तमनुत्तमम् ।
न द्रुह्येच्चैव दद्याच्च सत्यं चैव सदा वदेत् ॥ आरण्यक १९८।८९ ।

अवतार

(३३) यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ गीता ४।७-८ ।

(३४) अतिक्रान्ताश्च वह्वः प्रादुर्भावा ममोत्तमाः ।
लोककार्याणि कृत्वा च पुनः स्वां प्रकृतिं गताः ॥ शान्ति ३२६।९५ ।

राजा

(३५) राजा प्रमाणं भूतानाम् ॥ आदि ७७।१८ ।

(३६) वलवान् जायते राजा—॥ उद्योग ११।३ ।

(३७) दत्त्वाभयं यः स्म राजा प्रमाणं कुरुते सदा ।
स सर्वसुखकृज्ज्ञेयः प्रजा धर्मेण पालयन् ॥
पिता माता गुरुर्गोप्ता वह्निर्वैश्रवणो यमः ।
सप्त राज्ञो गुणानेतान्मनुराह प्रजापतिः ॥
पिता हि राजा राष्ट्रस्य प्रजानां योऽनुकम्पकः ।
तस्मिन्मिथ्याप्रणीते हि तिर्यग्गच्छति मानवः ॥ शान्ति १३७।९८-१०० ।

(३८) राज्ञा हि पूजितो धर्मस्ततः सर्वत्र पूज्यते ।
यद् यदाचरते राजा तत्प्रजानां हि रोचते ॥ शान्ति ७६।४ ।

द्वितीय अध्याय

(३९) कर्मभूमिरयं लोकः ॥ शान्ति १८५।१९ ।

(४०) मनुष्याः कर्मलक्षणाः ॥ आश्वमे ४३।२० ।

(४१) जीवितं वहुमन्येऽहम् ॥ भीष्म १०३।२३ ।

(४२) यमाजीवन्ति पुरुषं सर्वभूतानि संजय ।
पक्वं द्रुममिवासाद्य तस्य जीवितमर्थवत् ॥ उद्योग १३१।४० ।

(४३) यत्तु दानपतिं शूरं क्षुधिताः पृथिवीचराः ।
प्राप्य तृप्ताः प्रतिष्ठन्ते धर्मः कोऽभ्यधिकस्ततः ॥ उद्योग १३०।२६ ।

(४४) यं हि वैद्याः कुले जाताः अवृत्तिभयपीडिताः ।
प्राप्य तृप्ताः प्रतिष्ठन्ते धर्मः कोऽभ्यधिकस्ततः ॥ शान्ति ७६।३२ ।

(४५) आत्मा वै शक्यते त्रातुं कर्मभिः शुभलक्षणैः ॥ शान्ति २८८।३२ ।

(४६) नेदं जीवितमासाद्य वैरं कुर्वीत केनचित् ॥ आरण्यक २०३।४५ ।

(४७) अक्रोधः सत्यवचनं संविभागः क्षमा तथा ।
प्रजनः स्वेषु दारेषु शौचमद्रोह एव च ॥
आर्जवं भृत्यभरणं नवैते सार्ववर्णिकाः । शान्ति ६०।७, ८ ।

धर्म

(४८) धर्ममूलं जगद्राजन् नान्यद्धर्माद् विशिष्यते ॥ आरण्यक ३४।४७ ।

(४९) प्रभवार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम् ॥ कर्ण ४९।४९ ।

(५०) लोक यात्रार्थमेवेह धर्मस्य नियमः कृतः ।
उभयत्र सुखोदर्क इह चैव परत्र च ॥ शान्ति २५९।४ ।

(५१) तस्माद्धर्मप्रधानेन भवितव्यं यतात्मना ॥ शान्ति १६१।८ ।

(५२) न जातु धर्मं कामान्न भयान्न लोभात् त्यजेत् जीवितस्यापि हेतोः ॥
स्वर्गारो० ५।५० ।

(५३) धारणाद् धर्म इत्याहुर्धर्मो धारयति प्रजाः ।
यः स्याद् धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः ॥ कर्ण ४९।५० ॥

(५४) यदन्यैर्विहितं नेच्छेदात्मनः कर्म पूरुषः ।
न तत् परेषु कुर्वीत जानन्नप्रियमात्मनः ॥ शान्ति २५९।१९ ।

(५५) यस्मिन् यथा वर्तते यो मनुष्यः ।
तस्मिंस्तथा वर्तितव्यं स धर्मः ॥ उद्योग ३७।७ ।

(५६) यद् भूतहितमत्यन्तं तत्सत्यमिति धारणा ॥ आरण्यक २००।४ ।

अर्थ

(५७) अर्थेभ्यो हि विवृद्धेभ्यः संभृतेभ्यस्ततस्ततः ।
क्रियाः सर्वाः प्रवर्तन्ते पर्वतेभ्य इवापगाः ॥ शान्ति ८।१६ ।

(५८) प्राणयात्रा हि लोकस्य विनार्थं च प्रसिध्यति ॥ शान्ति ८।१७ ।

(५९) धनमाहुः परं धर्मं धने सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ उद्योग ७०।२३ ।

(६०) अर्थो द्रव्यपरिग्रहः ॥ आरण्यक ३४।३५ ।

(६१) धत्ते धारयते चेदमेतस्मात् कारणाद् धनम् ।
तदेतत् त्रिषु लोकेषु धनं तिष्ठति शाश्वतम् ॥ उद्योग ११२।३ ।

(६२) धनं धर्मप्रधानेष्टं मनुः स्वायंभुवोऽब्रवीत् ॥ शान्ति २१।१२ ।

काम

(६३) इन्द्रियाणां च पञ्चानां मनसो हृदयस्य च ।
विषये वर्तमानानां या प्रीतिरुपजायते ।
स काम इति—। आरण्यक ३४।३७ ॥

(६४) धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥ गीता ७।११ ।

मोक्ष

(६५) सुखं मोक्षसुखं लोके ॥ शान्ति २७७।५ ।

(६६) दुष्कृते सुकृते वापि न जन्तुरयतो भवेत् ।
नित्यं मनःसमाधाने प्रयतेत विचक्षणः ॥ शान्ति २७९।२० ।

(६७) मुक्ता वीतभया लोके चरन्ति सुखिनो नराः ।
सक्तभावा विनश्यन्ति नरास्तत्र न संशयः ॥ शान्ति २७७।१३ ।

ब्रह्मचर्याश्रम

(६८) अधीतवान् यथाशक्ति तथैव ब्रह्मचर्यवान् ॥
स्वधर्मनिरतो विद्वान् सर्वेन्द्रिययतो मुनिः ।
गुरोः प्रियहिते युक्तः सत्यधर्मपरः शुचिः ॥
गुरुणा समनुज्ञातो भुञ्जीतान्नमकुत्सयन् ।
हविष्यभैक्ष्यभुक चापि स्थानासनविहारवान् ॥
द्विकालमग्निं जुह्वानः शुचिर्भूत्वा समाहितः ।
धारयीत सदा दण्डं वैल्वं पालाशमेव वा ॥
क्षौमं कार्पासिकं वापि मृगाजिनमथापि वा ।
सर्वं कापायरक्तं स्याद् वासो वापि द्विजस्य ह ॥
मेखला च भवेन्मौञ्जी जटी नित्योदकस्तथा ।
यज्ञोपवीती स्वाध्यायी अलुप्तनियतव्रतः ॥
पूताभिश्च तथैवाद्भिः सदा दैवततर्पणम् ।
भावेन नियतः कुर्वन् ब्रह्मचारी प्रशस्यते ॥ आश्वमे ४६।१-७ ।

(६९) मानसं सर्वभूतानां धर्ममाहुर्मनीषिणः ।
तस्मात्सर्वेषु भूतेषु मनसा शिवमाचरेत् ॥ शान्ति १८६।३० ।

(७०) पूर्वमेव भगवता लोकहितमनुतिष्ठता धर्मसंरक्षणार्थं आश्रमाश्चत्वारोऽभि-निर्दिष्टाः । तत्र गुरुकुलवासमेव तावत्प्रथममाश्रममुदाहरन्ति ।
शान्ति १८४।८ ।

(७१) प्रणवं चाप्यधीयीत ब्राह्मीर्दुर्वसतीर्वसन् ।
निर्मन्युरपि निर्वाणो यदि स्यात् समदर्शनः ॥
अपि च ज्ञानसम्पन्नः सर्वान् वेदान् पितुर्गृहे ।
श्लाघमान इवाधीयाद् ग्राम्य इत्येव तं विदुः ॥ अनुशा ३६।१४, १५ ।

गृहस्थाश्रम

(७२) गृहस्थधर्मो नागेन्द्र सर्वभूतहितैषिता ॥ शान्ति ३४७।७ ।

(७३) धर्मार्थकामावाप्तिर्ह्यत्र—॥ शान्ति १८४।१० ।

(७४) वत्सलाः सर्वभूतानां वाच्याः श्रोत्रसुखा गिरः ।
परिवादोपघातौ च पारुष्यं चात्र गर्हितम् ॥
अवज्ञानमहंकारो दम्भश्चैव विगर्हितः ।
अहिंसा सत्यमक्रोधः सर्वाश्रमगतं तपः ॥ शान्ति १८४।१४,१५ ।

(७५) अपि चात्र माल्याभरणवस्त्राभ्यङ्गगन्धोपभोगनृत्तगीतवादित्रश्रुतिसुखनयनाभिरामसंदर्शनानां प्राप्तिः, भक्ष्यभोज्यपेयलेह्यचोष्याणामभ्यवहार्याणां विविधानामुपभोगः स्वदारविहारसन्तोषः कामसुखावाप्तिरिति ।
—शान्ति १८४।१६

ऋण

(७६) ऋणैश्चतुर्भिः संयुक्ता जायन्ते मनुजा भुवि ।
पितृदेवर्षिमनुजदेयैः शतसहस्रशः ॥ आदि १११।१२ ।

(७७) यज्ञैश्च देवान् प्रीणाति स्वाध्यायतपसा मुनीन् ।
पुत्रैः श्राद्धैः पितृंश्चापि आनृशंस्येन मानवान् ॥ आदि १११।१४ ।

(७८) अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात्परिनिवर्तते ।
स दत्त्वा दुष्कृतं तस्मै पुण्यमादाय गच्छति ॥ शान्ति १८४।१२ ।

(७९) ये यजन्ति पितॄन् देवान् गुरूंश्चैवातिथींस्तथा ।
गाश्चैव द्विजमुख्यांश्च पृथिवीं मातरं तथा ।
कर्मणा मनसा वाचा विष्णुमेव यजन्ति ते ॥ शान्ति ३३३।२४ ।

पञ्चमहायज्ञ

(८०) न तत्स्वयमश्नीयाद् विधिवद् यन्न निर्वपेत् ॥ आरण्यक २।५६ ।

(८१) पञ्चयज्ञांस्तु यो मोहान्न करोति गृहाश्रमी ।
तस्य नायं न च परो लोको भवति धर्मतः ॥ शान्ति १४२।२६ ।

(८२) श्वभ्यश्च श्वपचेभ्यश्च वयोभ्यश्चावपेद् भुवि ।
वैश्वदेवं हि नामैतत् सायंप्रातर्विधीयते ॥ आरण्यक २।५७ ।

(८३) गृहस्थं हि सदा देवाः पितरः ऋषयस्तथा ।
भृत्याश्चैवोपजीवन्ति तान्भजस्व महीयते ॥
वयांसि पशवश्चैव भूतानि च महीपते ।
गृहस्थैरेव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ॥ शान्ति २३।४,५ ।

(८४) देयमार्तस्य शयनं स्थितश्रान्तस्य चासनम् ।
तृषितस्य च पानीयं क्षुधितस्य च भोजनम् ॥
चाक्षुर्दद्यान् मनो दद्याद् वाचो दद्याच्च सूनृताम् ॥
प्रत्युद्गम्याभिगमनं कुर्यान् न्यायेन चार्चनम् ॥ आरण्यक २।५३-५४ ।

(८५) दमान्वितः पुरुषो धर्मशीलो भूतानि चात्मानमिवानुपश्येत् ।
गरीयसः पूजयेदात्मशक्त्या सत्येन शीलेन सुखं नरेन्द्र ॥ शान्ति २८०।२३।

वानप्रस्थ

(८६) गृहस्थस्तु यदा पश्येद् वलीपलितमात्मनः ।
अपत्यस्यैव चापत्यं वनमेव तदाश्रयेत् ॥ शान्ति २३६।४ ।

संन्यास

(८७) सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद् विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥ गीता ३।२५ ।

(८८) तां गतिं परमामेति निवृत्तिपरमो मुनिः ।
ज्ञानतत्त्वपरो नित्यं शुभाशुभनिदर्शकः ॥ शान्ति २१०।५ ।

(८९) वेदानधीत्य ब्रह्मचर्येण पुत्र
पुत्रानिच्छेत् पावनार्थं पितॄणाम् ।
अग्नीनाधाय विधिवच्चेष्टयज्ञो
वनं प्रविश्याथ मुनिर्बुभूषेत् ॥ शान्ति १६९।६ ।

वर्ण

(९०) स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥ गीता १८।४६ ।

(९१) चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ॥ गीता ४।१३ ।

(९२) अधीत्याध्यापनं कुर्यात्तथा यजनयाजने ।
दानं प्रतिग्रहं चैव षड्गुणां वृत्तिमाचरेत् ॥
त्रीणि कर्माणि यानीह ब्राह्मणानां तु जीविका ।
याजनाध्यापने चोभे शुद्धाच्चापि प्रतिग्रहः ॥ आश्वमे ४५।२१-२२ ।

(९३) अवशेषाणि चान्यानि त्रीणि कर्माणि यानि तु ।
दानमध्ययनं यज्ञो धर्मयुक्तानि तानि तु ॥ वही ४५।२३ ।

(९४) प्रतिग्रहागता विप्रे क्षत्रिये शस्त्रनिर्जिताः ।
वैश्ये न्यायार्जिताश्चैव शूद्रे शुश्रूषयार्जिताः ।
स्वल्पाप्यर्थाः प्रशस्यन्ते धर्मस्यार्थे महाफलाः ॥ शान्ति २८३।१ ।

(९५) ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥
शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥
शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥

कृपिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥
स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः । गीता १८।४१-४५ ।

(९६) अवश्यभरणीयो हि वर्णानां शूद्र उच्यते ॥ शान्ति ६०।३१ ।

(९७) न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत् ॥ शान्ति १८१।१० ।

(९८) ब्रह्मास्यतो ब्राह्मणाः संप्रसूता बाहुभ्यां वै क्षत्रियाः संप्रसूताः ।
नाभ्यां वैश्याः पादतश्चापि शूद्राः सर्वे वर्णा नान्यथा वेदितव्याः ॥
शान्ति ३०६।८७ ।

नारी

(९९) नास्ति मातृसमा छाया नास्ति मातृसमा गतिः ।
नास्ति मातृसमं त्राणं नास्ति मातृसमं प्रपा ॥ शान्ति २५८।२९ ।

(१००) नास्ति भार्यासमो बन्धुर्नास्ति भार्यासमा गतिः ।
नास्ति भार्यासमो लोके सहायो धर्मसाधनः ॥ शान्ति १४२।१० ।

(१०१) अदुष्टा हि स्त्रियो रत्नम् ॥ शान्ति १५९।३० ।

(१०२) रतिपुत्रफलाः दाराः ॥ सभा ५।१०१ ।

(१०३) अवध्यास्तु स्त्रियः सृष्टाः मन्यन्ते धर्मचिन्तकाः ॥ आदि २०९।४ ।

धर्म और देव

(१०४) धर्मं यो बाधते धर्मो न स धर्मः कुधर्म तत् ।
अविरोधी तु यो धर्मः स धर्मः सत्यविक्रम ॥
विरोधिषु महीपाल निश्चित्य गुरुलाघवम् ।
न बाधा विद्यते यत्र तं धर्मं समुदाचरेत् ॥
गुरुलाघवमादाय धर्माधर्मविनिश्चये ।
यतो भूयांस्ततो राजन् कुरु धर्मविनिश्चयम् ॥ आरण्यक १३१।१०-१२ ।

(१०५) सर्वथा सर्ववर्णैर्हि यष्टव्यमिति निश्चयः ।
न हि यज्ञसमं किंचित्त्रिषु लोकेषु विद्यते ॥ शान्ति ६०।५१ ।

(१०६) अनुयज्ञं जगत् सर्वम् ॥ शान्ति २०६।३३ ।

(१०७) यज्ञे सक्ता नृपतयः ॥ आश्वमे ९४।१ ।

(१०८) ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रो वा राजसत्तम ।
न वियोनिं व्रजन्त्येते स्नातास्तीर्थे महात्मनः ॥ आरण्यक ८०।५१ ।

(१०९) पुण्यदेशाभिगमनं पवित्रं परमं स्मृतम् ॥ शान्ति १४८।८ ।

कर्म और पुनर्जन्म

(११०) तिस्रो वै गतयो राजन् परिदृष्टाः स्वकर्मभिः ।
मानुष्यं स्वर्गवासश्च तिर्यग्योनिश्च तत् त्रिधा ॥ सौप्तिक ३।२ ।

(१११) शयानं चानुशयति तिष्ठन्तं चानुतिष्ठति ।
अनुधावति धावन्तं कर्म पूर्वकृतं नरम् ॥
यस्यां यस्यामवस्थायां यत्करोति शुभाशुभम् ।
तस्यां तस्यामवस्थायां तत्तत्फलमश्नुते ॥ स्त्रीपर्व २।२२-२३ ।

(११२) पुण्यां योनिं पुण्यकृतो व्रजन्ति पापां योनिं पापकृतो व्रजन्ति ।
कीटाः पतंगाश्च भवन्ति पापा न मे विवक्षास्ति महानुभाव ॥
चतुष्पदा द्विपदा षट्पदाश्च ... । आदि ८५।१९-२० ।

(११३) आत्मापराधसंभूतं व्यसनं भरतर्षभ ।
प्राप्य प्राकृतवद् वीर न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ द्रोण ९०।१ ।

दैव या दिष्ट

(११४) तस्मादिदं लोकहिताय गुह्यम् । शान्ति १६१।४६ ।

(११५) दिष्टमेतत् पुरा चैव नात्र शोचितुमर्हसि ।
न चैव शक्यं संयन्तुम्...॥ भीष्म २।५ ।

(११६) दिष्टं बलीय इति मन्यमानो न संज्वरेन्नातिहृष्येत् कदाचित् ॥
—आदि ८४।८ ।

तृतीय अध्याय

(११७) ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः ।
दण्डस्यैव भयादेते मनुष्याः वर्त्मनि स्थिताः ॥
नाभीतो यजते राजन् नाभीतो दातुमिच्छति ।
नाभीतः पुरुषः कश्चित् समये स्थातुमिच्छति ॥
नाच्छित्त्वा परमर्माणि नाकृत्वा कर्मदारुणम् ।
नाहत्वा मत्स्यघातीव प्राप्नोति महतीं श्रियम् ॥ शान्ति १५।१२-१४ ।

(११८) नियन्ता चेन्न विन्देत न कश्चिद्धर्ममाचरेत् ॥ विराट ६३।४३ ।

(११९) स्वार्थे हि संमुह्यति तात लोकः ॥ भीष्म ५।११ ।

(१२०) कथमराजकं राष्ट्रं शक्यं धारयितुं प्रभो ॥ आदि ९९।४१ ।

(१२१) लोकरञ्जनमेवात्र राज्ञां धर्मः सनातनः ।
सत्यस्य रक्षणं चैव व्यवहारस्य चार्जवम् ॥ शान्ति ५७।११ ।

(१२२) वधं हि क्षत्रबन्धूनां धर्ममाहुः प्रधानतः ।
नास्य कृत्यतमं किंचिदन्यद् दस्युनिवर्हणात् ।
तस्माद्राज्ञा विशेषेण योद्धव्यं धर्ममीप्सता ॥ शान्ति ६०।१७, १८ ।

(१२३) राजा भोजो विराट् सम्राट् क्षत्रियो भूपतिर्नृपः ।
य एवं स्तूयते शब्दैः कस्तं नार्चितुमिच्छति ॥ शान्ति ६८।५४ ।

(१२४) तेषां पुराणि राष्ट्राणि गत्वा राजन् सुहृद्वृतः ।
भ्रातॄन् पुत्रांश्च पौत्रांश्च स्वे स्वे राज्येऽभिषेचय ॥
कुमारो नास्ति येषां च कन्यास्तत्राभिषेचय । शान्ति ३४।३१, ३३ ।

(१२५) उचितं नः कुले तात सर्वेषां भरतर्षभ ।
पुत्रेष्वैश्वर्यमाधाय वयसोऽन्ते वनं नृप ॥ आश्रम ६।२१ ।

(१२६) भवितव्यं सदा राजा गर्भिणीसहधर्मिणा ॥
यथा हि गर्भिणी हित्वा स्वं प्रियं मनसोऽनुगम् ।
गर्भस्य हितमाधत्ते तथा राज्ञाप्यसंशयम् ॥
वर्तितव्यं कुरुश्रेष्ठ नित्यं धर्मानुवर्तिना ।
स्वं प्रियं समभित्यज्य यद् यल्लोकहितं भवेत् ॥ शान्ति ५६।४४-६ ।

(१२७) रञ्जिताश्च प्रजाः सर्वास्तेन राजेति शब्द्यते ।
ब्राह्मणानां क्षतत्राणात्ततः क्षत्रिय उच्यते ॥ शान्ति ५९।१२७-१२८ ।

(१२८) कच्चिद्द्वौ प्रथमौ यामौ रात्र्यां सुप्त्वा विशांपते ॥ सभा ५।७५ ।

(१२९) अनुत्वा तात जीवन्तु ब्राह्मणाः सुहृदस्तथा ।
पर्जन्यमिव भूतानि देवा इव शतक्रतुम् ॥ उद्योग १३१।३९ ।

(१३०) यत्र राजा च राज्ञश्च पुरुषाः प्रत्यनन्तराः ।
कुटुम्बिनामग्रभुजस्त्यजेत्तद्राष्ट्रमात्मवान् ॥ शांन्ति २७६।४८ ।

(१३१) पितामाता गुरुर्गोप्ता वह्निर्वैश्रवणो यमः ॥ शान्ति १३७।९८ ।

(१३२) बलं हि क्षत्रिये नित्यं बले दण्डः समाहितः ॥ शान्ति २३।१३ ।

(१३३) असतां प्रतिषेधश्च सतां च परिपालनम् ।
एष राज्ञो परो धर्मः समरे चापलायनम् ॥
यस्मिन् क्षमा च क्रोधश्च दानादाने भयाभये ।
निग्रहानुग्रहौ चोभौ स वै धर्मविदुच्यते ॥ शान्ति १४।१६-१७ ।

(१३४) प्रतिषेद्धा हि पापस्य यदा लोकेषु विद्यते ।
तदा सर्वेषु लोकेषु पापकृन्नोपपद्यते ॥ आदि १७१।९ ।

(१३५) यानं वस्त्रमलङ्कारान् रत्नानि विविधानि च ।
हरेयुः सहसा पापा यदि राजा न पालयेत् ॥ शान्ति ६८।१५ ।

(१३६) एतद्राज्ञो दिलीपस्य राजानो नानुचक्रिरे ।
यत् स्त्रियो हेमसम्पन्नाः पथि मत्ताः स्म शेरते ॥ शान्ति २९।७० ।

(१३७) भार्या देशोऽथ मित्राणि पुत्रसंबन्धिबान्धवाः ।
एतत्सर्वं गुणवति धर्मनेत्रे महीपतौ ॥ शान्ति १३७।९४ ।

(१३८) बलिषड्भागमुद्धृत्य बलिं तमुपयोजयेत् ।
न रक्षति प्रजाः सम्यग् यः स पार्थिवतस्करः ॥ शान्ति १३७।९६ ।

(१३९) मज्जेद् धर्मस्त्रयी न स्याद् यदि राजा न पालयेत् ॥
न यज्ञाः संप्रवर्तेरन् विधिवत् स्वाप्तदक्षिणाः । शान्ति ६८।२१-२२ ।

(१४०) अरक्षितारं हर्तारं विलोप्तारमनायकम् ।
तं स्म राजकलिं हन्युः प्रजाः संभूय निर्घृणम् ॥
अहं वो रक्षितेत्युक्त्वा यो न रक्षति भूमिपः ।
स संहत्य निहन्तव्यः श्वेव सोन्माद आतुरः ॥
पापं कुर्वन्ति यत् किंचित् प्रजा राज्ञा ह्यरक्षिताः ।
चतुर्थं तस्य पापस्य राजा भारत विन्दति ॥ अनुशा ६०।१९-२१ ।

(१४१) लोके चेदं सर्वलोकस्य न स्याच् चातुर्वर्ण्यं वेदवादाश्च न स्युः ।
सर्वाश्चेज्याः सर्वलोकक्रियाश्च सद्यः सर्वे चाश्रमस्था न वै स्युः ॥
शान्ति ६३।१० ।

(१४२) चातुर्वर्ण्यस्य धर्माश्च रक्षितव्या महीक्षिता ।
धर्मसंकररक्षा हि राज्ञां धर्मः सनातनः ॥ शान्ति ५७।.५ ।

(१४३) त्वया नृशंसकर्तारः पापाचाराश्च मानवाः ।
निग्राह्याः पार्थिवश्रेष्ठ त्रिवर्गपरिवर्जिताः ॥ आदि १०९।२३ ।

(१४४) यमाश्रिता लोकमिमं परं च
जयन्ति सम्यक् पुरुषा नरेन्द्रम् ॥ शान्ति ६८।५९ ।

(१४५) राजमूला महाराज योगक्षेमसुवृष्टयः ।
प्रजासु व्याधयश्चैव मरणं च भयानि च ॥ शान्ति १३९।९ ।

(१४६) व्यभिचारान्नरेन्द्राणां धर्मः संकीर्यते महान् ।
अधर्मो वर्धते चापि संकीर्यन्ते तथा प्रजाः ॥
उरुण्डा वामनाः कुब्जाः स्थूलशीर्षास्तथैव च ।
क्लीवाश्चान्धाश्च जायन्ते बधिरा लम्बचूचुकाः ।
पार्थिवानामधर्मत्वात् प्रजानामभवः सदा ॥ आरण्यक १९८।३४-३५ ।

(१४७) राष्ट्रं पण्यं न कारयेत् ॥ शान्ति २५।१५ ।

(१४८) एष न्यासो मया दत्तः सर्वेषां वो युधिष्ठिरः ।
भवन्तोऽस्य च वीरस्य न्यासभूता मया कृताः ॥ आश्रम १४।१३ ।

(१४९) सुकृतेनैव राजानो भूयिष्ठं शासते प्रजाः ॥
श्रेयसः श्रेयसीमेवं वृत्तिं लोकोऽनुवर्तते ।
सदैव हि गुरोर्वृत्तमनुवर्तन्ति मानवाः ॥
आत्मानमसमाधाय समाधित्सति यः परान् ।
विषयेष्विन्द्रियवशं मानवाः प्रहसन्ति तम् ॥
आत्मैवादौ नियन्तव्यो दुष्कृतं संनियच्छता । शान्ति २५९।२५-२७,२९ ।

(१५०) स्त्रियोऽक्षा मृगया पानमेतत्कामसमुत्थितम् ।
व्यसनं चतुष्टयं प्रोक्तं यै राजन्भ्रश्यते श्रियः ॥ आरण्यक १४।७ ।

(१५१) वसन्तेऽर्क इव श्रीमान् न शीतो न च धर्मवान् ॥ शान्ति ५६।४० ।

(१५२) ब्रह्मण्यनुपमा दृष्टिः क्षात्रमप्रतिमं बलम् ।
तौ यदा चरतः सार्धमथ लोकः प्रसीदति ॥ आरण्यक २७।१६ ।

(१५३) पूजिता हि यथाशक्त्या दानमानासनैर्मया ।
तथा पुत्रैश्च मे तात ज्ञातिभिश्च सबान्धवैः ॥ द्रोण ८९।२४ ।

(१५४) विप्रियं च जनस्यास्य संसर्गाद् धर्मजस्य वै ।
न करिष्यन्ति राजर्षे तथा भीमार्जुनादयः ॥
मन्दा मृदुषु कौरव्यास्तीक्ष्णेष्वाशीविषोपमाः ।
वीर्यवन्तो महात्मानः पौराणां च हिते रताः ॥
न कुन्ती न च पाञ्चाली न चोलूपी न सात्वती ।
अस्मिन् जने करिष्यन्ति प्रतिकूलानि कर्हिचित् ॥ आश्रम १६।१८-२० ।

(१५५) न विवाहा समाजा वा यदि राजा न पालयेत् ॥
न वृषाः संप्रवर्तेरन् न मथ्येरंश्च गर्गराः ।
घोषाः प्रणाशं गच्छेयुर्यदि राजा न पालयेत् ॥
त्रस्तमुद्विग्नहृदयं हाहाभूतमचेतनम् ।
क्षणेन विनशेत् सर्वं यदि राजा न पालयेत् ॥ शान्ति ६८।२२-२४ ।

(१५६) अत्र वै संप्रमूढे तु धर्मे राजर्षिसेविते ।
लोकस्य संस्था न भवेत् सर्वं च व्याकुलं भवेत् ॥ शान्ति ५६।६ ।

चतुर्थ अध्याय

(१५७) पुत्रा इव पितुर्गेहे विषये यस्य मानवाः ।
निर्भया विचरिष्यन्ति स राजा राजसत्तमः । शान्ति ५७।३३ ।

(१५८) राज्यं हि सुमहत्तन्त्रं दुर्धार्यमकृतात्मभिः ।
न शक्यं मृदुना वोढुमाघातस्थानमुत्तमम् ॥ शान्ति ५८।२१ ।

(१५९) राज्ञः प्रमाददोषेण दस्युभिः परिमुष्यताम् ।
अशरण्यः प्रजानां यः स राज कलिरुच्यते ॥ शान्ति १२।२७ ।

दण्ड

(१६०) दण्डस्यैव भयादेके न खादन्ति परस्परम् ।
अन्धे तमसि मज्जेयुर्यदि दण्डो न पालयेत् ॥
यस्माददान्तान्दमयत्यशिष्टान्दण्डयत्यपि ।
दमनाद्दण्डनाच्चैव तस्माद् दण्डं विदुर्बुधाः ॥

असंमोहाय मर्त्यानामर्थसंरक्षणाय च ।
मर्यादा स्थापिता लोके दण्डसंज्ञा विशांपते ।। शान्ति १५।७,८,१० ।

(१६१) यत्र वै पापकृत् क्लेश्यो न महद् दुःखमृच्छति ।
वर्धन्ते तत्र पापानि धर्मो ह्रसति च ध्रुवम् ।।
सत्याय हि यथा नेह जह्याद् धर्मफलं महत् ।
भूतानामनुकम्पार्थं मनुः स्वायंभुवोऽब्रवीत् ।। शान्ति २५९।३०, ३५ ।

(१६२) शिष्ट्यर्थं विहितो दण्डो न वधार्थं विनिश्चयः ।
ये च शिष्टान्प्रबाधन्ते धर्मस्तेषां वधः स्मृतः ।।
ये हि राष्ट्रोपरोधेन वृत्तिं कुर्वन्ति केचन ।
तदेव तेऽनुमीयन्ते कुणय कृमयो यथा ।। शान्ति १३३।२०-२१ ।

(१६३) शृणु राजन् यथा दण्डः संभूतो लोकसंग्रहः ।
प्रजाविनयरक्षार्थं धर्मस्यात्मा सनातनः ।। शान्ति १२२।१४ ।

(१६४) हिंसा बलमसाधूनां राज्ञां दण्डविधिर्बलम् । उद्योग ३४।७२ ।

(१६५) साम्ना दानेन वा कृष्ण ये न शाम्यन्ति शत्रवः ।
भोक्तव्यस्तेषु दण्डः स्याज्जीवितं परिरक्षिता ।। उद्योग ८०।१३ ।

(१६६) प्रजाः संरक्षितुं सम्यग्दण्डनीतिः समाहिता ।। शान्ति ७०।२४ ।

(१६७) अपराधानुरूपं च दण्डं पापेषु पातयेत् ।
उद्वेजयेद् धनैर्ऋद्धान् दरिद्रान्वधबन्धनैः ।।
विनयैरपि दुर्वृत्तान्प्रहारैरपि पार्थिवः ।
सान्त्वेनोपप्रदानेन शिष्टांश्च परिपालयेत् ।। शान्ति ८६।१९-२० ।

(१६८) विभज्य दण्डः कर्तव्यो धर्मेण न यदृच्छया ।
दुर्वाचा निग्रहो बन्धो हिरण्यं बाह्यतः क्रियाः ।।
व्यङ्गत्वं च शरीरस्य वधो वा नाल्पकारणात् ।
शरीरपीडास्तास्तास्तु देहत्यागो विवासनम् ।।
आनुपूर्व्या च दण्डोऽसौ प्रजा जागर्ति पालयन् ।। शान्ति १२२।४०-४२ ।

(१६९) कच्चिन्नोग्रेण दण्डेन भृशमुद्वेजिताः प्रजाः ।
राष्ट्रे तवानुशासन्ति मन्त्रिणो भरतर्षभ ।। सभा ५।३४ ।

ब्राह्मण द्वारा न्याय

(१७०) सर्व एव त्रयो वर्णाः कार्या ब्राह्मणबन्धनाः ।
धर्मपाशनिबद्धानामल्पो व्यपचरिष्यति ।।
यो यस्तेषामुपचरेत् तमाचक्षीत वै द्विजः ।
अयं मे न शृणोतीति तस्मिन् राजा प्रधारयेत् ।। शान्ति २५९।७-८ ।

(१७१) असाधुश्चैव पुरुषो लभते शीलमेकदा ।
साधोश्चापि ह्यसाधुभ्यो जायते शोभना प्रजा ॥
न मूलघातो कर्तव्यो नैष धर्मः सनातनः ।
अपि खल्ववधेनैव प्रायश्चित्तं विधीयते ॥
उद्वेजनेन बन्धेन विरूपकरणेन च ।
वधदण्डेन ते क्लेश्या न पुरो हितसम्पदा ॥
यदा पुरोहितं वा ते पर्येयुः शरणैषिणः ।
करिष्यामः पुनर्ब्रह्मन् न पापमिति वादिनः ॥
तदा विसर्गमर्हाः स्युरितीदं नृपशासनम् ।
बिभ्रद्दण्डाजिनं मुण्डो ब्राह्मणोऽर्हति वासनम् ॥
गरीयांसो गरीयांसमपराधे पुनः पुनः ।
तथा विसर्गमर्हन्ति न यथा प्रथमे तथा ॥ शान्ति २५९।११-१६ ।

पञ्च

(१७२) कच्चिच्छुचिकृतः प्राज्ञाः पञ्च पञ्च स्वनुष्ठिताः ।
क्षेमं कुर्वन्ति संहत्य राजन् जनपदे तव ॥ सभा ५।७० ।

न्यायकर्ता

(१७३) कच्चिदार्यो विशुद्धात्मा क्षारितश्चौरकर्मणि ।
अदृष्टशास्त्रकुशलैर्न लोभाद् वध्यते शुचिः ॥
पृष्टो गृहीतस्तत्कारी तज्ज्ञैर्दृष्टः सकारणः ।
कच्चिन्न मुच्यते स्तेनो द्रव्यलोभान्नरर्षभ ॥
व्युत्पन्ने कच्चिदाढ्यस्य दरिद्रस्य च भारत ।
अर्थान्न मिथ्या पश्यन्ति तवामात्या हृता धनैः ॥ सभा ५।९३-९५ ।

(१७४) व्यवहारेषु धर्म्येषु नियोज्यास्ते बहुश्रुताः ।
गुणयुक्तेऽपि नैकस्मिन् विश्वस्याच्च विचक्षणः ॥ शान्ति २५।१७ ।

(१७५) व्यवहाराश्च ते तात नित्यमाप्तैरधिष्ठिताः ।
योज्यास्तुष्टैर्हिते राजन्नित्यं चौरैरनुष्ठिताः ॥
परिमाणं विदित्वा च दण्डं दण्ड्येषु भारत ।
प्रणयेयुर्यथान्यायं पुरुषास्ते युधिष्ठिर ॥ आश्रम १०।१-२ ।

(१७६) चतुरो ब्राह्मणान् वैद्यान्प्रगल्भान् सात्त्विकान् शुचीन् ।
त्रींश्च शूद्रान् विनीतांश्च शुचीन्कर्मणि पूर्वके ॥
अष्टाभिश्च गुणैर्युक्तं सूतं पौराणिकं चरेत् ।
पञ्चाशद्वर्षवयसं प्रगल्भमनसूयकम् ॥

१६

विवर्जितानां व्यसनैः सुघोरैः सप्तभिर्भृशम् ।
अष्टानां मन्त्रिणां मध्ये मन्त्रं राजोपधारयेत् ॥ शान्ति ८६।७-८,१० ।

(१७७) सभां प्रपद्यते ह्यार्तः प्रज्वलन्निव हव्यवाट् ।
तं वै सत्येन धर्मेण सभ्याः प्रशमयन्त्युत ॥ सभा ६१।५३ ।

गुल्मन्यास

(१७८) न्यसेत गुल्मान् दुर्गेषु सन्धौ च कुरुनन्दन ।
नगरोपवने चैव पुरोद्यानेषु चैव ह ॥
संस्थानेषु च सर्वेषु पुरेषु नगरस्य च ।
मध्ये च नरशार्दूल तथा राजनिवेशने ॥ शान्ति ६९।६-७ ।

प्रणिधि

(१७९) प्रणिधींश्च ततः कुर्यात् जडान्धबधिराकृतीन् ।
पुंसः परीक्षितान् प्राज्ञान् क्षुत्पिपासातपक्षमान् ॥
अमात्येषु च सर्वेषु मित्रेषु त्रिविधेषु च ।
पुत्रेषु च महाराज प्रणिदध्यात्समाहितः ॥
पुरे जनपदे चैव तथा सामन्तराजसु ।
यथा न विद्युरन्योन्यं प्रणिधेयास्तथा हि ते ॥
चारांश्च विद्यात्प्रहितान् परेण भरतर्षभ ।
आपणेषु विहारेषु समवायेषु भिक्षुषु ॥
आरामेषु तथोद्याने पण्डितानां समागमे ।
देशेषु चत्वरे चैव सभास्वावसथेषु च ॥ शान्ति ६९।८-१२ ।

ग्राम-नगर-गुप्ति

(१८०) कच्चिन्नगरगुप्त्यर्थं ग्रामा नगरवत्कृताः ।
ग्रामवच्च कृतारक्षा ते च सर्वे तदर्पणाः ॥ सभा ५।७१ ।

(१८१) ग्रामस्याधिपतिः कार्यो दशग्राम्यस्तथापरः ।
द्विगुणायाः शतस्यैवं सहस्रस्य च कारयेत् ॥
ग्रामे यान् ग्रामदोषांश्च ग्रामिकः परिपालयेत् ।
तान्ब्रूयाद् दशपायासौ स तु विंशतिपाय वै ॥
सोऽपि विंशत्यधिपतिर्वृत्तं जानपदे जने ।
ग्रामाणां शतपालाय सर्वमेव निवेदयेत् ॥
यानि ग्रामीणभोज्यानि ग्रामिकस्तान्युपाश्नुयात् ।
दशपस्तेन भर्तव्यस्तेनापि द्विगुणाधिपः ॥

ग्रामं ग्रामशताध्यक्षो भोक्तुमर्हति सत्कृतः ।
महान्तं भरतश्रेष्ठ सुस्फीतजनसंकुलम् ॥
तत्र ह्यनेकमायत्तं राज्ञो भवति भारत ।
शाखानगरमर्हस्तु सहस्रपतिरुत्तमम् ॥
धान्यहैरण्यभोगेन भोक्तुं राष्ट्रिय उद्यतः ॥
तथा यद्ग्रामकृत्यं स्याद् ग्रामिकृत्यं च ते स्वयम् ।
धर्मज्ञः सचिवः कश्चित् तत्प्रपश्येदतन्द्रितः ॥
नगरे नगरे च स्यादेकः सर्वार्थचिन्तकः ।
उच्चैः स्थाने घोररूपो नक्षत्राणामिव ग्रहः ॥ शान्ति ८८।३-१० ।

(१८२) राष्ट्रस्यारक्ष्यमाणस्य कुतो भूतिः कुतः सुखम् ॥ आरण्यक १५४।११ ।

(१८३) पुरं च ते सुगुप्तं स्यात् दृढप्राकारतोरणम् ।
अट्टाट्टालकसंबाधं षट्पथं सर्वतोदिशम् ।
तस्य द्वाराणि कार्याणि पर्याप्तानि वृहन्ति च ।
सर्वतः सुविभक्तानि यन्त्रैरारक्षितानि च ॥ आश्रम ९।१६-१७ ।

संकटकालीन रक्षा

(१८४) घोषान्न्यसेत मार्गेषु ग्रामानुत्थापयेदपि ।
प्रवेशयेच्च तान् सर्वान् शाखानगरकेष्वपि ॥ ३३ ।
ये गुप्ताश्चैव दुर्गाश्च देशास्तेषु प्रवेशयेत् ।
धनिनो बलमुख्यांश्च सान्त्वयित्वा पुनः पुनः ॥ ३४ ।
सस्याभिहारं कुर्याच्च स्वयमेव नराधिपः ।
असंभवे प्रवेशस्य दाहयेदग्निना भृशम् ॥ ३५ ।
क्षेत्रस्थेषु च सस्येषु शत्रोरुपजपेन्नरान् ।
विनाशयेद् वा सर्वस्वं बलेनाथ स्वकेन वै ॥ ३६ ।
नदीषु मार्गेषु सदा संक्रमानवसादयेत् ।
जलं निस्रावयेत् सर्वमनिस्राव्यं च दूषयेत् ॥ ३७।
दुर्गाणां चाभितो राजा मूलच्छेदं प्रकारयेत् ।
सर्वेषां क्षुद्रवृक्षाणां चैत्यवृक्षान्विवर्जयेत् ॥ ३८ ।
प्रवृद्धानां च वृक्षाणां शाखाः प्रच्छेदयेत्तथा ।
चैत्यानां सर्वथा वर्ज्यमपि पत्रस्य पातनम् ॥ ३९ ।
प्रकण्ठीः कारयेत् सम्यगाकाशजननीस्तथा ।
आपूरयेच्च परिखाः स्थाणुनक्रझषाकुलाः ॥ ४० ।
कडङ्गद्वारकाणि स्युरुच्छ्वासार्थे पुरस्य ह ।
तेषां च द्वारवद्गुप्तिः कार्या सर्वात्मना भवेत् ॥ ४१ ।

द्वारेषु च गुरुण्येव यन्त्राणि स्थापयेत् सदा ।
आरोपयेत् शतघ्नीश्च स्वाधीनानि च कारयेत् ॥ ४२ ।
काष्ठानि चाभिहार्याणि तथा कूपांश्च खानयेत् ।
संशोधयेत्तथा कूपान् कृतान् पूर्वं पयोर्थिभिः ॥ ४३ ।
तृणच्छन्नानि वेश्मानि पङ्केनापि प्रलेपयेत् ।
निर्हरेच्च तृणं मासे चैत्रे वह्निभयात्पुरः ॥ ४४ ।
नक्तमेव च भक्तानि पाचयेत नराधिपः ।
न दिवाग्निर्ज्वलेद् गेहे वर्जयित्वाग्निहोत्रकम् ॥ ४५ ।
महादण्डश्च तस्य स्याद् यस्याग्निर्वै दिवा भवेत् ।
प्रघोषयेदर्थैवं च रक्षणार्थं पुरस्य वै ॥ ४६ ।
भिक्षुकांश्चक्रिकांश्चैव क्षीबोन्मत्तान्कुशीलवान् ।
बाह्यान् कुर्यान्नरश्रेष्ठ दोषाय स्युर्हि तेऽन्यथा ॥ ४९ ।—शान्ति ६९ ।

(१८५) ब्राह्मणार्थं हि सर्वेषां शस्त्रग्रहणमिष्यते ॥

(१८६) ब्राह्मणस्त्रिषु कालेषु शस्त्रं गृह्णन्नदुष्यति ।
आत्मत्राणे वर्णदोषे दुर्गस्य नियमेषु च ॥ शान्ति ७९।३३ ।

विपत्तिकाल

(१८७) प्रतिग्रहस्तारयति पुष्टिर्वै प्रतिगृह्यताम्
मयि यद् विद्यते वित्तं तद् वृणीध्वं तपोधनाः ॥ अनुशा ९३।२७ ।

(१८८) अशक्तः क्षत्रधर्मेण वैश्यधर्मेण वर्तयेत् ।
कृषिगोरक्ष्यमास्थाय व्यसने वृत्तिसंक्षये ॥
सुरा लवणमित्येव तिलान्केसरिणः पशून् ।
ऋषभान् मधु मांसं च कृतान्नं च युधिष्ठिर ॥
सर्वास्ववस्थासु त्वेतानि ब्राह्मणः परिवर्जयेत् ।
एतेषां विक्रयात्तात् ब्राह्मणो नरकं व्रजेत् ॥
अजोऽग्निर्वरुणो मेषः सूर्योऽश्वः पृथिवी विराट् ।
धेनुर्यज्ञश्च सोमश्च न विक्रेयाः कथंचन ॥ शान्ति ७९।२,४-६ ।

(१८९) क्षत्रधर्मा वैश्यधर्मा नावृत्तिः पतति द्विजः ।
शूद्रकर्मा यदा तु स्यात्तदा वै पतति द्विजः ॥
वाणिज्यं पाशुपाल्यं च तथा शिल्पोपजीवनम् ।
शूद्रस्यापि विधीयन्ते यदा वृत्तिर्न जायते ॥
रङ्गावतरणं चैव तथा रूपोपजीवनम् ।
मद्यमांसोपजीव्यं च विक्रयो लोहचर्मणोः ॥

अपूर्विणा न कर्तव्यं कर्म लोके विगर्हितम् ।
कृतपूर्विणस्तु त्यजतो महान्धर्म इति श्रुतिः ।। शान्ति २८३।२-५ ।

पंचम अध्याय

(१९०) कच्चिद्दुर्गाणि सर्वाणि धनधान्यायुधोदकैः ।
यन्त्रैश्च परिपूर्णानि तथा शिल्पिधनुर्धरैः ।। सभा ५।२५ ।

(१९१) सभाः प्रपाश्च विविधास्तडागानि च पाण्डवः ।
सुहृदां कारयामास सर्वेषामौर्ध्वदैहिकम् ।। शान्ति ४२।७ ।

(१९२) न संनिकाशयेद् धर्मं विविक्ते विरजाश्चरेत् ।
शून्यागारमरण्यं वा वृक्षमूलं नदीं तथा ।। आश्वमे ४६।३१ ।

(१९३) यथा शून्ये पुरागारे भिक्षुरेकां निशां वसेत् ।। शान्ति ३०८।१८९ ।

(१९४) सुविभक्तमहारथ्यं देवतावाधवर्जितम् ।
विरोचमानं विविधैः पाण्डुरैर्भवनोत्तमैः ।। आदि १९९।३४ ।

(१९५) पण्यैश्च बहुभिर्युक्तां सुविभक्तमहापथाम् ।। आरण्यक १९८।७ ।

(१९६) चत्वरापणशोभितम् ।। शान्ति ८७।८ ।

(१९७) संक्रमाः भेदिताः सर्वे नावश्च प्रतिषेधिताः ।। आरण्यक २९७।२१ ।

(१९८) सेतुमाश्रित्य तिष्ठन्तं ददर्श भरतर्षभ ।। आरण्यक २९७।२१ ।

(१९९) जलवांस्तृणवान्मार्गः समो गम्यः प्रशस्यते ।। शान्ति १०१।११ ।

षष्ठ अध्याय

(२००) यथैव पूर्णादुदधेः स्यन्दन्त्यापो दिशो दश ।
एवं राजकुलाद् वित्तं पृथिवीं प्रतितिष्ठति ।। शान्ति ८।३२ ।

(२०१) कृपिगोरक्ष्यवाणिज्यमिह लोकस्य जीवनम् ।। आरण्यक १९८।३२ ।

(२०२) वार्तामूलो ह्ययं लोकस्त्रय्या वै धार्यते सदा ।
तत्सर्वं वर्तते सम्यग् यदा रक्षति भूमिपः ।। शान्ति ६८।३५ ।

(२०३) कर्मभूमिरियं राजन्निह वार्ता प्रशस्यते ।
कृषिवाणिज्यगोरक्ष्यं शिल्पानि विविधानि च ।
अर्थ इत्येव सर्वेषां कर्मणामव्यतिक्रमः ।। शान्ति १६१।१०-११ ।

कृषि

(२०४) न नः स समितिं गच्छेद् यश्च नो निर्वपेत् कृषिम् ।। उद्योग ३६।३१ ।

(१०५) कच्चित्स्वनुष्ठिता तात वार्ता ते साधुभिर्जनैः ।। सभा ५।६९ ।

(२०६) तस्यां प्रयतमानायां ये स्युस्तत्परिपन्थिनः ।
दस्यवस्तद्वधायेह ब्रह्मा क्षत्रमवासृजत् ॥ शान्ति ९०१७,८ ।

(२०७) कच्चिन्न लुब्धैश्चौरैर्वा कुमारैः स्त्रीवलेन वा ।
त्वया वा पीड्यते राष्ट्रं कच्चित् पुष्टाः कृषीवलाः ॥ सभा ५।६६ ।

(२०८) कच्चित्ते कृपितन्त्रेषु गोषु पुष्पफलेषु च ॥ सभा ५।१०३ ।

(२०९) कच्चिद्राष्ट्रे तडागानि पूर्णानि च महान्ति च ।
भागशो विनिविष्टानि न कृपिर्देवमातृका ॥ सभा ५।६७ ।

(२१०) कच्चित् कृषिकरा राष्ट्रं न जहत्यतिपीडिताः ।
ये वहन्ति धुरं राज्ञां संभरन्तीतरानपि ॥ शान्ति ९०१२३-२४ ।

(२११) कच्चित् क्रतूनेकचित्तो वाजपेयांश्च सर्वशः ।
पुण्डरीकांश्च कात्स्न्र्येन यतसे कर्तुमात्मवान् ॥ सभा ५।८९ ।

(२१२) अग्नौ प्रास्ताहुतिर्ब्रह्मन्नादित्यमुपतिष्ठति ।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥
तस्मात् स्वनुष्ठितात् पूर्वे सर्वान् कामांश्च लेभिरे ।
अकृष्टपच्या पृथिवी आशीर्भिर्वीरुधोऽभवन् ॥ शान्ति २५५।११-१२ ।

(२१३) वृद्धबालधनं रक्ष्यमन्धस्य कृपणस्य च ।
न खातपूर्वं कुर्वीत न रुदन्तीधनं हरेत् ॥ अनुशा ६१।२५ ।

(२१४) कच्चिद् वीजं च भक्तं च कर्षकायावसीदते ।
प्रतिकं च शतं वृद्धया ददास्यृणमनुग्रहात् ॥ सभा ५।६८ ।

(२१५) ये त्वानुवादेयुरवृत्तिकर्शिता ब्रूयांश्च तेषां वचनेन मे सदा ।
दास्यामि सर्वं तदहं न संशयो न ते भयं विद्यति संनिधौ मम ॥
विराट ६।१५ ।

गोरक्ष्य

(२१६) गोधनं राष्ट्रवर्धनम् । विराट ३३।९ ।

(२१७) गोषु यज्ञाः प्रतिष्ठिताः ॥ अनुशा ७८।८ ।

(२१८) अन्नं हि परमं गावः ॥ अनुशा ७८।७ ।

(२१९) शकृन्मूत्रे निवस त्वं पुण्यमेतद्धि नः शुभे ॥ अनुशा ८२।२४ ।

(२२०) अथ स स्मारणं कृत्वा लक्षयित्वा त्रिहायनाम् ॥ आरण्यक २९९।६ ।

(२२१) अंकैर्लक्ष्मैश्च ताः सर्वाः लक्षयामास पार्थिवः ॥ वही २९९।४ ।

(२२२) तस्मै सः सर्वमाचष्ट राष्ट्रस्य पशुकर्षणम् ॥ विराट ३३।९ ।

(२२३) वृषभानपि जानामि राजन्पूजितलक्षणान् ।
येषां मूत्रमुपाघ्राय अपि वन्ध्या प्रसूयते ॥ विराट ३।१० ।

(२२४) क्षिप्रं हि गावो वहुला भवन्ति ।
न तासु रोगो भवतीह कश्चित् ॥ विराट ९।१२ ।

(२२५) प्रचारं भृत्यभरणं व्ययं गोग्रामतो भयम् ।
योगक्षेमं च संप्रेक्ष्य गोमिनः कारयेत् करान् ॥ शान्ति ८८।३३ ।

वाणिज्य

(२२६) नावो न सन्ति सेनाया वह्व्यस्तारयितुं तथा ।
वणिजामुपघातं च कथमस्मद्विधश्चरेत् ॥ आरण्यक २२९।२८ ।

(२२७) वणिग्वर्या समुद्राद्वै यथार्थ लभते धनम् ॥ शान्ति २८७।२६ ।

(२२८) गोमतो धनिनश्चैव परिपाल्याः विशेषतः ॥ शान्ति २६।१६ ।

(२२९) नैकद्रव्योच्चयवतीं समृद्धविपणापणाम् ॥ अनुशा ३०।१७ ।

(२३०) कच्चिज्ज्ञातीन् गुरून्वृद्धान् वणिजः शिल्पिनः श्रितान् ।
अभीक्ष्णमनुगृह्णासि धनधान्येन दुर्गतान् ॥ सभा ५।६१ ।

(२३१) कच्चित्ते वणिजो राष्ट्रे नोद्विजन्ते करार्दिताः ।
क्रीडन्तो बहु वाल्पेन कान्तारकृतनिश्चयाः ॥ शान्ति ९०।२२ ।

(२३२) विक्रयं क्रयमध्वानं भक्तं च सपरिव्ययम् ।
योगक्षेमं च सम्प्रेक्ष्य वणिजः कारयेत् करान् ॥ शान्ति ८।११ ।

(२३३) कच्चिदभ्यागता दूराद् वणिजो लाभकारणात् ।
यथोक्तमवहार्यन्ते शुल्कं शुल्कोपजीविभिः ॥ सभा ५।१०३ ।

(२३४) कच्चित्ते पुरुषा राजन् पुरे राष्ट्रे च मानिताः ।
उपानयन्ति पण्यानि उपधाभिरवञ्चिताः ॥ सभा ५।१०४ ।

शिल्प

(२३५) विद्वांसो शिल्पिनो यत्र निचयाश्च सुसंचिताः ॥
महेष्वासाः स्थपतयः········। शान्ति ८७।७, १६ ।

(२३६) सर्वशिल्पविदश्चैव वासायाम्यगमंस्तदा ॥ आदि १९९।३८ ।

(२३७) बह्वन्नशयनैर्युक्तान् सगणानां पृथक् पृथक् ।
सर्वर्तुगुणसंपन्नान् शिल्पिनोऽथ सहस्रशः ॥ सभा ३०।४७ ।

(२३८) तत्रासन् शिल्पिनः प्राज्ञाः शतशो दत्तवेतनाः । उद्योग १४३।७८ ।

(२३९) श्रुत्वा तस्य त्वरिता निर्विशङ्काः प्राज्ञाः दक्षास्तां तथा चक्रुराशु ।
सर्वद्रव्याण्युपाजह्रुः सभायां सहस्रशः शिल्पिनश्चापि युक्ताः ॥
सभा ५१।१८ ।

(२४०) महाघनं शिल्पिवरैः प्रयत्नतः कृतं यदस्योत्तमवर्मभास्वरम् ।
सुदीर्घकालेन तदस्य पाण्डवः क्षणेन वाणैर्वहुधा व्यशातयत् ॥ कर्ण ६६।३ ।

(२४१) द्रव्योपकरणं कच्चित् सर्वदा सर्वशिल्पिनाम् ।
चातुर्मास्यावरं सम्यग् नियतं संप्रयच्छसि ॥ सभा ५।१०७ ।

(२४२) उत्पत्तिं दानवृत्तिं च शिल्पं संप्रेक्ष्य चासकृत् ।
शिल्पं प्रति करानेव शिल्पिनः प्रति कारयेत् ॥
फलं कर्म च संप्रेक्ष्य ततः सर्वं प्रकल्पयेत् ।
फलं कर्म च निर्हेतुं न कश्चित् संप्रवर्तयेत् ॥ शान्ति ८८।१२,१४ ।

(२४३) पौरजानपदार्थं तु ममार्थो नात्मभोगतः ॥
कामतो हि धनं राजा पारक्यं यः प्रयच्छति ।
न सधर्मेण धर्मात्मन् युज्यते यशसा न च ॥ उद्योग ११६।१३,१४ ।

(२४४) संचयांश्च न कुर्वीत जातुशूद्रः कथंचन ॥
राज्ञा वा समनुज्ञातः कामं कुर्वीत धार्मिकम् ॥ शान्ति ६०।२९,३० ।

(२४५) अनर्थो ब्राह्मणस्यैष यद् वित्तनिचयो महान् ॥ अनुशा ६१।१९ ।

(२४६) तं चेद्वित्तमुपागच्छेद् वर्तमानं स्वकर्मणि ।
अकुर्वाणं विकर्माणि शान्तं प्रज्ञानतर्पितम् ॥
कुर्वीतापत्यसंतानमथो दद्यात् यजेत च ।
संविभज्य हि भोक्तव्यं धनं सद्भिरितीष्यते ॥ शान्ति ६०।१०,११ ।

(२४७) वित्तानि धर्मलब्धानि क्रतुमुख्येष्ववासृजन् ।
कृतात्मसु महाराज स वै त्यागी स्मृतो नरः ॥ शान्ति १२।७ ।

(२४८) दापयित्वा करं धर्म्यं राष्ट्रं नित्यं यथाविधि ।
अशेषान्कल्पयेद्राजा योगक्षेममतन्द्रितः ॥ शान्ति ७२।११ ।

(२४९) आददीत बलिं चैव प्रजाभ्यः कुरुनन्दन ।
षड्भागममितप्रज्ञस्तासामेवाभिगुप्तये ॥ शान्ति ६९।२४ ।

(२५०) ऊधश्छिन्द्याद्धि यो धेन्वाः क्षीरार्थी न लभेत्पयः ।
एवं राष्ट्रमयोगेन पीडितं न विवर्धते ॥ शान्ति ७२।१६ ।
मालाकारोपमो राजन्भव माङ्गारिकोपमः ॥ शान्ति ७२।२०।
वत्सौपम्येन दोग्धव्यं राष्ट्रमक्षीणबुद्धिना ।
भृतो वत्सो जातबलः पीडां सहति भारत ॥ शान्ति ८८।१८ ।
मधुदोहं दुहेद्राष्ट्रं भ्रमरान्न विपातयेत् ।
वत्सापेक्षी दुहेच्चैव स्तनांश्च न विकुट्टयेत् ॥
जलौकावत्पिबेद्राष्ट्रं मृदुनैव नराधिप ।
व्याघ्रीव च हरेत्पुत्रमदष्ट्वा मा पतेदिति ॥ शान्ति ८९।४-५।

(२५१) यो वैश्यः स्याद् बहुपशुर्हीनक्रतुरसोमपः ।
कुटुम्बात्तस्य तद्द्रव्यं यज्ञार्थं पार्थिवो हरेत् ॥

आहरेद् वेश्मतः किंचित् कामं शूद्रस्य द्रव्यतः ।
न हि वेश्मनि शूद्रस्य कश्चिदस्ति परिग्रहः ॥
यो नाहिताग्निः शतगुरयज्वा च सहस्रगुः ।
तयोरपि कुटुम्बाभ्यामाहरेदविचारयन् ॥
अदातृभ्यो हरेन्नित्यं व्याख्याप्यनृपतिः प्रभो ।
तथा ह्याचरतो धर्मो नृपतेः स्यादथाखिलः ॥ शान्ति १५९।७-१० ।

(२५२) यज्ञाय सृष्टानि धनानि धात्रा
यष्टादिष्टः पुरुषो रक्षिता च ।
तस्मात्सर्वं यज्ञ एवोपयोज्यं
धनं ततोऽनन्तर एव कामः ॥ शान्ति २०।१० ।

सप्तम अध्याय

(२५३) अभृतानां भवेद् भर्ता भृतानां चान्वेक्षकः ॥ शान्ति ५७।१९ ।

(२५४) नाथो वै भूमिपो नित्यमनाथानां नृणां भवेत् ॥ शान्ति ८६।१७ ।

(२५५) वृद्धो ज्ञातिरवसन्नः कुलीनः सखा दरिद्रो भगिनी चानपत्या ॥
उद्योग ३३.५९ ।

(२५६) विद्या वार्ता च सेवा च कारुत्वं नाट्यता तथा ।
इत्येते जीवनार्थाय मर्त्यानां विहिताः प्रिये ॥ गीता प्रेस षष्ठखण्ड,
पृष्ठ ५९५५ ।

(२५७) यस्य स्म विषये राज्ञः स्तेनो भवति वै द्विजः ।
राज्ञ एवापराधं तं मन्यन्ते तद्विदो जनाः ॥
अवृत्त्या यो भवेत्स्तेनो वेदवित्स्नातकस्तथा ।
राजन् स राज्ञा भर्तव्य इति धर्मविदो विदुः ॥
स चेन्नो परिवर्तेत कृतवृत्तिः परंतप ।
ततो निर्वासनीयः स्यात् तस्माद् देशात् सबान्धवः ॥ शान्ति ७७।१२-१४ ।

(२५८) कच्चिन्मुख्या महत्स्वेव मध्यमेषु च मध्यमाः ।
जघन्यांश्च जघन्येषु भृत्याः कर्मसु योजिताः ॥ सभा ५।३३ ।

(२५९) मा स्म लुब्धांश्च मूर्खांश्च कामे चार्थेषु यूयुजः ।
अलुब्धान् बुद्धिसम्पन्नान् सर्वकर्मसु योजयेत् ॥ शान्ति ७२।८ ।

(२६०) धार्मिकान् धर्मकार्येषु अर्थकार्येषु पण्डितान् ।
स्त्रीषु क्लीवान् नियुंजीत क्रूरान् क्रूरेषु कर्मसु ॥ आरण्यक १४९।४६ ।

(२६१) कर्मदृष्ट्याथ भृत्यांस्त्वं वरयेथाः कुरूद्वह ।
कारयेथाश्च कर्माणि युक्तायुक्तैरधिष्ठितैः ॥ आश्रम १०।११ ।

(२६२) त्रिविधाः पुरुषा राजन्नुत्तमाधममध्यमाः ।
नियोजयेद् यथावत्तांस्त्रिविधेष्वेव कर्मसु ।। उद्योग ३३।५६ ।

(२६३) कच्चिद्विदित्वा पुरुषानुत्तमाधममध्यमान् ।
कर्मस्वनुरूपेषु नियोजयसि भारत ।। सभा ५।६४ ।

(२६४) यान् यानमन्यद् योग्यांश्च येषु येष्विह कर्मसु ।
तांस्तांस्तेष्वेव युयुजे प्रीयमाणो महीपतिः ।। शान्ति ४१।१५ ।

(२६५) भृताश्च वहवो योधाः परीक्ष्यैव महारथाः ।।
अकारणभृतस्तात मम सैन्ये न विद्यते ।। द्रोण ८९।२१,२२ ।

(२६६) शूद्रः करोति शुश्रूषाम् । उद्योग ७०।४७ ।

(२६७) तस्य वृत्तिं प्रवक्ष्यामि यच्च तस्योपजीवनम् ।
अवश्यभरणीयो हि वर्णानां शूद्र उच्यते ।। शान्ति ६०।३१ ।

(२६८) वैश्या विपणिजीविनः ।। उद्योग ७०।४७ ।

(२६९) तस्य वृत्तिं प्रवक्ष्यामि यच्च तस्योपजीवनम् ।
षण्णामेकां पिवेद्धेनुं शताच्च मिथुनं हरेत् ।।
लये च सप्तमो भागस्तथा शृङ्गे कला खुरे ।
सस्यस्य सर्ववीजानामेषा सांवत्सरी भृतिः ।। शान्ति ६०।२४-२५ ।

(२७०) क्षत्रियाणां विशेषेण येषां युद्धेन जीविका ॥ द्रोण ५०।६२ ।

(२७१) उरस्तः क्षत्रियः सृष्टो बाहुवीर्योपजीविता ।। उद्योग १३०।७ ।

(२७२) सेनाजीवाश्च ये राज्ञां विषये सन्ति मानवाः ॥ आरण्यक २३८।४१ ।

(२७३) न संकरेण द्रविणं विचिन्वीत विचक्षणः ।
धर्मार्थं न्यायमुत्सृज्य न तत्कल्याणमुच्यते ।। शान्ति २८३।२४ ।

(२७४) कर्म शूद्रे कृषिर्वैश्ये संग्रामः क्षत्रिये स्मृतः ।
ब्रह्मचर्यं तपो मन्त्राः सत्यं च ब्राह्मणे सदा ॥ आरण्यक १९८।२४ ।

वृत्तिविधान

(२७५) कच्चिद् दारान् मनुष्याणां तवार्थे मृत्युमेयुषाम् ।
व्यसनं चाभ्युपेतानां बिभर्षि भरतर्षभ ॥ सभा ५।४४ ।

(२७६) कम्बुकेयूरधारिण्यो निष्ककण्ठ्यः सुवर्चसः ।
महार्हमाल्याभरणाः सुवर्चसाश्चन्दनोक्षिताः ।
मणीन् हेम च बिभ्रत्यः सर्वा वै सूक्ष्मवाससः ।। आरण्यक २२२।४४-४६ ।

(२७७) विहाराहारकालेषु माल्यशय्यासनेषु च ।
स्त्रियश्च ते सुगुप्ताः स्युर्वृद्धैराप्तैरधिष्ठिताः ।।
शीलवद्भिः कुलीनैश्च विद्वद्भिश्च युधिष्ठिर ॥ आश्रम ९।१९ ।

(२७८) आनृशंस्यं परोधर्मः सर्वप्राणभृतां यतः ।
तस्माद्राजानृशंस्येन पालयेत् कृपणं जनम् ॥ आदि १५९ ।

(२७९) कृपणानामनाथानां विधवानां च योषिताम् ।
योगक्षेमं च वृत्तिं च नित्यमेव प्रकल्पयेत् ॥ शान्ति ८७।२४ ।

(२८०) विधवानाथकृपणान् विकलांश्च बभार सः ॥ आदि ४५।१० ।

(२८१) कच्चित् स्त्रीबालवृद्धं ते न शोचति न याचते ॥ आश्रम ३३।८ ।

(२८२) याश्च तत्र स्त्रियः काश्चिद् हतवीरा हतात्मजाः ।
सर्वास्ताः कौरवो राजा संपूज्यापालयद् घृणी ॥ शान्ति ४२।१० ।

(२८३) अलंकृता वस्त्रवत्यः सुगन्धा अबीभत्सा सुखिता भोगवत्यः ।
लघु यासां दर्शनं वाक् च लघ्वी वेशस्त्रियः कुशलं तात पृच्छेः ॥

(२८४) काषायैरजिनैश्चीरैर्नग्नान् मुण्डान् जटाधरान् ।
बिभ्रत्साधून् महाराज जय लोकान् जितेन्द्रियः ॥ शान्ति १८।३४ ।

(२८५) अजुगुप्सांश्च विज्ञाय ब्राह्मणान् वृत्तिकर्शितान् ।
उपच्छन्नं प्रकाशं वा वृत्त्या तान् प्रतिपालयेत् ॥ अनुशा ६१।१४,१५ ।

(२८६) नैषामुक्षा वर्धते नोतवाहा न गर्गरो मथ्यते संप्रदाने ।
अपध्वस्ता दस्युभूता भवन्ति येषां राष्ट्रे ब्राह्मणो वृत्तिहीनः ॥
शान्ति ३२९।१२ ।

(२८७) कच्चित् पुरुषकारेण पुरुषः कर्मशोभयन् ।
लभते मानमधिकं भूयो वा भक्तवेतनम् ॥ सभा ५।४२ ।

(२८८) कच्चिद्बलस्य भक्तं च वेतनं च यथोचितम् ।
संप्राप्तकालं दातव्यं ददासि न विकर्षसि ॥
कालातिक्रमणाद्ध्येते भक्तवेतनयोर्भृताः ।
भर्तुः कुप्यन्ति दौर्गत्यात् सोऽनर्थः सुमहान् स्मृतः ॥ सभा ५।३८-३९ ।

(२८९) कच्चिन्न लोभान्मोहाद् वा विश्रम्भात् प्रणयेन वा ।
आश्रितानां मनुष्याणां वृत्तिं त्वं संरुणत्सि च ॥ सभा ५।८२ ।

(२९०) अनीकं ये प्रभिन्दन्ति भिन्नं ये स्थगयन्ति च ।
समानाशनपानास्ते कार्या द्विगुणवेतनाः ॥
दशाधिपतयः कार्याः शताधिपतयस्तथा ।
तेषां सहस्राधिपतिं कुर्याच्छूरमतन्द्रितम् ॥ शान्ति १०१।२७-२८ ।

(२९१) कृपणानाथवृद्धानां यदाश्रु व्यपमार्ष्टि वै ।
हर्षं संजनयन् नृणां स राज्ञो धर्म उच्यते ॥ शान्ति ९२।३४ ।

(२९२) धिक् तस्य जीवितं राज्ञो राष्ट्रे यस्यावसीदति ।
द्विजोऽन्यो वा मनुष्योऽपि शिबिराह वचो यथा ॥ शान्ति ६१।२९ ।

(२९३) दासीपुत्राः ये च दासाः कुरूणां तदाश्रया वहवः कुब्जखञ्जाः ॥
उद्योग ३०।३७ ।

(२९४) अन्धाश्च सर्वे स्थविरास्तथैव हस्ताजीवा वहवो येऽत्र सन्ति ॥
उद्योग ३०।३९ ।

(२९५) भुक्ताभुक्तं कृताकृतं सर्वमाकुब्जवामनम् ।
अभुञ्जाना याज्ञसेनी प्रत्यवैक्षद् विशांपते ॥ सभा ४८।४१ ।

(२९६) कच्चिदन्धांश्च मूकांश्च पंगून्व्यंगानवान्धवान् ।
पितेव पासि धर्मज्ञ तथा प्रव्रजितानपि ॥ सभा ५।११३ ।

(२९७) एप वृद्धाननाथांश्च व्यंगान्पंगूंश्च मानवान् ।
पुत्रवत् पालयामास प्रजा धर्मेण चाभिभो ॥ विराट ६५।१७ ।

भिक्षु

(२९८) न केनचिद् याचितव्यः कश्चित् किंचिदनापदि ।
इति व्यवस्था भूतानां पुरस्तान्मनुना कृता ॥
सर्वे तथा न जीवेयुर्न कुर्युः कर्मचेदिह ।
सर्व एव त्रयो लोका न भवेयुरसंशयम् ॥ शान्ति ८९।१५,१६ ।

(२९९) प्रभुर्नियमने राजा य एतान्न नियच्छति ।
भुङ्क्ते स तस्य पापस्य चतुर्भागमिति श्रुतिः ।
तथाकृतस्य धर्मस्य चतुर्भागमुपाश्नुते ॥ शान्ति ८९।१७ ।

(३००) आपद्येव तु याचेरन् येषां नास्ति परिग्रहः ।
दातव्यं धर्मतस्तेभ्यस्त्वनुक्रोशाद् दयार्थिनः ॥ वही १९ ।

(३०१) इष्टादातार एवैते नैते भूतस्य भावकाः ॥ वही २० ।

(३०२) दण्ड्यास्ते च महाराज धनादानप्रयोजनाः ॥ २२ ।

(३०३) एते वै साधवो दृष्टाः ब्राह्मणाः धर्मभिक्षवः ।
अस्वेभ्यो देयमेतेभ्यो दानं विद्याविशेषतः ॥ शान्ति १५९।२ ।

(३०४) भिक्षुकांश्चक्रिकांश्चैवक्षीवोन्मत्तान् कुशीलवान् ।
बाह्यान् कुर्यान्नरश्रेष्ठ दोषाय स्युर्हि तेऽन्यथा ॥ शान्ति ६९।४९ ।

(३०५) प्रयोगं कारयेयुस्तान् यथा बलिकरांस्तथा ।
कृषिगोरक्ष्य-वाणिज्यं यत्स्यार्त्किचिदीदृशम् ।
पुरुषैः कारयेत् कर्म बहुभिः सह कर्मिभिः ॥ शान्ति ८९।२२,२३ ।

जनजातियाँ

(३०६) मातापित्रोर्हि कर्तव्या शुश्रूषा सर्वदस्युभिः ।
आचार्यगुरुशुश्रूषा तथैवाश्रमवासिनाम् ॥

भूपालानां च शुश्रूषा कर्तव्या सर्वदस्युभिः ।
वेदधर्मक्रियाश्चैव तेषां धर्मो विधीयते ॥
अहिंसा सत्यमक्रोधो वृत्तिदायानुपालनम् ।
भरणं पुत्रदाराणां शौचमद्रोह एव च ॥
दक्षिणा सर्वयज्ञानां दातव्या भूतिमिच्छता ।
पाकयज्ञा महार्हाश्च कर्तव्याः सर्वदस्युभिः ॥
पितृयज्ञास्तथा कूपा प्रपाश्च शयनानि च ।
दानानि च यथाकालं द्विजेषु दद्युरेव ते ॥ शान्ति ६५।१७,१८, २०, २२ ।

अष्टम अध्याय

(३०७) कच्चिदभ्यस्यते शश्वद् गृहे ते भरतर्षभ ।
धनुर्वेदस्य सूत्रं च यन्त्रसूत्रं च नागरम् ॥ सभा ५।११० ।

(३०८) एवं स वसुधाराभिर्वर्षमाणो नृपाम्बुदः ।
तर्पयामास विप्रांस्तान् वर्षन्भूमिमिवाम्बुदः ॥ आश्रम २०।१० ।

(३०९) सुवर्णं रजतं चैव मणीनथ च मौक्तिकम् ।
वज्रान् महाधनांश्चैव वैडूर्याजिनरांकवान् ॥
रत्नराशीन् विनिक्षिप्य दक्षिणार्थे स भारत ॥ शान्ति १६५।१७-१८ ।

(३१०) आश्रमेषु यथाकालं चेलभाजनभोजनम् ।
सदैवोपाहरेद्राजा सत्कृत्यानवमन्य च ॥ शान्ति ८७।२५ ।

(३११) अतीत्य च नृपानन्यानादित्यकुलसंभवान् ।
मत्सकाशमनुप्राप्तावेतौ बुद्धिमवेक्ष्य च ॥
अद्य मे सफलं जन्म तारितं चाद्य मे कुलम् ।
अद्यायं तारितो देशो मम तार्क्ष्यं त्वयानघ ॥ उद्योग ११३।४,५ ।

(३१२) तेषु ते न्यवसन् राजन् ब्राह्मणा भृशसत्कृताः ।
कथयन्तः कथाः बह्वीः पश्यन्तो नटनर्तकान् ॥ सभा ३०।४८ ।

(३१३) इदमेव न चाप्येवमेवमेतन्न चान्यथा ।
इत्यूचुर्बहवस्तत्र वितण्डाना परस्परम् ॥
कृशानर्थांस्तथा केचिदकृशांस्तत्र कुर्वते ।
अकृशांश्च कृशांश्चक्रुर्हेतुभिः शास्त्रनिश्चितैः ॥
तत्र मेधाविनः केचिदर्थमन्यैः प्रपूरितम् ।
विचिक्षिपुर्यथा श्येना नभोगतमिवामिषम् ॥ सभा ३३।४-६ ।

नवम अध्याय

(३१४) समाजोत्सवसम्पन्नं सदापूजितदैवतम् ।
........तत्पुरं स्वयमावसेत् ॥ शान्ति ८७।१० ।

(३१५) भगवान् पूज्यते चात्र हास्यरूपेण शंकरः ॥ आदि ५७।२१ ।

(३१६) संप्रहर्षात्प्रददौ वित्तं बहु राजा महामनाः ।
वल्लवाय महारंगे यथा वैश्रवणस्तथा ॥ विराट १२।२५ ।

(३१७) प्रमत्तमत्तसंमत्तक्ष्वेडितोत्कृष्टसंकुला ।
तथा किलकिलाशब्दैर्भूरभूत् सुमनोहरा ॥
विपणापणवान् रम्यो भक्ष्यभोज्यविहारवान् ।
वस्त्रमाल्योत्करयुतो वीणावेणुमृदंगवान् ॥ आश्वमे ५८।१०-११ ।

(३१८) ते तात यदि मन्यध्वमुत्सवं वारणावते ।
सगणाः सानुयात्राश्च विहरध्वं यथामराः ॥
ब्राह्मणेभ्यश्च रत्नानि गायनेभ्यश्च सर्वशः ॥
प्रयच्छध्वं यथाकामं देवा इव सुवर्चसः ॥ आदि १३१।८,९ ॥

(३१९) केचिद्धर्मार्थसंयुक्ताः कथास्तत्र महाव्रताः ।
रेमिरे कथयन्तश्च सर्ववेदविदां वराः ॥ सभा ३३।७ ।

(३२०) एवं प्रमुदितं सर्वं पशुगोधनधान्यतः ॥
यज्ञवाटे नृपा दृष्ट्वा परं विस्मयमागमन् ॥ आश्वमे ८७।९ ।

(३२१) एवं बभूव यज्ञः स धर्मराजस्य धीमतः ।
बह्वन्नधनरत्नौघः सुरामैरेयसागरः ॥
सर्पिःपङ्का ह्रदा यत्र बहवश्चान्नपर्वताः ।
रसालकर्दमाः कुल्याः बभूवुर्भरतर्षभ ॥
भक्ष्यषाण्डवरागाणां क्रियतां भुज्यतामिति ।
...........नान्तस्तत्र स्म दृश्यते ॥ आश्वमे ९१।३६-३८ ।

(३२२) नाभुक्तवन्तं नाहृष्टं नासुभिक्षं कथंचन ।
अपश्यं सर्ववर्णानां युधिष्ठिरनिवेशने ॥ सभा ४८।३८ ।

(३२३) ततृपुः सर्ववर्णाश्च तस्मिन् यज्ञे मुदान्विताः ॥ सभा ३२।१८ ।

(३२४) ततोऽनन्तरमेवात्र सर्ववर्णान् महीपतिः ।
अन्नपानरसौघेन प्लावयामास पार्थिवः ॥ आश्रम ३०।११ ।

(३२५) अघोषयत्तदा चापि पुरुषो राजधूर्गतः ॥
सर्वरात्रिविहारोऽद्य रत्नाभरणलक्षणः ॥ आश्वमे ६९।१९ ।

(३२६) भक्ष्यतां भुज्यतां नित्यं रम्यतां गीयतामिति ।
पीयतां दीयतां चेति वाच आसन् गृहे गृहे ॥ आदि २०१।३० ।

(३२७) राजमार्गे नरा न स्म संभवन्त्यवनिं गताः ।
तथा हि सुमहद् राजन् हृषीकेशप्रवेशने ॥
आवृतानि वरस्त्रीभिर्गृहाणि सुमहान्त्यपि ।
प्रचलन्तीव भारेण दृश्यन्ते स्म महीतले ॥
तथा च गतिमन्तस्ते वासुदेवस्य वाजिनः ।
प्रनष्टगतयोऽभूवन् राजमार्गे नरैर्वृते ॥ उद्योग ८७।८-१० ।

(३२८) क्रियमाणेषु कृत्येषु कुमाराणां महात्मनाम् ।
पौरजानपदाः सर्वे बभूवुः सततोत्सवाः ॥
गृहेषु कुरुमुख्यानां पौराणां च जनाधिप ।
दीयतां भुज्यतां चेति वाचोऽश्रूयन्त सर्वशः ॥ आदि १०२।१३-१४ ।

(३२९) तामसस्याधमं स्थानं प्राहुरध्यात्मचिन्तकाः ॥ शान्ति ३०२।३ ।

(३३०) नृत्तवादित्रगीतानि प्रसंगा ये च केचन ।
सर्व एते गुणा विप्रा राजसाः संप्रकीर्तिताः ॥ आश्वमे ३७।१३ ।

(३३१) यत्सुखं सेवमानोऽपि धर्मार्थाभ्यां न हीयते ।
कामं तदुपसेवेत न मूढव्रतमाचरेत् ॥ उद्योग ३९।४७ ।

(३३२) तानि युक्त्या सेवेत प्रसंगो ह्यत्र दोषवान् ॥ शान्ति १३८।२६ ।

(३३३) न धर्मपर एव स्यान्न चार्थपरमो नरः ।
न कामपरमो वा स्यात् सर्वान्सेवेत सर्वदा ॥ आरण्यक ३४।३८ ।

(३३४) कच्चिदर्थेन वा धर्मं धर्मेणार्थमथापि वा ।
उभौ वा प्रीतिसारेण न कामेन प्रबाधसे ॥ सभा ५।९ ।

(३३५) कच्चिदर्थं च धर्मं च कामं च जयतां वर ।
विभज्य काले कालज्ञ सदा वरद सेवसे ॥ सभा ५।१० ।

(३३६) नटाश्च नर्तकाश्चैव मल्ला मायाविनस्तथा ।
शोभयेयुः पुरवरं मोदयेयुश्च सर्वशः ॥ शान्ति ६९।५८ ।

(३३७) ततस्ते ब्राह्मणाः सर्वे क्षत्रियाश्च सुविस्मिताः ।
वैश्याः शूद्राश्च मुदिताश्चक्रुर्ब्रह्ममहं तदा ॥ आदि १५२।१८ ।

(३३८) तत्र मल्लाः समापेतुर्दिग्भ्यो राजन्सहस्रशः ॥ विराट १२।१३ ।

(३३९) असकृल्लब्धलक्षास्ते रंगे पार्थिव-सन्निधौ ॥ वही १४ ।

(३४०) संप्रहर्षात्प्रददौ वित्तं बहु राजा महामनाः ।
वल्लवाय महारंगे यथा वैश्रवणस्तथा ॥ वही २५ ।

(३४१) ततो व्याघ्रैश्च सिंहैश्च द्विरदैश्चाप्ययोधयत् ॥ वही २७ ।

(३४३) नटा वेतालिकाश्चैव नर्तकाः सूतमागधाः ।
नियोधकाश्च देशेभ्यः समेष्यन्ति महाबलाः ॥ आदि १७५।१६।

(३४३) प्रीत्यर्थं ब्राह्मणाश्चैव क्षत्रियाश्च विनिर्जिताः ।
उपाजहुर्विशश्चैव शूद्राः शुश्रूषवोऽपि च ॥
प्रीत्या च बहुमानाच्च अभ्यगच्छन्युधिष्ठिरम् ।
सर्वे म्लेच्छाः सर्ववर्णाः आदिमध्यान्तजास्तथा ॥
नाना देशसमुत्थैश्च नानाजातिभिरागतैः ।
पर्यस्त इव लोकोऽयं युधिष्ठिरनिवेशने ॥ सभा ४८ ।

(३४४) तस्य नित्यं तथापाद्यां माघ्यां च बहवो द्विजाः ।
ईप्सितं भोजनवरं भन्ते सत्कृतं सदा ॥ १५ ।
विशेषतस्तु कार्तिक्यां द्विजेभ्यः संप्रयच्छति ।
शरद्व्यपाये रत्नानि पौर्णमास्यामिति श्रुतिः ॥ १६ ।

———

परिशिष्ट २

सहायक ग्रन्थ-सूची

महाभारत के संस्करण

१. दि महाभारत : भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, क्रिटिकल एडीशन।

२. श्रीमन्महाभारतम् (नीलकण्ठी टीकासहित) : चित्रशाला प्रेस, पुंणे।

३. महाभारत (हिन्दी अनुवाद सहित) : गीताप्रेस, गोरखपुर।

महाभारत सम्बन्धी ग्रन्थ

४. आन द मीनिंग आफ महाभारत : डा० वी० एस० सुकथनकर, एसियाटिक सोसाइटी आफ बम्बई, १९५७।

५. दि महाभारत—एनालिसिस एण्ड इन्डेक्स : राइस, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९३४।

६. दि महाभारत : ए क्रिटिसिज्म : सी० वी० वैद्य, कैम्ब्रिज एण्ड कं०, बाम्बे, १९०५।

७. भारतसावित्री : डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, प्रथम संस्करण, १९५७।

८. महाभारत में नारी : श्रीमती डा० वनमाला भवालकर, अप्रकाशित शोध-प्रबन्ध सागर विश्वविद्यालय, सागर, १९६१।

प्राचीन भारतीय राजशास्त्र के विशेष सहायक ग्रन्थ

९. कौटलीयार्थशास्त्रम् : मैसूर विश्वविद्यालयम्, मैसूर, १९६०।

१०. शुक्रनीतिसार : जीवानन्दविद्यासागर, कलकत्ता, प्रथम संस्करण, १८८२।

११. नीतिवाक्यामृत : सोमदेवसूरि (हिन्दी-सुन्दरलाल) प्रथम संस्करण, १९५०।

१२. हिन्दू राज्यशास्त्र : अम्बिकाप्रसाद बाजपेयी, प्रथम संस्करण, सम्वत् १९९८।

१३. प्राचीन भारतीय शासनव्यवस्था और राजशास्त्र : सत्यकेतु विद्यालंकार, प्रथम संस्करण, १९६०।

१४. पब्लिक ऐडमिनिस्ट्रेशन इन एन्शियंट इन्डिया : प्रमथनाथ बनर्जी, १९१६, मैकमिलन।

१५. स्टेट एण्ड गव्हर्नमेन्ट इन एन्शियंट इन्डिया : ए० एस० आलतेकर, १९४९।

१६. डेव्हलपमेंट आफ हिन्दू पालिटी एण्ड पालिटिकल थ्योरीज, पार्ट १, नारायणचन्द्र बन्द्योपाध्याय, १९२७, कलकत्ता।

१७. प्राचीन भारतीय शासन पद्धति : डा० आलतेकर, द्वितीय संस्करण, १९५९।
१८. हिन्दू पालिटी : काशीप्रसाद जायसवाल, कलकत्ता, बटरवर्थ एण्ड को०, १९२४।
१९. कौटिल्य : नारायणचन्द्र वन्द्योपाध्याय, कलकत्ता, ने० प० हा०, १९२७।
२०. ए हिस्ट्री आफ इण्डियन पोलिटिकल आइडियाज़ : यू० ए० घोषाल, द्वितीय संस्करण, १९५९।
२१. कारपोरेट लाइफ इन एन्शियंट इन्डिया : आर० सी० मजूमदार, द्वितीय संस्करण, १९२२।
२२. बौधायनधर्मसूत्रम्, काशी संस्कृत सीरीज़ (१०४), १९३४।
२३. आपस्तम्ब गृह्यसूत्रम्, काशी संस्कृत सीरीज़ (५९) १९२८।
२४. आपस्तम्बीयधर्मसूत्रम् : डा० जार्ज बूह्लर, तृतीय संस्करण, १९३२।
२५. वासिष्ठधर्मसूत्रम्—रेवरेन्ड ए० ए० फुहरेर, १९३०।
२६. कौटिल्य की राजव्यवस्था : डा० श्यामलाल, २०१३ विक्रम।
२७. मनु का राजधर्म : डा० श्यामलाल, २०१२ विक्रम।
२८. भीष्म का राजधर्म : डा० श्यामलाल, २०१२ विक्रम।
२९. मनुस्मृति : कचौड़ी गली, बनारस सिटी, सम्वत् २००४।

अन्य ग्रन्थ

३०. दि कान्सेप्ट आफ मैन : राधाकृष्णन् एण्ड राजू।
३१. रिलीजन एण्ड सोसाइटी : डा० राधाकृष्णन्, लन्दन, १९४७।
३२. दि मीनिंग आफ लाइफ इन हिन्दूइज़्म एण्ड बुद्धिज़्म : एफ० एच० रास, प्रथम संस्करण, १९५२।
३३. भारतस्य सांस्कृतिक निधि : डा० रामजी उपाध्याय, संस्कृत परिषद्, सागर।
३४. गीतारहस्य : तिलक, प्रथम संस्करण, पुंणे, १९१५।
३५. सोशल एण्ड रिलीजस लाइफ इन गृह्यसूत्राज़ : डा० वी० एस० आप्टे, द्वितीय संस्करण, १९५४।
३६. वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति : म० म० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, राष्ट्रभाषा प्रकाशन, बिहार, प्रथम संस्करण, १९६०।
३७. भारत में समाज कल्याण और सुरक्षा : डा० रघुराजगुप्त, चतुर्थ संस्करण, १९६१।
३८. इन्डियन इनहेरिटेंस : भारतीय विद्याभवन, १९५६, भाग २, ३।
३९. एवरी डे लाइफ इन एन्शियंट इन्डिया : पद्मिनी सेनगुप्त, प्रथम सं०, १९५०।
४०. इवोल्यूशन आफ मारल्स इन दि एपिक्स : डी० पी० वोरा, प्रथम संस्करण, १९५९।

४१. दि कल्चुरल हेरिटेज़ आफ इन्डिया : बेलूर, रामकृष्ण मिशन इन्स्टीट्यूट आफ कल्चर, भाग २, कलकत्ता, १९६२।
४२. दि प्रिंसिपल उपनिषदाज़ : डा० राधाकृष्णन्, १९५३।
४३. प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद : हजारीप्रसाद द्विवेदी।
४४. दि हिस्ट्री आफ एजूकेशन इन इण्डिया : वी० पी० बोकिल, प्रथम संस्करण।
४५. एजूकेशन इन एन्शियंट इण्डिया : डा० अ० स० आलतेकर, पंचम संस्करण, वाराणसी १९५७।
४६. हिन्दू सोशल आर्गनाइजेशन : पंढरिनाथ प्रभु, तृतीय संस्करण, पपुलर बुक डिपो, वाम्बे, १९५८।
४६. ओरिजिन एण्ड ग्रोथ आफ कास्ट इन इंडिया, भाग १ : एन० के० दत्त, दि बुक कम्पनी, लिमिटेड, १९३१।
४८. हिन्दूइज़्म एण्ड मार्डर्न साइंस; एम० ए० कामथ, शारदा प्रेस बंगलोर, १९५६।
४९. सोशल सर्विसेज़ इन इंडिया : हिज मजेस्टीज़ आफिस, लन्दन, १९४६।
५०. दि मार्डर्न वेलफेर स्टेट : मा० पी० ए० पारसेल, डबलिन क्लोमोर एण्ड रेनोल्ड्स, लिमिटेड, लन्दन, १९५३।
५१. कास्ट एण्ड क्लास इन एन्शियंट इण्डिया : जी० एस० घूरे, पपुलर बुक वाम्बे, १९५७।
५२. हिन्दूइज़्म : स्वामी निखिलानन्द, जार्ज अलेन एण्ड अनविन लि०, लन्दन, १९५९।
५३. आउटलाइन्स आफ हिन्दूइज़्म : टी० एम० पी० महादेवन, चेतना लि० वाम्बे, १९५६।
५४. भक्तिकाव्य के मूलस्रोत : पं दुर्गाशंकर मिश्र।
५५. इण्डिया एण्ड हर प्रावलम्ब्स : विवेकानन्द, चतुर्थ संस्करण, १९४६।
५६. अशोक : डा० भण्डारकर (हिन्दी अनुवाद)
५७. श्रीमद्भागवतम्–मूलमात्र–गीताप्रेस, गोरखपुर।
५८. हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, भाग १ से ६, म०म० पी० वी० काणे।
५९. भारतवर्ष का सामाजिक इतिहास : डा० वी० सी० पाण्डेय, प्रथम संस्करण १९६०।
६०. वैदिक साहित्य : पं० रामगोविन्द त्रिवेदी, प्रथम संस्करण, १९५०।
६१. भारतीय समाज विन्यास : डा० राधाकमल मुकर्जी, प्रथम संस्करण १९५७।
६२. नेशनल पालिसीज़ फार एजूकेशन, हेल्थ एण्ड सोशल सर्विसेज : डबलडे एण्ड को०, न्यूयार्क, १९५५।

६३. ए फिलासोफी आफ इण्डियन एकोनामिक डेवलपमेन्ट : रिचार्ड बी० ग्रेग, नवजीवन, अहमदाबाद, १९५८।
६४. दि काऊ इन आवर इकानमी : जो० का० कुमारप्पा, अ० भा० सेवा संघ प्रकाशन, राजघाट, काशी, १९५८।
६६. पुरुषार्थ : डा० भगवान दास, सस्ता साहित्य प्रकाशन, नई दिल्ली, १९५३।
६६. दर्शन का प्रयोजन : डा० भगवान दास, तृतीय संस्करण, १९५३।

कोषग्रन्थ

६७. दि स्टूडेन्ट्स इंग्लिस संस्कृत डिक्शनरी : वी० एस० आप्टे, तृतीय संस्करण, १९२०।
६८. अमरकोष, निर्णयसागर, १९४४।
६९. हलायुधकोष (अभिधान रत्नमाला सहित) सम्पादक—जयशंकर जोशी, सूचना विभाग, उत्तरप्रदेश, शकाब्द १८७९।
७०. शब्दकल्पद्रुम : स्यार राजा राधाकान्तदेव, चौखम्बा।

पत्रिकाएँ

७१. गुरुकुल पत्रिका वर्ष १४, अंक ६, जनवरी १९६२।
७२. अड्यार लाइब्रेरी बुलेटिन : ब्रह्मविद्या।
७३. कल्याण-मानवतांक, गीताप्रेस, गोरखपुर।
७४. साप्ताहिक हिन्दुस्तान, २१ जनवरी १९६२।
७५. पांचजन्य : समाज अंक, दीपावली, सम्वत् २०१५ विक्रम।
७६. मालवीय कोमेमोरेशन व्हालुम।
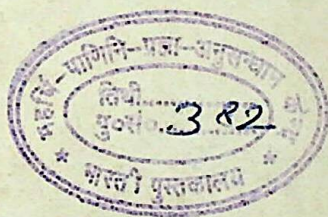
"प्र न दश अध्याय, जो शोधप्रबन्ध का मुख्य अंश हैं, रा
लोक कल्याण की योजनाओं का विश्लेषणात्मक विव
ते है तथा अन्तिम अध्याय बड़ी कुशलता से लेखक द्वा
गये निष्कर्षों का विवेचन करता है। मैं अभ्यर्थ
निष्पक्ष तथा वैज्ञानिक ढंग से निष्पन्न पाता हूँ। कु
प्रतीत हो सकता है कि प्रत्येक शीर्षक के भीतर समा
और अधिक विवेचन छात्र को करना उचित था, कि
कि ग्रन्थकार ने समस्त प्राप्य सामग्री का खूब अन्वेषण
ग्रन्थ में उसका समुचित उपयोग किया है। इससे शोधप्रबन्ध को एक श्लिष्ट तथा पठनीय स्वरूप मिला है। अन्तिम अध्याय में निकाले गये निष्कर्ष इसके प्रमाण हैं।"

—डॉ. परशुरामलक्ष्मण वैद्य एम. ए. डी. लिट्.

"अभ्यर्थी ने इन पर्वों में प्राप्य समस्त सामग्री का संकलन तथा वर्गीकरण किया है और धर्मसूत्र, स्मृति और अर्थशास्त्र सदृश प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों का अध्ययन किया है, जिनके आधार पर इस महाकाव्य में विद्यमान सूचनाओं का उपबृंहण तथा अनुपूरण किया है। इस प्रकार संकलित सामग्री का अभ्यर्थी ने युक्तियुक्त उपयोग किया है तथा ऐसे निष्कर्ष निकाले हैं जो विश्वसनीय हैं। प्रति उक्ति के लिये अभ्यर्थी ने प्रमाण प्रस्तुत किये हैं। इस प्रकार इनका ग्रन्थ पूर्णतः प्रामाणिक है।

महाभारत की, विशेषकर शान्तिपर्व की, विषयसामग्री का स्वर्गीय डॉ. अलतेकर सदृश अन्य विद्वानों ने उपयोग किया है, किन्तु इस विषय का यहीं पर प्रथम बार पूर्ण व्यापक विवेचन हुआ है। इस प्रकार अभ्यर्थी द्वारा प्रचुर नयी सामग्री प्रथम बार प्रकाश में लायी गयी है। इनके विचार सौम्य हैं तथा इनकी शैली स्पष्ट एवं सुव्यक्त है।"

—महामहोपाध्याय डॉ. वी. वी. मिराशी